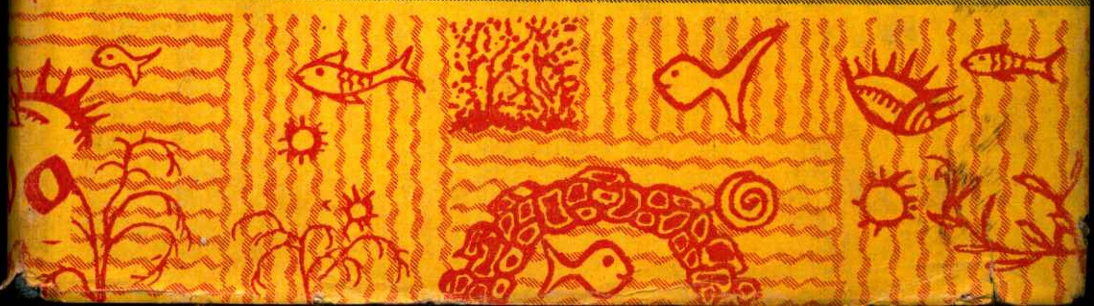


मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय



मध्यकालीन

हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठ भूमि

डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

साहित्य भवन प्रा० लि०
इलाहाबाद

मध्यकालीन

हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
एम० ए० (हिन्दी : संस्कृत) पीएच० डी०
हिन्दी, विभाग,
गवर्नमेण्ट कालेज, नैनीताल

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

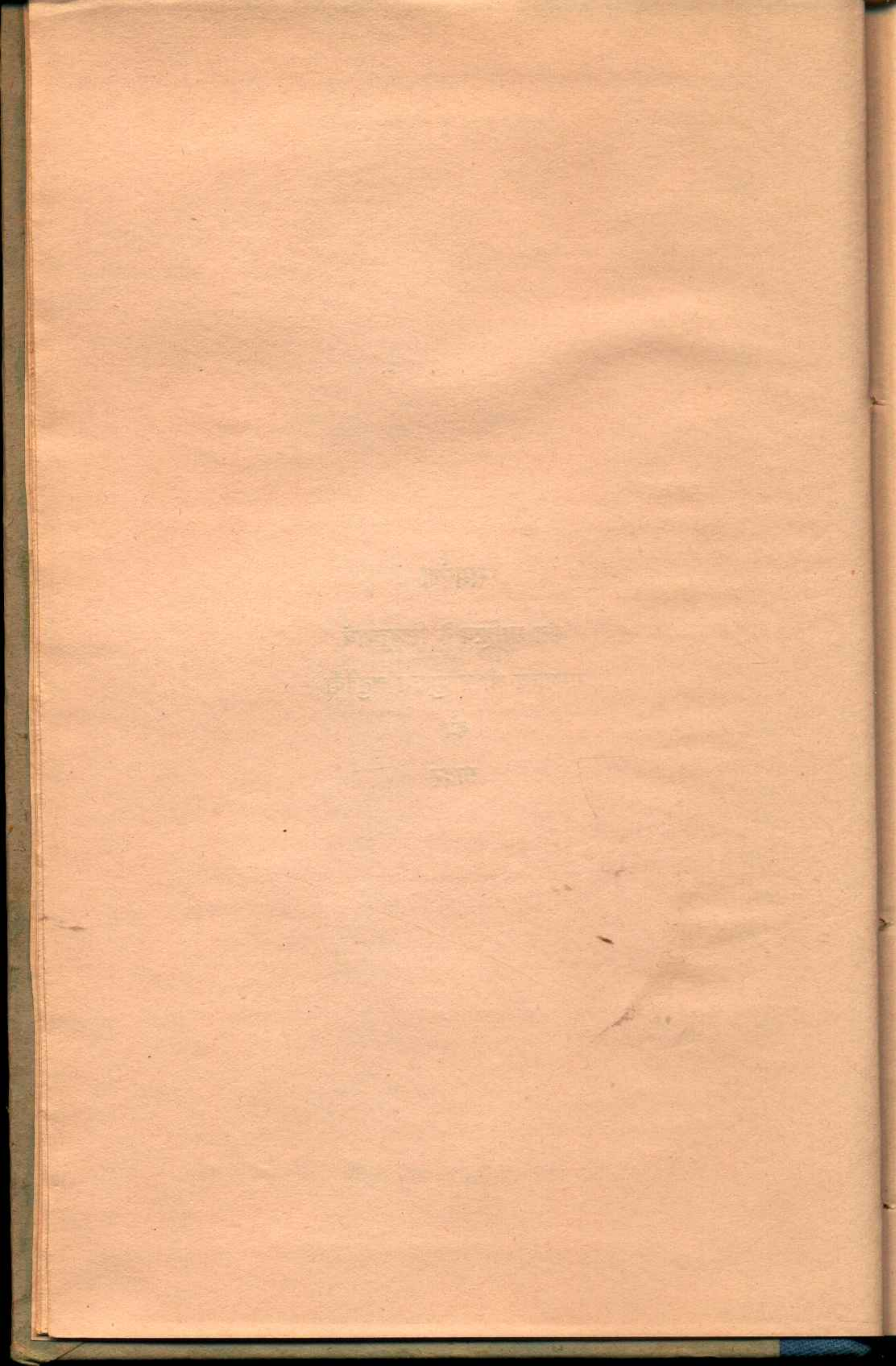
प्रथम संस्करण : १९६३ ईसवी

दस रुपया मात्र

मुद्रक—यू० पी० प्रिन्टिंग प्रेस, ४२, एडमॉन्स्टन रोड, इलाहाबाद ।

समर्पण

संत साहित्य के सिद्धाचार्य
सम्मान्य श्री परशुराम चतुर्वेदी
को
सादर



अनुक्रम

भूमिका

हिन्दी के मध्यकालीन संत एवम् वैष्णव काव्य को समझने के लिए इस देश के नाना-मतमतान्तरों और साधनाओं का ज्ञान परमावश्यक है क्योंकि काव्य में अभिव्यक्त किसी युग का 'बुद्धितत्व', पूर्ववर्त्ती चिन्तनधारा को बिना हृदयंगम किये हुए अस्पष्ट ही रहता है। काव्य एक संश्लिष्ट मानसिक-क्रिया है, उसमें कवि की चिन्तनधारा इतनी संकुल-पद्धति पर व्यक्त होती है कि उसके विश्लेषण के समय हमें आश्चर्य होता है; जब हम देखते हैं, कि कवि विशेष की 'अपने' वर्तमान के प्रति प्रतिक्रिया में भूतकाल का पर्याप्तमात्रा में सन्निवेश होता है। भूतकाल का यह प्रयोग, भूतकाल की पुनर्व्याख्या के रूप में भी हो सकता है और परंपरा के कुछ अंश को यथावत् स्वीकार करके भी हो सकता है। भविष्य सम्मुख न रहने से वर्तमान के समाधान के लिए प्राय: कवि और विचारक भूतकाल की ओर मुड़ते हैं। विशेषकर कवि में 'पूर्णता' की प्यास सबसे अधिक होती है। भूतकाल की अपूर्णता कवि के सम्मुख न होने से और वर्तमान में बुद्धि को चकराने वाले प्रश्नों के समाधान में भूतकाल के एक सीमा तक समर्थ होने से कविगण भूतकाल को केवल रोमानी दृष्टि से देखकर उसका गौरवगायन ही नहीं करते अपितु उनकी बौद्धिक-प्रतिक्रिया भूतकालात्मक हो जाती है। यह प्रवृत्ति हिन्दी के संतों और भक्तों के काव्य में सबसे अधिक दिखायी पड़ती है।

सूर-तुलसी, कबीर, नानक, दादू आदि कवियों का काव्य मुख्यत: साधनात्मक है। ये भक्त और साधक पहले थे, कवि बाद में। अत: सर्वप्रथम इस तथ्य का उद्घाटन इनके काव्य को समझने के लिए अनिवार्य होगा कि इन संतों और वैष्णवों की साधना का स्वरूप क्या है और चूँकि साधना और भक्ति के लिए 'सम्प्रदाय' आवश्यक थे; सम्प्रदाय अर्थात् साधना की प्रयोगशालाएँ; अतएव इन सम्प्रदायों अथवा प्रयोगशालाओं का विकास समझना आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि मध्यकालीन काव्य का मर्मोद्घाटन वही आलोचक सफलता-पूर्वक कर सके हैं जिन्हें तात्कालिक तथा पूर्ववर्ती सम्प्रदायों का सम्यक् ज्ञान था। मध्य-

कालीन काव्य में अभिव्यक्त चिन्तनधारा में शैवमत, शाक्तमत, पांचरात्रमत और तांत्रिक बौद्धमत ताने-बाने की तरह बुना हुआ है। कारण यह है कि पुराणों के प्रयत्न से परस्पर-विरोधी मतों, साधनाओं, देवी-देवताओं और आचार-विचारों में हिन्दी-काव्य के श्रीगणेश के पूर्व ही अंतर्भुक्ति स्थापित की जा चुकी थी। एक विराट राष्ट्र में नाना कबीलों, जातियों और वर्गों की संस्कृति पौराणिकों की दूर-दृष्टि के कारण मिल-जुलकर सतरंगी लहरों की तरह एक ही प्रवाह के रूप में बहने लगी थी। इसीलिए मध्यकालीन हिन्दी काव्य में जो कुछ पुराना है, उसमें अंतर्विरोध ढूँढ़ने के स्थान पर, उसके प्रति अटूट श्रद्धा ही नहीं, उसका अनुसरण ही जीवन का उद्देश्य माना गया है। जो आलोचना है, वह किसी नवीन जीवन-दर्शन अथवा समाज-दर्शन की प्रतिष्ठा करने के लिए नहीं है अपितु दुर्बलताओं को दूर करने के लिए है। परिणामत: मध्यकालीन काव्य में व्यक्त चिन्तनधारा और साधना का निर्माण जिन सूत्रों से हुआ है, उनकी पहचान के लिए इस पुस्तक में पाँच मतों का किंचित् विस्तार से वर्णन हुआ है। मेरा विश्वास यह है कि तंतुओं की पहचान के बिना वस्त्र की पहचान नहीं हो सकती। मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के परिधान में समवाय सम्बंध से स्थित नाना साधना-सूत्रों और चिन्तन-सूत्रों के स्वरूप को समझने के लिए इस काव्य की 'तांत्रिक पृष्ठभूमि' अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के चिन्तन और साधना को समझने के लिए ही, प्रस्तुत पुस्तक नहीं लिखी गई अपितु उक्त काव्य की 'कल्पना' और 'भाव' की दिशा, कल्पना के द्वारा लाये गए उपकरण, रूपों की सृष्टि, भाव के आधार तथा भाषा और अभिव्यक्ति के प्रकारों को समझने के लिए भी शैव-मत, शाक्तमत, पांचरात्रमत तथा तांत्रिक बौद्धमत का अनुशीलन आवश्यक है। इन सम्प्रदायों की बहुत-सी सामग्री विविध रूपों में तात्कालिक समग्र संस्कृति और कला में स्वीकृत हुई है। स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला तो इन्हीं सम्प्रदायों से प्रेरित हैं। परवर्ती युग में शिव-शक्ति अथवा करुणा-उपाय के आदर्श पर राधा-कृष्ण का चित्रण हुआ; कला और काव्य दोनों में यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है अत: संत-वैष्णव काव्य का 'अवचेतन' जिन तत्वों से बना था, उनमें उक्त सम्प्रदायों की बहुत-सी सामग्री भी मिलती है। उस सामग्री में परिवर्तन मिलता है, कहीं-कहीं वह इतने परिवर्तित रूप में हैं कि उसकी पहचान कठिन है, कहीं-कहीं साम्प्रदायिक जड़ता इस सामग्री का ऋण नहीं स्वीकार करना चाहती और कहीं-कहीं वह स्पष्ट

देखी जा सकती है अतः केवल काव्य के बुद्धितत्त्व की दृष्टि से ही नहीं अपितु उपमान, प्रतीक, भाव और कथन-पद्धति की दृष्टि से भी उक्त सम्प्रदायों का अध्ययन आवश्यक है।

किन्तु इन सम्प्रदायों को प्रकाशित करते समय यह कह देना आवश्यक है कि इनका धर्मं-दर्शन (Theology) की दृष्टि से भी महत्व है और जो सज्जन केवल इन्हीं सम्प्रदायों के अध्ययन में रुचि रखते हैं, उनके लिए भी इन में रोचक सामग्री मिल सकती है।

मुझसे इन निबन्धों को लिखते समय यह प्रश्न बार-बार पूछा गया कि अंततः काव्य के अध्ययन में यदि प्राचीन मत-मतान्तरों के इतने गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है तब काव्य-अनुशीलन और धर्म-दर्शन में क्या अंतर रह जाता है ? मेरा उत्तर है कि सीमाएँ आपकी बनायी हुई हैं। ज्ञान एक और अखंड है। यदि आपको कबीर को समझने के लिए धर्म-दर्शन पढ़ना ही पड़ता है तब काव्य का अनुशीलक यदि कबीर के काव्य को ध्यान में रखकर उन प्राचीन धार्मिक और दार्शनिक तत्वों की छान-बीन करे तो इसमें आपत्ति की बात क्या है ? हिन्दी में असम्बद्ध ज्ञान का अभाव नहीं है किन्तु इधर 'टू द प्वाइंट' के चक्कर में इतना उथलापन आया है कि भारी पोथों में भी कोई नवीन सूचना नहीं मिलती। 'नयी व्याख्या' और 'वैज्ञानिक व्याख्या' की आशा तो दुराशा में परिणत ही हो रही है।

इसके सिवाय मेरा दृष्टिकोण भी काव्य के अध्ययन के प्रति भिन्न है। मैं काव्य को किसी देश या जाति की समग्र संस्कृति का पुष्प मानता हूँ। वैज्ञानिक की तरह इस 'पुष्प' की पहिचान के लिए पुष्प के रंग, उसके प्रभाव आदि का वर्णन होना चाहिए। मैं भूमि की परीक्षा भी पुष्प-ज्ञान के लिए आवश्यक मानता हूँ अतः भूमि और भूमि में विकसित पुष्प, अथवा दूसरे शब्दों में समाज और समाज में विकसित काव्य—ये दोनों विषय मेरी दृष्टि से सम्बद्ध रूप में—एक साथ—आलोचना के विषय हैं।

इस दृष्टि से अध्ययन करने पर मध्यकालीन काव्य में केवल सुन्दर शब्द, अलंकार और रस ही नहीं मिलेंगे अपितु इस काव्य के प्रयोजन के रूप में कुछ ऐसी धाराएँ मिलेंगी जो तात्कालिक समाज को शीतल भी करती हैं और उसके समग्रतः हिताहित का भी लेखाजोखा प्रस्तुत करती हैं। आश्चर्य तब होता है जब,

ऐसी धाराएँ प्रागैतिहासिक काल से मध्यकाल तक एक अविच्छिन्न शृंखला के रूप में दिखायी पड़तीं हैं और कालक्रमानुसार लुकती छिपतीं, मार्ग बदलतीं और जल के गुण में परिवर्तन लातीं हुई, मध्यकालीन काव्य-प्रवाह में अपनी विशिष्टता की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए हमें प्रेरित करती हैं अतः यह भी आवश्यक हो जाता है कि शाक्तमत, शैवमत, पांचरात्रमत और तांत्रिक बौद्धमत के आदिम रूप को भी हम स्मरण रखें तभी हम इस प्रबल धारा का ऐतिहासिक योगदान निश्चित कर सकते हैं और इस धारा की सहायता से भारतीय समाज के विकास को भी हम समझ सकते हैं।

जिस प्रकार किसी एक कवि की कविता के अनुशीलन के लिए उसकी मानसिक-स्थितियों अथवा उसके अवचेतन की छान-बीन आवश्यक होती है, उसी प्रकार युग-विशेष का भी एक अपना अवचेतन होता है। मेरा निवेदन यह है कि मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रतिबिम्बित 'सामूहिक अवचेतन' के समझने के लिए जहाँ अन्य मतों और साधनाओं को विस्तार पूर्वक समझना आवश्यक है, वहीं इस कार्य के लिए आगम या तंत्र-धारा को समझना भी आवश्यक है। इसलिए इस पुस्तक के लिए मैं किसी क्षमा-याचना की आवश्यकता नहीं समझता।

शैवमत, शाक्तमत, पांचरात्रमत और तांत्रिक बौद्धमत अनार्य, अवैदिक, आगम, ब्राह्मणवादविरोधी, वाममार्गी, आदि नामों से अभिहित किया गया है। यह धारा उक्त सम्प्रदायों के रूप में संगठित होने के पूर्व किस रूप में प्रचलित थी, इस तथ्य पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। इससे प्राचीन और मध्य-कालीन युग शृंखलित और सम्बद्ध रूप में प्रतीत होने लगेगा।

पाश्चात्य इतिहासकार और पुरातत्त्ववेत्ता बहुमत से वैदिक आर्यों के भारत आगमन को १५०० ई० पूर्व में मानते हैं अर्थात् यह अंतिम सीमा है। आर्यों का आगमन धाराओं में माना जाता है! कुछ कबीले २००० ई० पूर्व में भी आ गए होंगे, शायद और भी पहले आर्यों के कुछ दल आए हों लेकिन १५०० ई० पूर्व के बाद में आर्य आगमन मानने पर भाषा और साहित्य के विकास को नहीं समझाया जा सकता।

इधर कुछ विद्वानों ने आर्य-आगमन की कथा को सर्वथा अप्रमाणित और कल्पित सिद्ध किया है। क्योंकि भाषाओं के अध्ययन के आधार पर यह भी सिद्ध हो सकता है कि आर्य भारत से पश्चिमी एशिया अथवा मध्य एशिया गए! अतः

ऐसे विद्वान यह मानकर चलते हैं कि आर्यों का आगमन प्रमाणित नहीं होता तब वैज्ञानिक दृष्टि यह है कि आर्य भारत में रहते थे और पश्चिमोत्तर प्रदेशों से उनका विस्तार पूर्व और दक्षिण की ओर हुआ। किन्तु अभी तक बहुमत से आर्यों का आगमन एक तथ्य माना जाता है।

कुछ विद्वान मिस्र, मैसोपोटामिया तथा एशिया के ध्रुवपश्चिमवर्ती देशों और द्वीपों में होने वाली खुदाई में प्राप्त सामाग्री से आर्य-आगमन को सिद्ध करते हैं किन्तु उसका समय ई० पूर्व० पाँच सहस्र वर्ष अथवा उससे भी पूर्व निर्धारित करते हैं। डॉ० हर्षे का कथन है कि मैसोपोटामिया के राज्य-निर्माता आर्य ही थे और असीरिया के असुरों द्वारा आक्रमणों से श्रान्त हो कर आर्य भारत आये ![1]

डॉ० हर्षे के अनुसार वेद-वर्णित मरीचि, भृगु, अत्रि, अंगिरा, वशिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस-दक्ष, तथा स्वयंभुव मनु—इन दस प्रजापतियों तथा आदित्य, अप्सरस, नाग आदि के उल्लेख पश्चिमी एशिया में मिलते हैं। उदाहरणत: मिस्र की प्राचीन जातियों के नाम सर्प, पतंग, गिद्ध, सरकण्ड, बाज़ जैसे जीवों और पौधों के नाम पर हैं। यह भी कहा गया है कि ३५६० ई० पूर्व में ये जातियाँ 'फैरो-राज्य' के रूप में संगठित हो गईं ! उधर पुराणों में भी कबीलों या जातियों के नाम पशु-पक्षियों आदि पर आधारित हैं यथा शश अत्रेय, उल वार्ष्णय, कपि; अज, पतंग आदि। चूंकि मिस्र की उक्त प्रागैतिहासिक जातियों का समय ५००० ई० पूर्व है अत: वेदों का समय भी यही मानना होगा, यह डा० हर्षे का कथन है।

इसके सिवाय डॉ० हर्षे एशिया माइनर के फ्रीजिया (Phrygia) से 'भृगु' का, ईराक के वार्क या उर्क (Warak or Uruk) से 'वृकसोम' का, ईराक के पेंजवान (Penjwan) से सुदास और वशिष्ठ का, फिलस्तीन का पुलस्त्य से, नीलनदी से 'कर्दम' का, और मध्य एशिया से स्वयंभुव मनु का सम्बंध जोड़ते हैं ! इसी प्रकार साइप्रस की 'रीशेफ' (RESHEF) मूर्त्ति से ऋषभदेव का, दजला-फ़रात से 'सरस्वती' का, ईरान के कावस प्रदेश से 'कावस ऐलूष' का, मैसो-पोटामिया प्रदेश से अगस्त्य और विश्वामित्र का, 'उर' (Ur) प्रदेश से उर्वशी का, यहोवा से ऋग्वेद के यहु, यह्वत तथा यह्वति का, तथा मिस्र देश से धन्वंतरि का

1 The Trails of the Vedic Civilization in the Middle-East R. G. Harshe—K. P. Bhatnagar Commemoration Volume. KANPUR, Page 165

सम्बंध स्थापित किया गया है। चाल्डियन स्रोत से जो सूर्य-सूक्त मिला है, वह वेद के सूर्य-सूक्त से यथावत् मिलता है, यह भी कहा गया है।

इस प्रकार डॉ० हर्षे ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारत में आने के पूर्व आर्य कबीले सुमेरिया में रहते थे और असीरिया के असुरों से परास्त होकर भारत आये। पुराणों में जिस देवासुर-संग्राम का वर्णन मिलता है वहाँ वस्तुतः सुमेरु-देश के आर्यों और असीरिया के असुरों के युद्ध की यादगार है!

उक्त शोध मुख्यतः शब्द-सादृश्य पर आधारित है, किन्तु केवल शब्दों के साम्य से इतिहास-निर्माण का प्रयत्न संदेहास्पद ही रहता है।

किन्तु एक तथ्य उक्त शोध से भी पुष्ट होता है कि आर्य विभिन्न क़बीलों में में संगठित थे क्योंकि भारत में आने पर भी उनके नाम टॉटमपरक रहे। इस तथ्य से हमारे विषय का घनिष्ठ सम्बंध है।

डॉ० हर्षे का अध्ययन अधिकतर शब्दसादृश्य पर आधारित है अतः सम्भावना कुछ भी हो, केवल सम्भावना को प्रमाण नहीं माना जा सकता। इस सम्बंध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य प्रो० बेडरिक ह्राज़नी ने किया है। उनका दावा है कि उन्होंने मोहनजोदड़ो की लिपि को पढ़ लिया है और इस लिपि के आधार पर उन्होंने पश्चिमी एशिया तथा सिंधु-घाटी के समाज और धर्म के विषय में कुछ सर्वथा नवीन सूचनाएँ दी हैं।

प्रो० ह्राज़नी के अनुसार सुमेर-अक्कादियन सभ्यता आर्य-सभ्यता नहीं थी।[1] ई० पूर्व ३००० से १६०० तक विकसित इस सभ्यता के विषय में उक्त लेखक ने बताया है कि सुमेर-प्रदेश में राज्य-निर्माण हो चुका था परन्तु क़बीलों में जनता विभाजित थी। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। मंदिरों में देवताओं और देवियों की पूजा होती थी। देवताओं में चन्द्र, पृथिवी, सूर्य, युद्धदेव आदि का उल्लेख मिलता है। डॉ० हर्षे यह नहीं देख सके कि प्रागैतिहासिक काल में क़बीला-व्यवस्था में देवताओं में भी सादृश्य मिलता है और क़बीलों के नामों में भी किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मिश्र और सुमेर के क़बीले आर्य क़बीले थे। जिस प्रकार वेद में श्रेष्ठ देवताओं में स्पर्धा है, उसी प्रकार सुमेर देश में भी 'मार्दुक' को बहुत संघर्ष के बाद श्रेष्ठ देवता माना गया।

---

1 Ancient History of Western Asia, India and Crete, Bedrich Hrozny. New york

यही नहीं, पिण्ड में ब्रह्माण्ड की कल्पना भारत से पूर्व सुमेर देश में मिलती है। उपनिषदों में जो यह कहा गया है कि देवताओं के अंश, शरीर बन जाने पर विभिन्न अंगों में प्रविष्ट होते हैं, यह विचार सुमेर प्रदेश में मिलता है। इसका तात्पर्य यह हैं कि इस प्रकार के विश्वास समान व्यवस्था में सर्वत्र मिलते हैं क्योंकि विश्वास व्यवस्था के अनुरूप ही कल्पित होते हैं।

परवर्ती त्रिदेव की तरह सुमेर अक्कादियन सभ्यता में आकाशदेव 'अन' या 'अनम' था। उसकी पत्नी थी 'अंतम'। पृथिवी का देवता था इंनलिल या इल्लिल, उसकी देवी थी, निनलिल। जल का देवता था इय या इन्की और उसकी पत्नी थी 'दमकिन'। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, रति आदि की पूजा भी होती थी। भारतीय पुरोहित की तरह यहाँ भी पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण था। यहाँ के विशाल पौराणिक साहित्य को देखकर यह कहना कि ये आर्य थे, अप्रमाणित तथ्य है। प्रो० ह्राज़नी भी सुमेर-सभ्यता को स्वतंत्र सभ्यता मानते हैं।

हमारे लिए महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सुमेर की 'इश्तर' नामक देवी अत्यधिक प्रबल थी। भारतीय शक्ति-पूजा से 'इश्तर पूजा' का अद्भुत सादृश्य मिलता है किन्तु प्रागैतिहासिक युग में शाक्त-पूजा सर्वत्र मिलती है। देवी को प्रेम और उपज का देवता माना जाता था और इसीलिए शाक्त-सम्प्रदाय की तरह इश्तर-सम्प्रदाय में 'भोग' के गुप्तसाधन और वेश्यावृत्ति प्रचलित रही। जादू का सम्बंध धर्म के प्रारम्भिक रूप में सर्वत्र मिलता है। तंत्रों के मंत्र,यंत्र की तरह सुमेर में भी मंत्रों और मंत्रों का प्रचार था। रोगनाश के लिए भूतविद्या का प्रचार अथर्ववेद की तरह यहाँ भी मिलता है। तांत्रिक सम्प्रदायों की तरह रहस्यमयता का सम्बंध भी उक्त आचारों के साथ था।

ह्राज़नी हिट्टायट या हत्ती जन के साथ आर्यों का सम्बंध स्वीकार करते हैं, सुमेर-निवासियों के साथ नहीं, यह स्मरणीय है। हत्तीभाषा भी अब भारोपीय परिवार की मानी जाती है। इस भाषा में धार्मिक ग्रन्थ मिले हैं जिनमें धारणी, प्रार्थनाएँ, जादू के मंत्र तथा गीत मिलते हैं। यज्ञों का वर्णन भी मिलता है। उक्त लेखक इन धार्मिक ग्रन्थों का समय ईसा पूर्व १६०० वर्ष मानते हैं। हत्तीभाषा भाषियों के सिवाय 'हुरियन' भी शायद आर्य थे। इनके यहाँ वैदिक देवों के उल्लेख मिलते है। ह्राज़नी के अनुसार १६०० ईसा पूर्व के आसपास एशिया का पश्चिमी-भाग आर्यों का क्षेत्र था। इस काल में आर्य उत्तरी मैसोपोटामिया तक फैल गए थे। अश्वपालन और रथ-दौड़ों के उल्लेख हत्तीभाषा में मिलते हैं। ह्राज़नी के

अनुसार ई० पूर्व ४००० से ३००० तक अश्व का उल्लेख नहीं मिलता। इनके अनुसार यह सम्भव है कि ई० पूर्व० ३००० से २००० के बीच कभी हिट्टायट प्रदेश से आर्यों ने भारत के पश्चिमीभाग पर अधिकार कर लिया हो और बाद में आर्यों के प्रवाह आते रहे हों। इस प्रकार ह्राज़नी के अनुसार प्रारम्भिक आर्यों का आदि स्थान सीरिया, पूर्वी एशिया माइनर तथा उत्तरी मैसोपोटामिया था !

इन हत्ती लोगों या प्रारम्भिक आर्यों में १००० देवता थे ! सूर्यदेव पूज्य थे, इनका बलिपशु था वृषभ। वीरता का देवता 'इनर' या 'इनरश' था, इसीसे शायद 'इन्द्र' का विकास हुआ। अर्थात् वेद भारत में लिखे गए किन्तु उनके पूर्व आर्यों के देवता थे, उन्हीं से भारतीय देवताओं का विकास हुआ।

सिन्धुघाटी की लिपि पढ़कर ह्राज़नी ने सिद्ध किया है कि सिन्धुसभ्यता में में आर्य सभ्यता का 'पूर्वरूप' मिलता है अर्थात् प्रारम्भिक आर्यों का सम्बंध मोहन-जोदड़ो की सभ्यता से भी था ! सील नं० ८६ में उक्त लेखक ने 'नाट्य' शब्द पढ़ा है जिसका स्पष्ट अर्थ 'नटराज' से है। 'व्रात्य' शब्द का भी उल्लेख मिलता है ! व्रात्य का अर्थ था दिव्य पक्षी या ऋषि। ह्राज़नी के अनुसार संस्कृत भाषी आर्यों के लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व ही सिंधु-सभ्यता अनेक 'प्रोटो-इंडियन' देवताओं को मान चुकी थी।

सिंधु सभ्यता में कोशी, कुशी, कुशि, कुशिश या कुशीय देवता का उल्लेख मिलता है। इसी तरह शंकुन्त्य, शकुनि (पक्षी) तथा ययश (yayash) के उल्लेख हैं। ययश वन्य पशुओं से सिंधुवासियों की रक्षा करता था। नं० ६२ के चित्र में एक 'यंत्र' मिलता है, दूसरे पार्श्व पर वृक्ष-पूजा दिखायी गई है। पीपल का वृक्ष भी अंकित मिला है, जिस पर देवता का निवास है। एक पानी का जहाज़ या बड़ी नौका मिलती है जिसके साथ नाविक भी है। दो पगचिह्न मिलते हैं जो 'विष्णु के पगचिह्नों' का स्मरण दिलाते हैं। यह स्मरणीय है कि विष्णु द्वारा विश्वमाप का यह प्रतीक उत्तरी मैसोपोटामिया में १६३८ ई० में मिल चुका है और इसका समय २६०० ई० पूर्व है ! ह्राज़नी के अनुसार yayash का अर्थ है, 'यात्रा' अर्थात् विष्णु की यात्रा से 'ययश' का सम्बंध स्थापित किया गया है।

सिंधु की की घाटी में प्रसिद्ध पशुपति की योगमग्न मुद्रा भी अंकित मिलती है। पशुपति की सील पर लिखा है—

"Here is the Sacrificial fee for god kueya"

इसी प्रकार शिव की पत्नी दुर्गा का भी उल्लेख मिलता है—जो सिंहवाहिनी है। शिव के साथ हाथी भी मिलता है, गणपति का प्रारम्भिक रूप शायद यही है।

एक अन्य ताबीज पर शिया (Shiya) देवी का उल्लेख मिलता है। इसमें देवी चित लेटी हुई है और उसके पेट से एक पौधा निकल रहा है। इसी ताबीज की पीठ पर एक मनुष्य एक स्त्री की बलि दे रहा है। प्रो० ह्राज़्नी ने प्राचीन शाक्तमत के विषय में स्पष्ट लिखा है—स्त्री की बलि और शेरवाहिनी दुर्गा से यह स्पष्ट है कि देवी को बलि दी जाती थी और यह देवी रक्त - प्रिया और भयंकर थी। एशिया माइनर में भी इस देवी का सम्प्रदाय प्रबल था ! देवी से भयभीत व्यक्ति ताबीजों पर स्वस्तिक चिह्न बनाते थे। शिया या शिवा देवी का प्रतीक योनि था ! देवी पर खरगोश की भी बलि दी जाती थी।

सिंधु - घाटी में एक उसहिश या उषा का भी उल्लेख मिलता है। इसी तरह एक अंकुश या अंकु देवता का उल्लेख है जो वेद के आदित्य से सादृश्य रखता है ?

इस प्रकार प्रारम्भिक आर्य - देवताओं का आदिस्रोत हत्ती - जन के देवताओं को माना गया है। हत्तीदेव yae यइ ही विष्णु हुए, कुयेयश ही शिव बने और शन्ताश (Shantash) ही इन्द्र के रूप में विकसित हुए। डॉ० हर्षे के विपरीत प्रो० ह्राज़्नी ने प्रमाणित किया है कि बेबीलोन के देवताओं का प्रारम्भिक आर्य - देवताओं पर प्रभाव पड़ा था !

इस प्रकार ह्राज़्नी के अनुसार ३००० ई० पूर्व के आसपास एशिया माइनर, उत्तरी सीरिया तथा उत्तरी पश्चिमी मैसोपोटामिया से सिंधु - घाटी में आकर लोग बस गए होंगे। उसके बाद २००० ई० पूर्व, द्रविड़ों का आक्रमण सिंधु की घाटी पर हुआ होगा और तत्पश्चात् वैदिक आर्यों का आक्रमण हुआ होगा जिन्होंने द्रविड़ों और अन्य सिंधुवासियों को दस्यु कहा।

यदि प्रो० ह्राज़्नी सिन्धु - लिपि को पढ़ सके हैं और उन्होंने पढ़ने में भूल नहीं की है तब पश्चिमी एशिया में प्रारम्भिक आर्यों का सम्बंध और प्रारम्भिक आर्यों और परवर्ती वैदिक आर्यों का सम्बंध स्पष्ट हो जाता है।

किन्तु यदि प्रो० ह्राज़्नी के लिपिज्ञान को अभी पूर्ण न भी माना जाय तो भी सिन्धु - घाटी के पुरातत्व से इतना स्पष्ट है कि सिन्धु घाटी में चाहे कुछ

वैदिक आर्यों के देवताओं से सादृश्य हो लेकिन मूलतः सिन्धु - घाटी का धर्म और पूजा वैदिक आर्यों से भिन्न थी।

सिन्धु घाटी में शिव और शक्ति की उपासना, मंत्र, वृक्षपूजा, नागपूजा, बलि, यंत्र आदि की प्रमुखता है अर्थात् इसे हम 'प्रारम्भिक भारतीय धर्म' कह सकते हैं किन्तु वेदों में यज्ञों की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त पुरुष देवताओं की प्रधानता है, देवियाँ वहाँ इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं। अतः विजेता आर्य - जनों की जिस प्रकार शस्त्र कला भिन्न थी, संगठन भिन्न था, इसी प्रकार उनका धर्म भी पर्याप्त भिन्न था। देवताओं का सादृश्य अवश्य मिल सकता है परन्तु वैदिक यज्ञ और देवतावाद को आर्य सर्वथा 'अपना' मानकर उसपर गर्व करते थे।

ऋग्वेद का देवतावाद पुरुष प्रधान है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि प्राचीन - तर मातृसत्तात्मक व्यवस्था को आर्य क़बीले पीछे छोड़ चुके थे यों उनमें मातृसत्ता-त्मक व्यवस्था के अवशेष अवश्य मिलते हैं। यह भी प्रमाणित होता है कि कतिपय क़बीलों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था का कुछ अधिक प्रचलन था किन्तु 'समग्रतः' वैदिक क़बीलावाद पितृसत्तात्मक था। इसके विपरीत सिन्धु घाटी की सभ्यता में शक्तिपूजा के प्रमाण अधिक मिलते हैं अतः यह सम्भव है कि मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता में मातृसत्तात्मक व्यवस्था की मात्रा अधिक हो किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्राग्वैदिक युग में जादू, मंत्र, तंत्र, शक्तिपूजा, बलि, योग आदि का प्रचार अनार्य क़बीलों में अति प्राचीन काल से चला आ रहा था। ऋग्वेद का धर्म इससे भिन्न है क्योंकि वह यज्ञपरक और पुरुष देवतावादी है।

ऋग्वैदिक युग स्पष्टतः क़बीला-युग था क्योंकि वैदिक युग में टॉटेमपरक नाम बहुत मिलते हैं। स्वयं वैदिक संहिताओं के नाम टॉटेमपरक हैं—शाकल (सर्प), मांडूक्य (मेढ़क) शार्दूल्य (शेर), तैतरीय (तीतुर), वाराह (शूकर), छागलेय (बकरा) आदि। इसी प्रकार ऋषियों के नाम भी अधि-कांशतः टॉटेमपरक हैं। प्रश्न यह है कि वैदिक क़बीलावाद का आर्थिक आधार क्या था ? इस विषय में विवाद है किन्तु प्रारम्भिक वेदों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि पशुचारण-प्रधान ही यह व्यवस्था थी जिसमें कृषि प्रारम्भिक सोपानों में पशुचारण - व्यवस्था की सहायक बनी और उत्तर - वैदिककाल में कृषि-उत्पादन प्रमुख हो गया। पशुचारण - व्यवस्था में क़बीलों के मुखिया 'राजा' होते थे और कृषि - उत्पादन - व्यवस्था में अर्थात् उत्तर वैदिक काल में अनेक क़बीलों के स्थायी रूप से बस जाने पर और क़बीलाई - समता के विशृङ्खल होने पर 'राज्य - व्यवस्था' का विकास

हुआ और ऋग्वेद के आर्य और दस्यु तथा बाद में 'आर्य और शूद्र'— इन वर्गों के स्थान पर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गों का विकास हुआ। क़बीलों के रूप में संगठित आर्यों में वर्ग - वैषम्य का विकास हुआ किन्तु इसके साथ ही क़बीला - व्यवस्था से अधिक प्रगतिशील कृषि - व्यवस्था और राज्य व्यवस्था का विकास हुआ जिसमें नाना क़बीले नये वर्गों में विभाजित होकर एक राष्ट्र के रूप में विक - सित हो रहे थे। संक्षेपतः ऋग्वैदिक युग से लेकर उत्तर वैदिक काल तक अर्थात् महाकाव्यों के युग से पूर्व तक यही उक्त सामाजिक विकास हुआ और इसी अवधि में वैदिकधर्म और तांत्रिकधर्म का समानान्तर विकास के साथ साथ, परस्पर - प्रभाव- ग्रहण भी हुआ।

ऋग्वेद के मत्र अधिकतर पुरुष - देवताओं को संबोधित किये गए हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस वेद में देवियों का कुछ भी महत्व नहीं है। अंततः पितृसत्तात्मक व्यवस्था में प्राचीन मातृसत्तात्मक व्यवस्था सर्वथा विस्मृत हो नहीं सकती थी। इसके सिवा अनार्य आदिवासियों का भी प्रभाव रहा होगा। अतएव ऋग्वेद के परवर्ती दशम मंडल में प्रसिद्ध 'वाग्देवी' के मंत्र हैं जिनमें शक्ति नारी रूप में वर्णित है। शाक्त इसी देवी को सर्वाधिक महत्व देते हैं। इसी सूक्त में वाणी के चार रूप — परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, मिलते हैं। इसके सिवाय, दशम मंडल में ही 'शची' का वर्णन प्राप्त है। यह मांस, मदिरा और मैथुन की अभिला - षिणी देवी है। यहाँ शिव - शक्ति का रूप इन्द्र - और शची के रूप में मिलता है। इनके सिवा सिनीवाली, श्रद्धा, सूर्या, सरमा, इला, रुद्र - पत्नी, महिलुषी और भारती आदि देवियों के उल्लेख भी मिलते हैं। दशम मंडल में एक पूरा 'गो' सूक्त मिलता है। इसी वेद के रात्रिसूक्त से शाक्त 'काली' का सम्बंध जोड़ते हैं। इसके सिवाय रुद्र, अहिर्बुध्न्य, और भग तांत्रिक देवताओं के पूर्वरूप हैं।

निश्चित रूप से उक्त सूक्तों से परवर्ती तांत्रिकों ने प्रेरणा प्राप्त की है परन्तु तंत्रों का मुख्य स्रोत अथर्ववेद रहा है। यह स्मरणीय है कि अथर्ववेद को उत्तर- वैदिककाल में भी अन्य तीन वेदों जैसा सम्मान प्राप्त नहीं हो सका।

अथर्ववेद के विशेषाज्ञ श्री एन० जे० शिन्दे के अनुसार अथर्ववेद के ऋषि भिन्न परंपरा के थे।[1] अथर्ववेद का ऋषि तपस्या और तांत्रिक क्रियाओं द्वारा 'शक्ति-

(1) The Foundations of the Athervanic Religion—N. J. Shende, Mysore

प्राप्त' में विश्वास करता था। अथर्ववेद का ऋषि पुरोहित, जादूगर, वैद्य और द्रष्टा होता था। प्रश्न यह है कि जादू और अभिचार-प्रधान अथर्ववेद शुद्ध आर्य-परंपरा में विकसित हुआ अथवा अथर्ववेदियों ने अनार्य आदिवासियों से ज्ञान उधार लिया। श्री शिन्दे का कथन है कि अथर्व केवल अनार्यों से ही नहीं ग्रहण किया गया क्योंकि जादूगीरी या यातु-विद्या आर्यों में भी प्रचलित थी किन्तु यह श्री शिन्दे भी मानते हैं कि यातु-विद्या और अभिचार अनार्यों से भी ग्रहण किया गया होगा क्योंकि ग्रामों में अनार्य पुरोहितों को प्रभाव क्षीण करने का एक मात्र ढग था, उनके ज्ञान-क्षेत्र में उनसे भी अधिक प्रवीणता प्रदर्शित करना। वस्तुतः अथर्ववेद में एशिया माइनर, मिस्र, मैसोपोटामिया और सिंधु घाटी में प्रचलित आदिम अथवा प्राग्वैदिक विश्वासों को स्वीकार कर लिया गया है जो मुख्यतः यातुविद्या और अभिचार-प्रधान था और जिसमें बलि, योग शक्तिपूजा आदि का अधिक प्रचार था अतः तांत्रिक धर्मों का आदि स्रोत प्राग्वैदिक आदिम कबीला-व्यवस्था में देखा जा सकता है। यही कारण है कि आर्यों द्वारा वर्गवादी सभ्यता की स्थापना का प्रारम्भ से ही इस तांत्रिक धारा ने विरोध किया है और ईसा की द्वितीय शताब्दी के बाद जब वर्गवादी सामाजिक व्यवस्था के अंतर्विरोध बहुत तीव्र हो जाते हैं, तब यह तांत्रिक धारा शैवमत, शाक्तमत, पांचरात्रमत और तांत्रिक बौद्धमत के रूप में संगठित होकर वर्गवाद और वर्णवाद का घोर विरोध करती है अतः वैदिकयुग में अथर्ववेद प्राग्वैदिक अथवा अनार्य विश्वासों का प्रतिनिधित्व करता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि अथर्ववेद की स्वीकृति के लिए बहुत से ऋग्वेद के मंत्र अथर्ववेद में मिला दिए गए हैं।

अथर्ववेद में यातु-विद्या, अभिचार, कृत्या आदि के अतिरिक्त, जिनका तंत्रों में विकास हुआ, तांत्रिक-दर्शन की कतिपय धारणाएँ भी मिलती हैं। यहीं सर्वप्रथम पिण्ड और ब्रह्माण्ड, गुह्यज्ञान, गूढ़ कामतत्व, प्राणतत्व और कालतत्व का विस्तार से वर्णन मिलता है। तंत्र और आगम भक्ति के भी स्रोत हैं और यह भक्तितत्व वस्तुतः देवता को क्रिया द्वारा प्रसन्न करने की क्रियाओं में निहित है। भक्ति के भी दो रूप दिखायी पड़ते हैं—प्रथम में क्रियाओं और मंत्रों द्वारा देवता को वरदान या सिद्धि के लिए विवश कर दिया जाता है और द्वितीय में देवता की 'कृपा' पर निर्भर रहना पड़ता है। मध्यकालीन भक्ति में केवल देवता की कृपा या अनुग्रह पर ही बल दिया गया है जबकि अथर्ववेद में और प्राग्वैदिक धर्मों में वह प्रथम प्रकार की 'भक्ति' से मिश्रित रूप में मिलती है। इसी प्रकार तंत्रों में 'मंत्रशक्ति' का महत्व

सर्वाधिक है और मंत्र का चमत्कार सबसे अधिक अथर्ववेद में ही दिखाई पड़ता है। कौशिक गृह्यसूत्रों में इसी शक्ति का विकास मिलता है।

अथर्ववेद में राक्षसों अर्थात् अनार्यों की 'माया' का वर्णन अधिक है। 'अभिचार' से अनार्यों का विशेष सम्बंध जान पड़ता है। अभिनवगुप्त ने 'तंत्रालोक' में तंत्रों की परंपरा में अनेक निशाचरों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार यक्ष और दानव भी तंत्रवेत्ता थे।[1] तंत्रों के नामों से भी लगता है कि यह शास्त्र अवैदिक परंपरा से पोषित हुआ है। 'मातंगतंत्र' और 'निशाचरतंत्र' जैसे नाम इसीलिए स्वीकार किये गए हैं। चूंकि तंत्रों में ज्ञान-साधना और भक्ति के अतिरिक्त भौतिक ज्ञान पर भी बल दिया गया है; रसायनशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद और शरीरशास्त्र तांत्रिक-परंपराओं में ही विकसित हुए हैं और असुरों, राक्षसों आदि में भौतिक-ज्ञान अधिक विकसित था अत: इस दृष्टि से भी तांत्रिक परंपरा आर्य परंपरा से कहीं अधिक अनार्य-परंपरा की अधिक ऋणी है। अथर्ववेद में स्पष्टत: कहा गया है कि ओषधि को आसुरी माया ने उत्पन्न किया है।[2] जिसे 'ब्लैकमैजिक' कहा जाता है, उसके स्रोत भी अनार्य-परंपरा में अधिक मिलते हैं। सर्वप्रथम अथर्ववेद ने इसे स्वीकार किया और बाद में आर्य-परंपरा में भी इसका अभ्यास किया गया फिर भी अथर्ववेद की परंपरा में तांत्रिक परंपरा का इस 'ब्लैकमैजिक' पर विशेषाधिकार रहा।

अथर्ववेद में माया या जादू की इतनी प्रधानता है कि श्री एन० जे० शिन्दे तो ब्रह्म के साथ माया का सम्बंध जोड़ने में अथर्व-परंपरा का ही प्रभाव मानते हैं। ब्रह्म अपनी माया से ही यह सृष्टि रचता है और माया द्वारा ही शासन करता है। आगे चलकर अथर्ववेद की यह माया या जादू का सम्बंध वेदान्तियों ने अपने 'ब्रह्म' से जोड़ कर 'मायावाद' का प्रवर्तन किया और भक्तों ने विष्णु या शिव की एक शक्ति के रूप में इस 'माया' को स्वीकार कर लिया। कृष्ण की 'योगमाया' प्रसिद्ध है! इस प्रकार एक आदिम विश्वास ही बाद में 'मायावाद' के रूप में विकसित हुआ।

इसके सिवाय अथर्ववेद में परावाक् का विस्तृत वर्णन मिलता है। यदि सायण का भाष्य स्वीकार किया जाय तो वाणी विषयक सम्पूर्ण तांत्रिक ज्ञान यहीं सुरक्षित मिलता है।

---

(१) तंत्रालोक—३६ आह्निक—पृष्ठ ३८२-८८

(२) अथर्व०—काण्ड १, अनुवाक ५ सूक्त ३ और मंत्र ४

यह तो स्पष्ट ही है कि अथर्ववेद की यातुविद्या और अभिचार में पंचत्रय अथवा पंचमकार का प्रयोग होता था और यही प्रवृत्ति तंत्रों में मिलती है ।

यही नहीं तांत्रिकों की प्रसिद्ध 'चक्रसाधना' का भी स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में मिलता है जो आगे चल कर 'तांत्रिकयोग' की विशिष्टता बन गई । यह स्मरणीय है कि यह 'चक्रयोग', पतंजलि के 'योगशास्त्र' में नहीं मिलता । चक्रयोग का विकास तांत्रिकों की विशिष्टता है जो आगे चल कर गोरखनाथ द्वारा प्रचारित होकर, नाथों के माध्यम से सन्तकवियों तक पहुँचा—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्यय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषा वृत: ।

आठ चक्र और नौ द्वार वाली देवताओं की अर्थात् इन्द्रियों की यह अयोध्या-पुरी है, उसमें हिरण्यमय स्वर्गप्रद कोश ज्योति से आवृत है ।

'योग' का भी स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में मिलता है—

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते ।
सेदीशे यस्य रम्बतेन्तरा सक्थ्यो ३कपृद विश्वस्मादिन्द उत्तर: ।[१]

मंत्र का भाव यह है कि आसन लगा कर बैठने वाला वही योगी सफल होता है जिसका रोम भी चंचल न हो !

यह भी स्मरणीय है कि अथर्ववेद में व्रात्य तपस्वियों और योगियों की अत्यधिक प्रशंसा की गई है ।

तंत्र की उत्पत्ति पर 'लोकायत' नामक ग्रन्थ में श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने विस्तार से प्रकाश डाला है । 'लोकायत' में भारतीय भौतिकवाद के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया गया है क्योंकि भारतीय दर्शनों पर लिखने वाले लेखक अधिकांशत: आदर्शवादी (आइडियलिस्ट) रहे हैं अत: उन्होंने भारतीय भौतिकवाद को महत्व ही नहीं दिया, उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करके चार्वाक और अन्य लोकायतों की घोर निन्दा की है । 'लोकायतमत' के अतिरिक्त श्री देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने तांत्रिक धारा को भी भौतिकवादी धारा के रूप में स्वीकार किया है ।

तांत्रिकधारा की उत्पत्ति श्री चट्टोपाध्याय ने प्रारम्भिक कृषि - व्यवस्था के साथ सम्बद्ध की है । समाजशास्त्र और नृविज्ञान के अनुसार कृषि का आरम्भ

(१) अथर्व०—काण्ड २०, अनुवाक ६ सूक्त ३ मंत्र १७

स्त्रियों द्वारा हुआ क्योंकि पुरुष आखेट करता था तब स्त्रियाँ घर के आस पास अन्न के पौधे उगा लेती थीं, अथवा स्वयं उगे हुए पौधों की रक्षा करतीं, फसल पकने पर उनकी बालें तोड़तीं और दाने निकालती थीं। तांत्रिक धर्म में स्त्रियों की प्रधानता है, स्त्री शक्ति की ही पूजा होती है और 'शक्ति' ही वहाँ सर्वस्व है अतः श्री चट्टोपाध्याय का अनुमान है कि तांत्रिक धर्म प्रारम्भिक कृषि के समय से चला आ रहा है।

किन्तु इस सम्बंध में मेरा निवेदन यह है कि तंत्रों में केवल कृषि-सम्बंधी आचार ही नहीं हैं। वस्तुतः तंत्रों में 'मुक्तयौन सम्बंध' और नियमों के विरुद्ध जाने की प्रवृति अधिक है। इससे यह स्पष्ट है कि आदिमसाम्यवादी व्यवस्था की यादगार तंत्रों में सुरक्षित चली आई है और वर्गों, वर्णों और जातियों में विभाजित समाज के विरुद्ध तंत्र कबीलाई समता और स्वच्छन्दता के प्रचारक हैं। कबीलाई व्यवस्था में किस सोपान से तांत्रिकधर्म निकला, यह कहना कठिन है क्योंकि इतने प्राचीन युग का अनुमान ही सम्भव है।

श्री चट्टोपाध्याय का मत है कि सामाजिक विकास में मातृ-प्रभुत्व दो सोपानों में दिखायी पड़ता है। प्रारम्भिक आखेट-अवस्था में मातृ-प्रभुत्व था, तब नारी पुरुष के साथ मिल कर शिकार करती थी और शायद शारीरिक बल में भी कम न थी किन्तु आखेटक-अवस्था के अन्त तक आखेट का कठिन कार्य पुरुष करने लगा और प्रजनन की बाधा के कारण घर का काम अधिकतर स्त्रियाँ करने लगीं। अतः पुरुष प्रभुत्व स्थापित हुआ किन्तु आखेटक पुरुषों का साथ न देकर स्त्रियों ने उससे भी महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि वह अनाज के पौधों को घर के आस पास उगाने लगीं और अन्न का प्रयोग भोजन में होने लगा, फलतः मातृ-प्रभाव पुनः बढ़ा और तंत्रों में कृषि सम्बंधी आचार अधिक होने से तांत्रिकधर्म की उत्पत्ति का सम्बंध प्रारम्भिक कृषि के साथ जोड़ा जा सकता है किन्तु प्रारम्कि आखेटक अवस्था में मुक्तयौन सम्बंध प्रचलित था और तंत्रों में यौन-स्वातंत्र्य का प्रचार है, तब यदि कोई कहे कि तंत्रों का सम्बंध आदिम-आखेटक-अवस्था से था, तब क्या उत्तर होगा? अतः मेरा निवेदन यह है कि तांत्रिक मत आदिम आखेटक अवस्था से लेकर वर्गवादी समाज के पूर्व तक की सम्पूर्ण 'कबीलाई व्यवस्था' की यादगार है! और वर्गवादी समाज से, इसी 'यादगार' की प्रेरणा लेकर, तांत्रिक शताब्दियों तक लड़ते रहे हैं।

यह एक सत्य है कि तंत्रों में कई आचार कृषि सम्बंधी प्रतीक होते हैं। श्री चट्टोपाध्याय के अनुसार तंत्रों में 'वामाचार' अर्थात् वामा + आचार =

स्त्रियों का आचार स्वीकृत है। श्री चट्टोपाध्याय कहते हैं कि 'षट्चक्रवेधसाधना' में चक्र नारीत्व के स्थान हैं क्योंकि प्रत्येक चक्र में एक-एक त्रिकोण मिलता है। प्रत्येक चक्र में एक-एक शक्ति को अवस्थित माना गया है। तांत्रिक योग का रहस्य है—"प्राणायामादि द्वारा मूलाधारस्थित शक्ति को जागृत कर सहस्रारस्थित शक्तिमान से एक करना। यही अद्वैतावस्था है। इस प्रकार तांत्रिक योगसाधना 'स्त्री' बनने का प्रयत्न मात्र है!" इस व्याख्या द्वारा श्री चट्टोपाध्याय यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कृषि की उत्पत्ति के कारण और कृषि-आचारों से सम्बद्ध होने के कारण तंत्रों में नारी की महिमा का गायन है। इसके सिवा वह कहते हैं कि शाकम्भरी देवी का स्पष्टतः कृषि से सम्बंध है 'दुर्गापूजा' में 'पूर्णघट' के ऊपर पुष्प, फलादि रखे जाते हैं। 'देवीयंत्र' में त्रिकोणों की स्थापना की जाती है। सर्वतोभद्रमंडलयंत्र में भी त्रिकोण रहता है जो योनि का प्रतीक है। लतासाधना में भी योनिपूजा होती है। श्री चट्टोपाध्याय कहते हैं कि 'योनिपूजा' द्वारा लोग आशा करते कि फसल अच्छी होगी! इसका ध्वंसावशेष यह प्रथा है कि अनावृष्टि होने पर स्त्रियाँ रात में नग्न होकर निकलती हैं और विश्वास है कि इससे वर्षा होती है! इसी प्रकार 'खपुष्प' की पूजा और 'सिंदूर' के प्रति आकर्षण भी अधिक उत्पादन के लिए था। पंचमकार में मद्य और मैथुन का ही अधिक महत्त्व है। चट्टोपाध्याय जी कहते हैं कि यह भी उत्पादन के प्रति रुचि के कारण था। मद्य को कबीलों में आज तक उत्पत्ति का सहायक तत्त्व माना गया है और मैथुन का महत्त्व संतान और अन्न की उत्पत्ति के कारण था। इस प्रकार 'सम्पूर्णतांत्रिक-साधना' कृषि सम्बंधी जादू की क्रिया मात्र है! इन क्रियाओं से लोग समझते थे कि उत्पादन अधिक होगा।

इस व्याख्या में अत्यधिक सरलीकरण प्रतीत होता है पर यह व्याख्या सर्वथा मौलिक और आकर्षक है। तंत्रों के विद्वानों ने श्री चट्टोपाध्याय के पूर्व यह नहीं देखा कि साधनाएँ सामाजिक-विकास का मर्म अपने गर्भ में छिपाये हुए हैं। फिर भी यह कहना होगा कि चक्र-साधना का जब तक प्रागैतिहासिक युग में प्रमाण नहीं मिलता तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि यह उत्पादन-वृद्धि का जादू मात्र है। अपने विकसित रूप में तंत्रसाधना पुरुष-प्रधान समाज में ही विकास को प्राप्त हुई है अतः मैं तंत्रों को उन्नतकृषिव्यवस्था अथवा सामंतवादी समाज के विरुद्ध विद्रोह के रूप में देखता हूँ क्योंकि सामंतवादी व्यवस्था के पुरोहितों ने जो भी सामाजिक और धार्मिक नियम बनाये थे, तांत्रिकमत उन सबके विरुद्ध

स्वच्छन्दतावादी और समतावादी दृष्टिकोण लेकर चला है अतः प्रत्येक तांत्रिक क्रिया की कृषिसम्बंधी व्याख्या द्रविड़-प्राणायाम मात्र है। फिर साधना में जो सूक्ष्म और जटिल आचार चल पड़ते हैं, वे प्रायः प्रतीकात्मक होते हैं और आंतरिक सत्यों का बोध कराने के लिए कल्पित होते हैं अतः उन प्रतीकों को देखकर उनसे किसी सामाजिक व्यवस्था का दोहन अतिसरलीकरण है। फिर भी इस विषय पर अभी अनुसंधान की और आवश्यकता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि तांत्रिक आचार आर्येतर है और उसकी स्वीकृति, आर्षपरंपराओं में सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलती है यद्यपि अथर्ववेद का तांत्रिकमत अभी अविकसित अवस्था में दिखायी पड़ता है।

यह विचित्र तथ्य है कि यजुर्वेद के यज्ञ और ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा यज्ञों की व्याख्या में अनेक तांत्रिक तत्त्व मिलते हैं। यहाँ तीन सम्भावनाएँ हो सकती हैं। प्रथम यह कि अथर्व-परंपरा का ब्राह्मणग्रन्थों पर प्रभाव पड़ा हो। ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के बाद दीर्घकालावधि में निर्मित होते रहे हैं। द्वितीय सम्भावना यह है कि परवर्ती तांत्रिकों ने अपने कुछ तत्त्वों के समर्थन के लिए इन ग्रन्थों में सादृश्य खोज लिया हो। परवर्ती मतों को वैदिकता सिद्ध करनी पड़ती थी। वेद-विरुद्ध मत मान्य नहीं हो सकता था अतः अवैदिक तत्त्वों की स्वीकृति के लिए उनकी वेदानुकूलता प्रमाणित करनी पड़ती थी। तीसरी सम्भावना यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों की कुछ परंपराएँ तांत्रिकों से प्रभावित रही हों। उदाहरण के लिए आर्यसमाजियों का कथन है कि कृष्ण यजुर्वेद 'रावण-परंपरा' का ग्रन्थ है! कारण यह है कि शायद ही किसी ऐसे पशु का उल्लेख ऐसा हो जिसे बलि और मांसभक्षण के लिए कृष्ण-यजुर्वेद में स्वीकृत न किया गया हो। मेरा अनुमान यह है कि उत्तर-वैदिककाल में आर्य और आर्येतर सम्पर्क बढ़ रहा था अतः ब्राह्मणग्रन्थों में तांत्रिकतत्त्व मिल जाते हैं। श्री व्रजलाल बनर्जी ने आर्थर एवेलोन के 'शक्ति ऐण्ड शाक्त' नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ १०४) अपने प्रसिद्ध निबन्ध में वैदिकसाहित्य में सभी तांत्रिक तत्त्व खोज निकाले हैं। उदाहरण के लिए 'मिथुनभावना' वैदिक स्वीकार करते थे। मैथुन धार्मिक कृत्य के रूप में स्वीकृत थी। मैथुन के समय मंत्रोच्चारण का भी विधान था!

सौत्रामणि यज्ञों में सुरापान होता था, इसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में भी किया है। तंदुल, पिष्टक, लाज और धान के साथ पशुबलि का भी विधान

था। कृष्ण-यजुर्वेद के बलि-पशुओं की सूची लम्बी है। हिरन, शूकर, बाज, बन्दर, कीट, पतंग, मगर, हाथी, बिल्ली; बकरा, मछली, कठफोढ़ा चकवा, कौआ, छिपकली आदि नाना पशु-पक्षियों का उल्लेख कृष्ण-यजुर्वेद में मिलता है।[1] आर्यसमाजी रघुनन्दन शर्मा ने भी यह स्वीकार किया है कि उत्तर वेदी पर पशुबलि होती थी। परन्तु वह यह भी कहते हैं कि पशुबलि संहिता-कालीन नहीं है और कृष्ण-यजुर्वेद की रचना रावण आदि द्रविड़ असुरों ने की है![2] फिर भी रघुनन्दन शर्मा ने मांसपरक शब्दों का अर्थ ओषधिपरक कर दिया है। वस्तुत: आर्यजीवन पशुचारण-व्यवस्था में मांसभक्षी था, आदर्शवादी कुछ भी कहें। बलि यज्ञ का भाग थी परन्तु कृषि का विकास होते ही 'बलि' का महत्त्व कम हुआ होगा अथवा कम से कम ज्ञानी लोग उसका विरोध करने लगे होंगे यद्यपि बौद्धमत के प्रचार के पूर्व 'बलि' का प्रचार बना रहा। अत: यह सम्भव है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित यज्ञों में मैथुन-बलि आदि स्वतंत्र रूप से प्रचलित हों यद्यपि आर्येतर साधनाओं के सम्पर्क में आने के कारण इन पर उनका प्रभाव, अवश्य दिखायी पड़ता है। परवर्ती तांत्रिकों ने अपने मत को प्रमाणित करने के लिए इन्हीं वैदिक क्रियाओं को प्रस्तुत किया और सिद्ध कर दिया कि तंत्र अवैदिक नहीं है! बनर्जी के निबन्ध से एक बात स्पष्ट है कि ब्राह्मण-युग में जो जटिल यज्ञ-प्रक्रिया का विकास हुआ, उसके निर्माण में आर्येतर परंपराओं से अवश्य प्रेरणा ली गई है। विवरण देना यहाँ अनावश्यक है। फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि खट्-फट् हुम् जैसी ध्वनियाँ ब्राह्मण-काल में आर्येतर साधनाओं में प्रचलित मंत्रो से ली गई होंगीं। 'मुद्रा' और चक्राकार बैठने तथा वेदी बनाने की प्रक्रिया पर भी आर्येतर या तांत्रिक प्रभाव दिखायी पड़ता है। यह अनुमान इसलिए और दृढ़ होता है कि यजुर्वेद के यज्ञों में नये देवताओं की भरती आर्येतर स्रोतों से हुई है। 'रुद्र' का महत्त्व यहाँ बढ़ा है और अम्बा, दुला, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती, असुरपत्नी, पृथिवी, जलदेवी, सिंहिनी या सरस्वती, आदि में सरस्वती के सिवाय अन्य नयी देवियाँ हैं। तैत्तरीय आरण्यक में लिंगपूजा स्वीकार कर ली गई है। इसी तरह ऋग्विधान ब्राह्मण में रात्रि और वाक् देवी की एकता स्थापित कर दी गई है। ऋग्वेद के खिल भाग में रात्रि को स्पष्टत: 'दुर्गा' कहा गया है। तैत्तरीय

(१) कृष्ण यजुर्वेद—५—७—१४
(२) वैदिक सम्पत्ति— ५८३—६०७

आरण्यक में देवी को अग्नि कहा गया है। अग्नि की सात जिह्वाओं को देवियों के रूप में स्वीकार करने की भी प्रवृत्ति है। सात जिह्वाएँ ये हैं—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रावती, स्फुलिङ्गनी, शुचिस्मिता।

स्पष्ट है कि ऋग्वेद के 'रात्रिसूक्त' को आधार मानकर ब्राह्मणकाल में देवी-पूजा स्वीकार कर ली गई थी। आर्यों ने अथर्ववेद में जिस प्रकार स्थानीय आर्येतर विश्वासों को स्वीकार करके सामाजिक सम्मिलन की ओर कदम बढ़ाये थे, उसी प्रकार ब्राह्मणकाल में यह सामाजिक-मिलन की प्रक्रिया और तीव्र हुई और इस तरह आर्य और आर्येतर की खाई सँकरी होती गई।

सामविधान ब्राह्मण को 'शतपथ' का समकालीन नहीं माना जाता। इस ग्रन्थ में स्कन्द, विनायक और विष्णु की पूजा का उल्लेख है। तैत्तरीय आरण्यक में 'गणेश' का उल्लेख मिलता है। विष्णु, को छोड़कर ये सब देवता आर्येतर देवता थे 'गेटी' ने प्रसिद्ध 'गणेश' ग्रन्थ में यह भली भाँति प्रमाणित कर दिया है। गणपति शब्द से ही स्पष्ट है कि 'गणेश' गणों या कबीलों के देवता थे। गेटी ने बताया है कि आर्येतर जनता में प्रचलित विचित्र और स्वेच्छाचारी देवताओं को आर्यों ने शिव के परिवार में शामिल कर दिया है। स्वयं विष्णु के विषय में कहा गया है कि इनकी प्राचीन मूर्त्तियाँ बड़ी कुरूप हैं, क्रमशः उन्हें सुन्दर रूप दिया गया है। अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि भागवतों के पूर्व विष्णु भी एक स्थानीय देवता था। भागवतों ने 'उपेन्द्र' विष्णु को सुन्दर रूप देकर सर्वश्रेष्ठ देव बना दिया। इस प्रकार 'उत्तर वैदिककाल' में आर्येतर संस्कृति को स्वीकार करके, उसकी आर्य संस्कृति के साथ संगति स्थापित करने पर बहुत बल दिया गया है।

ब्राह्मण-साहित्य का अंतिम अंश उपनिषदों के रूप में विकसित हुआ है, यहाँ केवल प्राचीन उपनिषदों से ही हमारा सम्बंध है, क्योंकि नवीन उपनिषदों का विकास बहुत बाद में हुआ है, यहाँ तक कि शैव-उपनिषदें, शाक्त-उपनिषदें और वैष्णव-उपनिषदें वस्तुतः 'तांत्रिक उपनिषदें' हैं ! उपनिषदों में वृहदारण्यक, छान्दोग्य, ईश, केन, एत्रेय, कठ, प्रश्न, तैत्तरीय, मैत्रेयी, मुंडक, कौशीतकी, माण्डूक्य तथा श्वेताश्वतर उपनिषदें प्राचीन मानी जाती हैं।

औपनिषदिक चिन्तन में वैविध्य मिलता है, अनेक चिन्तकों के विचार यहाँ सुरक्षित हैं। इन विचारकों ने अथर्ववेदीय चिन्तन और साधन-परंपरा से भी लाभ

उठाया था। यज्ञयागी आर्यों के सिवाय, नाना कबीलों के 'राष्ट्र' के रूप में परिवर्तित होने पर, समाज में भिन्न-भिन्न कबीलों में प्रचलित साधनाएँ और विश्वास प्रचलित रहे होंगे और आर्य-साधकों और आर्येतर साधकों और विचारकों में वह अलगाव अब, नयी सामाजिक व्यवस्था में, सम्भव नहीं था, क्योंकि उत्तर वैदिक-काल में जहाँ एक ओर, आर्य-विस्तार हो रहा था, वहीं देश के एक बड़े भूभाग में आर्यों का शासन पूर्णत: स्थापित हो चुका था और कबीले अब कृषि - प्रधान - व्यवस्था में रह रहे थे। वैदिक युग में पशुचारण प्रधान था और कृषि सहायक थी किन्तु उत्तर वैदिक काल में, कृषि प्रधान हो गई थी और पशुचारण कृषि की सहायक व्यवस्था थी। कबीलाई व्यवस्था में, अलग-अलग कबीलों के अलग देवता थे, टॉटेम-पूजा भी प्रचलित थी किन्तु अब कबीला-सरदारों के शासन के स्थान पर 'राजा' का शासन था। समतावादी कबीले बिखर गए थे और विभिन्न कबीलों में वर्ग-व्यवस्था, जन्म ले चुकी थी, विकसित हो रही थी। नाना कबीलों के देवताओं के ऊपर एक सत्ता की कल्पना अब सुविधा से प्रचलित हो सकती थी अत: ब्रह्मवाद का प्रचार उपनिषदों में सबसे अधिक मिलता है। देश को कबीलाई व्यवस्था से 'राज्य व्यवस्था' में बदलने में इस 'ब्रह्मवाद' का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उपनिषदों में 'यज्ञवाद' या कर्मकाण्ड का विरोध भी मिलता है अर्थात् कबीलाई कर्मकाण्ड अब आवश्यक नहीं है क्योंकि वह केवल आर्यों तक ही सीमित हैं। अब यज्ञयाग 'स्थूल' लगने लगता है और सर्वव्यापक सूक्ष्म ब्रह्म और आत्मा का अनुसंधान होता है। भारतवर्ष में चातुर्य से अनेक देवताओं और नाना आचारों को मानने वाली जातियों को इस 'ब्रह्मवाद' के द्वारा एक सांस्कृतिक-प्रवाह में शामिल कर लिया गया अर्थात् 'राष्ट्र' के रूप में भारतीय समाज के विकास के लिए और इसलिए विभिन्न भाषा, भूषा, आचार, धर्म, देवताओं को मानने वाली जातियों के 'सह-अस्तित्व' के लिए, तथा आर्य-आर्येतरों में 'भावात्मक एकता' के लिए 'ब्रह्मवाद' एक प्रगतिशील सिद्धान्त था। अब तक इस 'ब्रह्मवाद' के द्वारा ही नाना देवताओं और आचारों में अविरोध स्थापित किया जाता है। 'भेदों में अभेद-दर्शन' का औपनिषदिक-दर्शन एक सामयिक आवश्यकता थी!

अत: उपनिषदकारों के लिए यह असम्भव था कि वे आर्येतर साधनाओं और विचारों से प्रभावित न होते। उपनिषदों में स्पष्टत: अनेक तांत्रिक तत्त्व सुरक्षित हैं।

उपनिषदों में तांत्रिक - मिथुन - भावना का सिद्धान्त मिलता है। वस्तुत: उप - निषद के मिथुनवादी स्थलों को परवर्ती तांत्रिक उद्धृत करते आए हैं यथा "ब्रह्म

एकाकी था, उसने रमण नहीं किया, तब उसने द्वितीय की इच्छा की, वह जिस प्रकार परस्पर आलिंगित स्त्री - पुरुष होते हैं, वैसे ही परिमाणवाला हो गया, उसने इस अपने देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला, उससे पति और पत्नी हुए"[1] शिव - शक्ति की उत्पत्ति से इस कथन का अद्भुत सादृश्य मिलता है। अन्यत्र कहा गया है कि ब्रह्म ने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो अतः उस अशनाया रूप मृत्यु ने मन से वेद रूप मिथुन की भावना की, उससे जो रेत (वीर्य) हुआ, वह संवत्सर हुआ। संवत्सर को प्रजापति गर्भ में धारण किये रहा। फिर उसका जन्म हुआ तो उसने 'भाण' शब्द कहा, वही वाक् हुआ।[2]

यहाँ काल और वाक् की उत्पत्ति मिथुन - भाव से बतायी गई है। जगत् की सृष्टि में शिव और शक्ति के मैथुन का सिद्धान्त वृहदारण्यक में शतरूपा - मनु के मैथुन की कथा के रूप में स्वीकृत है।[3] परमशिव के संकल्प और रमण की भावना से ही सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त रयि और प्राण के मिथुन के रूप में तथा श्वेता - श्वतर उपनिषद् में शिव और शक्ति के मिथुन की चर्चा के रूप में मिलता है।

यद्यपि उपनिषदों में संन्यासधर्म अर्थात् रागद्वेषदमन की चर्चा अधिक है परन्तु वृहदारण्यक में (६–२–५) नारी - पुरुष - मिलन को यज्ञ के रूप में वर्णित किया गया है, परिणामतः परवर्ती तांत्रिक अपने मत की वैदिकता सिद्ध करने में ऐसे स्थलों को उद्धृत करते आए हैं—

"हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है ! उपस्थ ही समिधि है। लोम धूम है, योनि ज्वाला है, मैथुन - व्यापार अंगार है, आनन्दलेश विस्फुलिङ्ग है" 'इसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार के समय के आनन्द की उपमा स्त्री के आलिंगन - जन्य आनन्द से दी गई है। "यह सब ब्रह्म है"— यह सर्ववादी दृष्टि उपनिषदों की विशेषता है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि एन्द्रिक आनन्द भी, ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द का ही स्थूल रूप है अतः तांत्रिक इस स्थूल आनन्द की प्राप्ति में ब्रह्मानन्द की झलक देख - कर, एन्द्रिक आनन्द द्वारा अतीन्द्रिय - आनन्द प्राप्त करते हैं। वृहदारण्यक के षष्ठ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में मैथुन - कर्म का विस्तृत वर्णन मिलता है जो उपनिषदों की कठोर राग - विरोधी दृष्टि को देखते हुए, विचित्र लगता है।

---

१ वृहदारण्यक १–४–३ तथा १–४–१७

२ वही, १–२–४

३ वही, १–४–४

'शब्द - साधना' पर भी उपनिषदें अत्यधिक बल देती हैं। धेनुरूपा वाक् के चार स्तन बताये गए हैं, स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। इस वाक् रूपी धेनु का वृषभ प्राण बताया गया है और मन को वत्स्य अर्थात् मन, प्राण और वाक् की एकता[1], जो उपनिषदों के पूर्व योगियों में प्रचलित थी, उसे स्वीकार किया गया हैं। उपनिषदों में वाक् - उपासना, प्रणवोपासना, उद्गीथोपा - सना अथवा ओंकारोपासना के रूप में वर्णित है, तांत्रिक - धारा में शब्द - साधना या मंत्रसाधना का महत्त्व अधिक है। बीजाक्षरों की व्याख्याएँ जो तंत्रों में मिलती हैं, उपनिषदों में सुरक्षित हैं। हृ का अर्थ हृदय, 'द' का अर्थ दान, और यम् का अर्थ अक्षर किया गया है।[2] हिंकारोपासना और नादसाधना में अद्भुत सादृश्य मिलता है। पाँच प्रकार के सामगायन को ब्रह्माण्ड व्यापी बताया गया है। पिण्ड में व्याप्त नाद का भी वर्णन है। "प्राण की सहज गति ही हिंकार है, वाग् प्राण ही प्रस्ताव है, चाक्षुष प्राण ही उद्गीथ है ! श्रौत्र प्राण प्रतिहार है और मानस प्राण निधन है।[3] छांदोग्य उपनिषत् के अनुसार नाद या सामगान सृष्टि - व्यापी है। सम्पूर्णपदार्थ और क्रियाएँ नादमय हैं अत: नाद - साधना की प्रेरणा भी उपनिषदों से ली गई है। मुंडक में ओउम् को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य कहा गया है। कहा गया है कि बाण के साथ तन्मय होकर अप्रमत्त होकर शब्दवेध करना चाहिए। (३–४)

साधनात्मक तांत्रिक रहस्यवाद उपनिषदों में स्वीकृत है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि कर्मकाण्डी आचार्य उपनिषदों में रहस्वादी कैसे हो गए ? यहाँ वेद के स्थान पर वाक्, मन और प्राण, - साधना का महत्त्व अधिक हो जाता है। सम्पूर्ण पदार्थों और क्रियाओं को प्राणों में स्थित माना गया है अर्थात् ब्रह्माण्ड की पिण्ड परक व्याख्या की गई है—"सूर्य प्राण से ही उत्पन्न होता है और प्राण में ही अस्त होता है अत: प्राण और अपान का व्यापार करे। प्राण के अंतर्गत ही आकाश हैं, वे अमूर्त्त हैं।[4] शाकल्य ने जब याज्ञवल्क्य से पूछा कि रुद्र कौन है तो वह दस इन्द्रियों और मन को ही ११ रुद्रों से अभिहित करते हैं। योगियों की हिता नामक ७२ सहस्र नाड़ियों का उल्लेख भी उपनिषदों में मिलता है।[5] सम्पूर्ण देवताओं का

---

१ वृहदारण्यक—१–६–१ तथा ४–३–५

२ वही—५–३–१

३ छांदोग्य २–२–३

४ वृहदारण्यक—४–२–३

५ वही—२–१–१६

पिण्ड में निवास है यह एतरेय उपनिषद् में भली भाँति समझाया गया है। (१–२–४)।

कठोपनिषद् में एक सौ नाड़ियों का उल्लेख है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि एक नाड़ी (सुषुम्ना) द्वारा गमन करने वाला उदान वायु पुण्यकर्म के द्वारा पुण्य-लोक को और पापकर्म द्वारा पापलोक को जाता है। (३–७)। तैत्तरीय उप-निषद् में हृदय के मध्य में स्थित आकाश में पुरुष की सत्ता बतायी गई है, योगियों के लिए यह तथ्य महत्त्वपूर्ण रहा है। सुषुम्ना के विषय में कहा गया है कि सुषुम्ना, मूर्ध-प्रदेश में मस्तक के कपाल को वेधकर विदीर्ण करके निकल गई है। यही 'इन्द्रयोनि' है। तांत्रिक योग में खेचरी मुद्रा (तालु में जिह्वा की स्थापना) तथा सहस्रार-स्थिति का जो महत्व है, वह तैत्तरीय उपनिषद् में भी संकेतित है। छांदोग्य में नारद और सनत्कुमार के संवाद में अतियोग का वर्णन है, जिसमें मन, वाणी, चित्त आदि पर क्रमशः विजय प्राप्त करके पिण्ड-विजय द्वारा मुक्ति प्राप्ति का वर्णन है। चक्रों की कमल के रूपों में कल्पना यहाँ 'पुण्डरीक-गृह' के रूप में मिलती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह पिण्डयोग विस्तृत रूप में मिलता है। यह उपनिषद् स्पष्टतः तांत्रिक शैव-परंपरा से सम्बद्ध है किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि उपनिषदों में आर्येतर अथर्ववेदी तांत्रिक साधनात्मक रहस्यवादी परंपरा से प्रेरणा ली गई है और यह प्रवृत्ति सांस्कृतिक-अंतर्भुक्ति के सिद्धान्त को पुष्ट करती है।

तांत्रिक साधना में ध्यान के अगणित रूप प्रचलित हुए। उपनिषदों में ध्यान विषयक मौलिक चिन्तन मिलता है। "जब हम देखते हैं तो हमारी श्वास रुक जाती है, जब हम विचार करते हैं, तो भी श्वास रुक जाती है, जब हम किसी वस्तु के साथ तन्मय होते हैं, तो श्वास-प्रश्वास अवरुद्ध हो जाती है। अतएव ध्यान द्वारा, प्राण को वश में किया जा सकता है। इसी प्रकार चपल चित्तवृत्ति को प्राणा-नुशासन से किसी पदार्थ या भाव पर केन्द्रित करके वश में किया जा सकता है। यह 'प्रतर्दन यज्ञ' कहलाता है।[1]

यह आंतरिक देवताओं का वर्णन है किन्तु तांत्रिक-परंपरा की श्वेताश्वतर उपनिषद में भक्तिभाव का भी वर्णन मिलता है अतः 'भक्ति' का सम्बंध भी तांत्रिक परंपरा से ही घनिष्ठ दिखायी पड़ता है। शैव-परंपरा की यह उपनिषद् भक्तिभाव का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। गीता और महाभारत में यही प्रवृत्ति आगे चल

---

१. कौशीतकी—२—५

कर विकसित हुई है। 'महाभारत' में तो शिव ही प्रमुखतम देवता है, जिनकी उपासना कृष्ण, अर्जुन अश्वत्थामा आदि सभी करते हैं। गीता में विष्णु का महत्व अधिक है किन्तु इन देवताओं में रुद्र प्राचीनतर देवता हैं, अतः श्वेताश्वतर जिस तांत्रिक शैव-परंपरा का ग्रन्थ है, उसी ने सर्वप्रथम शिव या रुद्र की भक्ति को शास्त्रीय आधार दिया और उसी आदर्श पर वैदिक देवताओं में महत्वहीन देवता विष्णु को आराध्य बनाकर सात्वतों या भागवतों द्वारा गीता की रचना हुई।

यह भी स्मरणीय है कि तत्त्वतः तांत्रिक शैव परंपरा द्वैतवादिनी थी। पाशुपत मत में द्वैतवाद स्पष्ट है। श्वेताश्वतर उपनिषद में पुरुष और प्रकृति की भिन्नता स्पष्ट है यद्यपि शंकराचार्य ने अद्वैतपरक अर्थ किया है। शैवआगमों में द्वैतवाद प्रबल रहा है, कश्मीरी अद्वैतवाद के पूर्व आगम द्वैतवादी ही मिलते हैं अतः इस दृष्टि से भी श्वेताश्वतर का महत्व स्पष्ट है। तंत्रों की काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष सम्बंधी धारणाएँ श्वेताश्वतर में विद्यमान हैं। पाश का विवेचन भी यहाँ मिलता है। 'जाल' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। शंकराचार्य ने 'इंद्रजाल' अर्थ कर लिया है! तंत्रालोक में अभिनवगुप्त ने जाल और मत्स्य शब्दों का प्रयोग किया है और जाल का सम्बंध मत्स्येन्द्रनाथ से जोड़ा है। अथर्ववेद में जिस 'माया' या जादू का वर्णन है, उस माया का जाल से सम्बंध स्वयं श्वेताश्वतर उपनिषद में जोड़ा गया है। इस उपनिषद में ब्रह्म को मायावी और 'जालवान्' कहा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद में प्राप्त प्रारम्भिक तांत्रिकधारा, जो वैदिक-ब्राह्मणों के समानान्तर प्रचलित रही, प्रच्छन्न रूप में वह न केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलती है अपितु उपनिषदों में भी वह विद्यमान है और श्वेताश्वतर में तो वह तांत्रिकधारा स्पष्ट दिखायी पड़ती है। जहाँ तक अभिव्यक्ति का प्रश्न है, अथर्ववेदी प्रतीकात्मक और विपरीत - कथन - पद्धति का प्रयोग 'आर्ष-साहित्य' में उत्तरवैदिक काल में बढ़ता दिखायी पड़ता है। बृहदारण्यक में कहा गया है कि "जहाँ द्वैतभाव रहता है, वहीं मनुष्य अन्य - अन्य को सूँघता है, अन्य-अन्य को देखता है। किन्तु जहाँ जिसके लिए सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे? किसके द्वारा किसे सूँघे? किसके द्वारा किसका अभिवादन करे? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने?

बाह्याचार की इस कठोर भर्त्सना की परंपरा तांत्रिको में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है जो मध्यकाल में संतकवियों के काव्य में पुनः नये आवेश के साथ ध्वनित होती है।

प्रतीकात्मक कथन-पद्धति भी उपनिषदों में मिलती है। मुडंकोपनिषद में 'पक्षियों' का वर्णन तथा श्वेताश्वतर में 'हंस' का वर्णन, इसी प्रतीकात्मक पद्धति पर हुआ हैं। इसी तरह 'अजा' और 'अज' का वर्णन भी प्रतीकात्मक है। आंतरिक सत्यों का उद्घाटन ही इनका उद्देश्य है। उपनिषदों के बहुत से प्रतीक संत-परंपरा में प्रयुक्त हुए हैं।

यज्ञ के स्थान पर अंतरावलोकन, तप, योग आदि को आर्येतर परंपरा में अधिक महत्व प्राप्त था, उपनिषदों में अंतरावलोकन, तप, योग ही मुख्य हो गया है और यज्ञ गौण हो गया है, इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि 'सांस्कृतिक अंतर्भुक्ति' की कल्पना निराधार नहीं है किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि अंतर्भुक्ति होने पर भी समाज के भीतर आर्य-परंपरा अर्थात् यज्ञयाग, स्मृतियों के नियम-कानून आदि के विरुद्ध अंतरावलोकन-परंपरा अथवा तांत्रिक-परंपरा ने सर्वदा संघर्ष जारी रखा है। अतः 'राष्ट्र' के रूप में कबीलाई-संघर्ष में जो 'समन्विति' (Synthesis) मिलती है, उसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि भारतीय समाज के भीतर शासक और शासित का अथवा उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का संघर्ष समाप्त हो गया था। वर्गवादी समाज में यह वर्ग-संघर्ष, कभी वर्ण-संघर्ष, कभी जाति-संघर्ष, कभी सांस्कृतिक संघर्ष और कभी अन्य रूपों में दिखायी पड़ता हैं अतः तांत्रिक-परंपरा जो मूलतः कबीलाई साम्य और वर्ग-वैषम्य-रहित भावना का प्रचार करती थी, उपनिषद-युग के बाद अनेक सम्प्रदायों के रूप में विकसित हुई। वैदिक युग से उत्तर वैदिककाल तक यह धारा आदिम जातियों और कबीलों को आधार बनाकर अथर्ववेद कृष्ण-यजुर्वेद, ब्राह्मण-साहित्य और उपनिषदों को प्रभावित करती है किन्तु उपनिषद-युग के बाद अर्थात् महाकाव्य-युग में स्पष्टतः नाना साधना-सम्प्रदायों के रूप में विकसित हो जाती है। भारतीय समाज के विकास पर जिसकी दृष्टि नहीं है अथवा जो समाज के विकास में 'संघर्ष' और 'समन्वय' के सिद्धान्त को नहीं मानता, वह इन सम्प्रदायों में केवल अंतरावलोकन, योग, शब्द साधना और वाममार्ग को देखता है किन्तु समाज के विकास पर दृष्टि रखकर चलने वाले विचारक यह नहीं भूल सकते कि यह तांत्रिकधारा, ब्राह्मणवादी भारतीय समाजिक व्यवस्था अथवा

वर्ण-वर्गवादी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध अपनी साधना और विचारों के द्वारा बराबर विद्रोह करती रही है। उपनिषदों के बाद जो तांत्रिक सम्प्रदाय विकसित हुए, उनका नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथों में चला गया और इन उच्चवर्गीय मनोवृत्ति वाले साधकों ने तंत्रों की वैदिकता सिद्ध करने में पूरा बल लगाया किन्तु फिर भी तांत्रिक सम्प्रदायों की विद्रोही प्रवृत्ति सदा उनके साथ रही और उन्होंने सर्वदा वर्णवादी, जातिवादी मनोवृत्ति का विरोध किया। जब तक वर्ण और जाति के सिद्धान्त प्रगतिशील रहे अर्थात् कबीलाई व्यवस्था को वर्णवाद और जातिवाद ने 'राज्यवाद' में जब तक परिणत किया तब तक तांत्रिकधारा प्रच्छन्न और असंगठित रूप में आर्येतर साधनाओं के रूप में प्रचलित रही किन्तु बौद्धयुग तक भारतीय समाज का वर्णवाद, जातिवाद या वर्गवाद अंतर्विरोध ग्रस्त हो गया, इतना अधिक, कि 'आर्यवर्णवाद' के विरुद्ध तांत्रिकों, बौद्धों, जैनियों तथा अन्य सम्प्रदायों के रूप में उक्त अंतर्विरोध के विरुद्ध कठोर प्रतिक्रिया हुई। उत्पादन के साधन न बदलने से समाज में 'साम्य' स्थापित होना सम्भव नहीं था किन्तु समाज में 'संतुलन' की स्थापना में इस आर्येतर साधनात्मक या साँस्कृतिक विद्रोह ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की, यह स्मरणीय है। अंततः यह सांस्कृतिक विद्रोह निम्न जनता के व्यावहारिक जीवन के विषमता-जन्य असंतोष का ही परिणाम था अतः उपनिषद युग के बाद बौद्धमत, जैनमत, शैवमत, शाक्तमत, वैष्णवमत तथा अन्य आर्येतर विश्वासों को लेकर चलने वाले सम्प्रदायों का अध्ययन, भारतीय समाज में स्थित अंतर्विरोधों को ध्यान में रखकर होना चाहिए और इसके साथ ही उस 'अंतर्भुक्ति' और 'समन्वय' को भी देखना चाहिए जो इन परस्पर विरोधी धाराओं के मिलन से उत्पन्न हुआ था। भारतीय संस्कृति के विकास में केवल 'समन्वय' को ही देखने वालों की यह शुभ कामना आदरणीय है कि विरोधों पर बल देने से 'वर्तमान' में संघर्ष बढ़ेगा किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि समाज के विकास में 'संघर्ष' और 'समन्वय' अथवा 'थीसिस', 'एण्टी थीसिस' और 'सिन्थैसिस' के सिद्धान्त को भुला नहीं सकती। वस्तुतः वर्तमानकाल में उक्त वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव के कारण ही उत्तर और दक्षिण, आर्य और आर्येतर में घृणा बढ़ती है। 'सच्ची कहानी' कहने से घृणा बढ़नी नहीं चाहिए, यह भाव जब तक नहीं आयेगा और जब तक धर्म, दर्शन, काव्य आदि का समाज शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन न होगा, तब तक भूतकाल में किसी सम्प्रदाय या कतिपय विश्वासों के साथ तादात्म्य करके लोग आपस में लड़ते ही रहेंगे। इतिहास के विकास में कोई दमनकर्त्ता और कोई

दमित बनेगा ही, क्योंकि विकास सर्वदा संघर्षात्मक होता है, 'भारतीय संस्कृति' का नारा लगाने वाले इस तथ्य को दृष्टि से सदा ओझल किये रहते हैं और 'संघर्ष' की यह कथा जितनी तांत्रिक सम्प्रदायों के अध्ययन से स्पष्ट होती है, उतनी अन्य सम्प्रदायों के अध्ययन से नहीं होती क्योंकि तांत्रिक धारा दमित वर्गों की, साधना और धर्म के माध्यम से प्रकट होने वाली, विद्रोही वाणी है !

उक्त दृष्टि उपनिषदों के बाद के विकास को समझने के लिए बहुत आवश्यक है क्योंकि उत्तर वैदिककाल में देश के विभिन्न प्रदेशों में क़बीलाई प्रभुत्व के स्थान पर, आर्यों के राज्य स्थापित होते हैं और महाकाव्य-काल में यह राज्य-व्यवस्था और भी मजबूत होती है। गणों का विकास होता है जिनमें किसी एक जाति का प्रभुत्व स्थापित होता है और गण अपना 'राजा' भी चुनते हैं जो 'एकाधिकार' के लिए कंस की तरह संघर्ष भी करते दिखायी पड़ते हैं। यहाँ विवरण का स्थान नहीं है। संक्षेप में 'महाभारत' तथा बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि देश में शक्तिसम्पन्न राज्यों की स्थापना हो जाती है और राजा एकाधिकार अथवा 'केन्द्रीप्रबल शासक' या 'चक्रवर्ती' बनने के लिए संघर्ष करते हैं। राज्य स्थापना का अर्थ है कि विधि और व्यवस्था का जन्म होता है, कृषि और व्यापार की उन्नति होती है, क़बीलाई मुठभेड़ें और अराजकता समाप्त हो जाती है अतः राज्य-व्यवस्था वैदिक शासन से अधिक प्रगतिशील व्यवस्था है किन्तु क़बीला-प्रथा में एक क़बीले के भीतर सदस्य को जो समता और स्नेह मिलता है, वह राज्य-व्यवस्था में सम्भव नहीं है क्योंकि इस व्यवस्था में पुरोहित, योद्धा, व्यापारी कृषक, शिल्पी, श्रमिक आदि वर्ग बन जाते हैं और रक्षा का कार्य सर्वाधिक महत्व-पूर्ण हो जाता है अतः शासक का तथा उनके पथप्रदर्शक विद्वत्वर्ग या ब्राह्मणों या पुरोहितों का आदर होता है।

इस स्थिति में स्वभावतः निम्न वर्ग असंतुष्ट रहता है अतः वह उसे व्यक्त करने के उपाय खोजता है। 'धर्म और साधना' ऐसा ही एक उपाय है। किन्तु विकसित होती हुई राज्य-व्यवस्था में, योद्धाओं के पथप्रदर्शक ब्राह्मणों के द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को एक विशेष गौरव और महत्व मिल जाता है। महाभारत तथा अन्य संस्कृत साहित्य अधिकतर इसी वर्ग द्वारा लिखा गया है। अतः महा-भारत में ब्राह्मण-चिंतन ही है किन्तु पुरोहित वर्ग स्पष्ट देखता है कि देश या जनपद में कई जातियों या क़बीलों के लोग रहते हैं, एक जनपद से दूसरे जनपद में व्यापार चलता है, यातायात होता है। अतः 'एकता' की ओर मन स्वतः

जाता है, अब चिन्तन कबीलाई मनोवृत्ति में सीमित नहीं रह सकता । अब आर्येतरों को 'दस्य,' कहकर काम नहीं चल सकता क्योंकि समाज की प्रगति का भार सबसे अधिक वही ढोते हैं अतः महाभारत में तथा बाद में पुराणों और काव्यों में 'एकता' के तत्त्वों पर बहुत बल दिया गया है । एकता के लिए स्वीकृति आवश्यक है अतः आर्येतर विश्वासों को स्वीकार किया गया है । उपनिषदों के ब्रह्मवाद द्वारा सभी "भेद" स्वीकृति हो सकते हैं किन्तु फिर भी 'ब्रह्मवाद' में विराट देश के विभिन्न देवी-देवताओं और उनकी साधन-पद्धतियों को समेटने की शक्ति नहीं थी । मात्र स्वीकृति अपर्याप्त होती है, जातियों के हृदय जीतने अथवा उनके असंतोष को समाप्त करने या भावात्मक एकता के लिए नाना साधनाओं और देवी-देवताओं को शासकों की संस्कृति में ताने बाने की तरह बिना बुने हुए, 'एकता' हो नहीं सकती अतः उत्तर वैदिककाल के अंत में दूरदर्शी और समाज के विकास के अनुकूल चलकर, ब्राह्मणों ने रुद्रशिव और 'विष्णु' की उपासना का प्रचार किया । 'ब्रह्मवाद' के साथ 'अवतारवाद' को भी स्वीकार करके सभी जातियों के देवी-देवताओं को रुद्र, विष्णु, शक्ति आदि आर्य-आर्येतर देवताओं का आर्योकरण करके, इनके परिवारों में शामिल कर लिया, इस प्रकार सभी जातियों का अलगाव समाप्त करने का यह महानतम प्रयत्न था ।

'महाभारत' यद्यपि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से ईसा पश्चात् चतुर्थ शताब्दी के मध्य में लिखा हुआ माना जाता है परन्तु महाभारत में परंपराओं का उल्लेख है अतः उत्तरवैदिक युग के अन्त से लेकर बौद्ध युग के मध्य की अवधि में होने वाली राजनैतिक और सांस्कृतिक घटनाओं का पता महाभारत से चल सकता है ।

महाभारत 'वेदों का सार' कहलाता है । किन्तु, इस ग्रन्थ में समग्रतः अवैदिक अंश ही अधिक है और अवैदिक तत्वों को स्वीकृति देकर ही 'महाभारत' महान बन सका है । यहाँ यज्ञयाग की अतिशय प्रशंसा है, अर्थात् वैदिकता को मूर्धन्य स्थान दिया गया है किन्तु उसके रक्षक और प्रचारकों में आर्येतर देवता रुद्रशिव और विष्णु को स्वीकार किया गया है । इनके परिवार के देवताओं के साथ सभी तांत्रिक और गृह्य साधनाओं को सम्बद्ध कर दिया है । यही दृष्टि अन्य पुराणों में है । परिणामतः यदि तांत्रिक सम्प्रदायों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन न किया नाम तो ऐसा लगता है कि इस देश में राजनैतिक संघर्ष को छोड़कर 'वर्ग संघर्ष' का अस्तित्व ही नहीं था ! जैसे ब्राह्मणों की राजनीति और

समाजनीति का कभी विरोध ही नही हुआ । स्मृतियों और तंत्रों की तुलना करने पर ही स्पष्ट होता है कि स्मृतियों पर आधारित शासकवर्ग की मनोवृत्ति और उसका विरोध अर्थात् राज्य-व्यवस्था और 'तीव्रवर्ग संघर्ष' भारतवर्ष के इतिहास में भी उपलब्ध हैं ।

महाभारत में 'रुद्र' के गणों में सर्प, अहिबु`घ्न्य और कपाली जैसे नाम मिलते हैं, स्पष्टत: ये विभिन्न अनार्य जातियों से लिये गए नाम हैं । 'मृगव्याध' 'पशुपति' भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं । 'स्कन्द' के परिवार में काकी, हालिया, मालिनी, वृंहता, आर्या, पलाला, वैमिया आदि स्थानीय भयंकर देवियों को समेट लिया गया है । इनके रूप विकृत हैं और ये सब वामाचार-प्रिय हैं । द्रौणपर्व में स्पष्टत: 'रुद्र' को राक्षसों का स्वामी कहा गया है । लिंगोपासना, जिसका वेद में उपहास किया गया है, यहाँ प्रशंसित हुई है ।

सौप्तिक पर्व में अश्वत्थामा भयंकर रुद्र के दर्शन करता है, यहाँ रुद्र का स्तोत्र, ध्यान, अस्त्र आदि का वर्णन शुद्ध तांत्रिक पद्धति पर है । कहा गया है कि रुद्र को व्यास और कृष्ण ही समझते थे अर्थात् उपर्युक्त महान दूरदर्शिता या सांस्कृतिक समन्वय द्वारा 'राजनैतिक एकता' के रहस्य को व्यास और कृष्ण ही समझ सकते थे । अनुशासनपर्व में कहा गया है कि प्राणियों के शरीर में न पद्म का चिह्न है, न चक्र का, न वज्र का । सभी प्रजा लिंग और भग के चिह्न से युक्त है अत: सम्पूर्ण प्रजा माहेश्वरी है ।[1] महाभारत में एक ओर 'रुद्र शिव' यज्ञयाग का उपदेश देते हैं और दूसरी ओर गुह्यसाधनाओं का । रुद्र कृष्ण की प्रशंसा करते नहीं थकते और कृष्ण तो रुद्र के ही उपासक थे अत: अद्भुत अंत-दृ`ष्टि द्वारा आर्येतर तांत्रिक गुह्य साधनाओं को आदर देकर देश के सांस्कृतिक जीवन से 'अलगाव' को समाप्त किया गया है !

रुद्र की तरह 'कृष्ण' भी विवादास्पद हैं । महाभारत के कृष्ण जननायक हैं, राजनीति विशारद अत: देश में 'केन्द्रीय प्रबलसत्ता' की स्थापना के लिए वे भयंकर जनसंहार से भी नहीं डरते और प्रथमबार देश में प्रबल-राज्य की स्थापना करते हैं क्योंकि सुव्यवस्था के लिए बलिदान आवश्यक है और प्रान्तीयतावादी शासकी की स्वतंत्र सत्ता, देश के हित में बाधक है ! शायद इसीलिए कृष्ण को भगवान् बनाकर इस देश ने अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है । राजनीति की तरह,

(१) अनुशासन पर्व—१४—१७

वैदिक देवताओं और यज्ञ के स्थान पर कृष्ण ने अवैदिक 'भक्ति' और 'पूजा' की प्रथा, जो श्वेताश्वतर उपनिषद में दिखायी पड़ती है, प्रचलित की। इसी प्रकार गीता में यज्ञवाद के स्थान पर उन्होंने 'कर्मवाद' का प्रचार किया जो बौद्धों के निवृत्तिमूलक दर्शन के विरुद्ध अपनी 'सक्रियता' के कारण जनता को अधिक रुचा किन्तु उसके साथ ही 'ब्राह्मणवादी व्यवस्था' या 'वर्णवाद' को भी स्वीकार करना पड़ा।

कृष्ण के इस 'समन्वयवाद', जिसमें वर्णवाद भी शामिल था, को लेकर सात्वतों ने पांचरात्र संहिता लिखी जिसे हम 'वैष्णव तंत्र' कहते हैं। इन वैष्णवागमों पर इस पुस्तक में एक स्वतंत्र अध्याय है, इससे स्पष्ट होगा कि पांचरात्र मत मूलतः तांत्रिकमत है। उसके तत्ववाद और शैव-शाक्तों के तत्ववाद में कोई अंतर नहीं है, अंतर केवल साधना को लेकर है। पांचरात्र दक्षिणमार्गी और वर्णवादी हैं किन्तु शैव-शाक्त वाममार्गी भी हैं। इस भागवत मत को महाभारत युग में पूर्ण स्वीकृति नहीं मिल पाई थी। स्वयं कृष्ण को भीष्म और पांडव ही भगवान् मानते थे, अन्य नहीं। कृष्ण का विरोधी जरा संधशैव था। स्वमं 'विष्णु' १२ आदित्यों में से एक थे और ३३ देवताओं के अतिरिक्त उपदेवताओं में भी उनका उल्लेख होता था किन्तु 'महाभारत' में 'विष्णु' 'रुद्र' के समकक्ष प्रतीत होते हैं अतः 'विष्णु' को गौरव एकदम नहीं मिला, समाज की स्थिति के साथ देवता की स्थिति सम्बद्ध रही है।

महाभारत में शाक्त-परंपरा को भी पूर्णतः स्वीकार किया गया है। वनपर्व में भानुमती, रागा, सिनीवाली, अर्चिषमती, हविष्मती, महिष्मती, महामती और कुहू को भी देवी माना गया है। स्कन्द के परिवार में 'मातृकाओं' का उल्लेख हो चुका है। इन स्थानीय देवियों का 'आर्य देवियों'—ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि से कम गौरव दिया गया है। जब स्कन्द से मातृकाओं ने आर्य देवियों की ही प्रतिष्ठा माँगी तो कहा गया कि अन्य जातियों के देवताओं को आर्य देवताओं जैसा गौरव नहीं दिया जा सकता! यह सम्भव है कि महाभारत में देवीपूजा के सूचक विस्तृत स्थल परवर्ती हों किन्तु देवी पूजा की स्वीकृति महाभारत की मूलदृष्टि के विरुद्ध नहीं है। अन्य पुराणों में भी यही दृष्टि मिलती है! इसके सिवा 'भीष्मपर्व' में जहाँ अर्जुन देवी की स्तुति करते हैं, वहाँ बहुत से परवर्ती नाम नहीं मिलते। उदाहरण के लिए सात देवियों में 'वाराही' और 'ललिता' के नाम नहीं हैं। नवदुर्गा के भी सभी नाम यहाँ नहीं हैं।

शाक्त-सम्प्रदाय के सभी विशेषज्ञ इस मत को मानते हैं कि स्थानीय देवियों को एक ही शक्ति के अंश के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

इस प्रकार महाभारत सांस्कृतिक एकता और राजनैतिक एकता के लिए तांत्रिक या आर्येतर साधनाओं को स्वीकार करता है किन्तु यह स्मरणीय है कि महाभारत में शैव-शाक्त तत्वज्ञान बहुत प्रारम्भिक अवस्था में है। 'रुद्र' की 'ब्रह्मवादी' व्याख्या अधिक की गई है जब कि 'पाशुपतमत' द्वैतवादी कहलाता है। 'पाशुपतमत' पर महाभारत से अधिक प्रकाश नहीं पड़ता परन्तु इतना स्पष्ट है कि यह आर्येतर मत था। शांतिपर्व में कहा गया है कि पाशुपतमत वर्णाश्रमधर्म के विपरीत है किन्तु कुछ अनुकूल भी है।[1]

अत: मेरा अनुमान यह है कि शैव-शाक्त तत्वज्ञान महाभारत के बाद ही 'आगमों' में विकसित हुआ है, इसके पूर्व साधनाओं और विश्वासों के रूप में तांत्रिक धारा प्रचलित थी। तत्वज्ञान सर्वप्रथम वैष्णव आगमों में मिलता है क्योंकि कालक्रम की दृष्टि से पांचरात्रसंहिताएँ, आगम साहित्य में प्राचीनतम हैं और पांचरात्र-संहिताएँ पुराणों के साथ ही वैष्णव साधकों द्वारा लिखी गई हैं। इन संहिताओं, शैव-शाक्त-आगमों और बौद्धतन्त्रों में 'साधना' की दृष्टि से अधिक सादृश्य मिलता है। बौद्धतत्वज्ञान कुछ भिन्न होता जाता है और पांचरात्र-साधना में दक्षिणपंथी तत्व अधिक हैं परन्तु फिर भी इनमें इतना अधिक सादृश्य है कि 'तांत्रिकधारा' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

महाभारत के बाद इस साहित्य का विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा बहुत अधिक प्रचार होता है। पुराण भी विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा लिखे गए हैं, इनमें ब्राह्म, शैव, वैष्णव तथा भागवत सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं अर्थात् वैदिकयज्ञयाग को मानते हुए भी इनमें आर्येतर तत्वों को स्वीकार कर, 'समन्वय' की प्रवृत्तिअधिक है।

पुराण 'भावात्मक एकता' के लिए, 'द्विधार' नीति अपनाते हैं। जिस सम्प्रदाय में जो पुराण लिखा गया है, वह अपने मत को सबसे ऊपर रखता है और साथ ही अन्य मतों को भी, निम्न स्थान देकर ही सही, परन्तु स्वीकार अवश्य करता है। इस नीति से अपने मत की श्रेष्ठता भी सुरक्षित हो जाती है और अविरोध की भी स्थापना हो जाती है। अत: महाभारत और पुराणों द्वारा, 'आर्य संस्कृति' की श्रेष्ठता और प्रभुत्व भी स्थापित हो जाता है और दूसरी ओर नाना

(१) शांतिपर्व—अध्याय २८४—१८९, गीता प्रेस

मतों में उत्पन्न 'अलगाव' भी समाप्त हो जाता है। मुसलमानों के पूर्व तक आर्यों की यह नीति ही, सांस्कृतिक एकता और 'सहअस्तित्व' के लिए उत्तरदायी है। आर्य समाजी विद्वान पुराणों के इस महान और दूरदर्शी नोति का महत्व समझ नहीं पाए। वस्तुतः भारतीय एकता के सबसे बड़े प्रचारक पुराण हैं !

जब हिन्दी के आलोचक कहते हैं कि तुलसीदास ने शैव-वैष्णव एकता स्थापित की, तब इन आलोचकों पर दया उत्पन्न होती है क्योंकि तुलसीदास उक्त 'अंतर्भुक्ति-वादी' परंपरा में अपना केवल योगदान करने वाले कवि हैं। एकता का प्रचार पुराना है। सभी वैष्णव-पुराण शैव और ब्राह्म पुराणों का सम्मान करते हैं, इसी प्रकार शैव और ब्राह्म पुराण वैष्णव पुराणों को आदर देते हैं, यद्यपि इन सबमें अपने देवता को ही श्रेष्ठ बताया गया है। इसी प्रकार तुलसी पुराणों के पगचिह्नों पर चलते हुए, विष्णु को सर्वाधिक महत्व देते हुए; शिव, दुर्गा, गणेशादि को सम्मान देते हैं। इसी 'नीति' के कारण इस देश में धार्मिक युद्ध उग्र रूप धारण नहीं कर सके।

पुराणों का समय, विंटरनित्स के अनुसार, बौद्धयुग से लेकर सप्तम शताब्दी की मध्यावधि है। इसी बीच महाभारत, रामायण, धर्मसूत्र, स्मृतियों आदि का निर्माण हुआ। इसी अवधि में प्रबल केन्द्रीय राज्य सत्ता को दृढ़ता प्राप्त हुई अतः इस युग में 'संघर्ष' और 'समन्वय' के लिए घोर प्रयत्न किया जाता है।

उक्त पुराण-युग के बाद तांत्रिक-धारा प्रबल हो उठती है। फर्कुअर ने ६०० ई० के बाद के युग को 'शाक्तयुग' की संज्ञा दी है अर्थात् छठी शताब्दी के बाद निम्न जनता का असंतोष तीव्र रूप में, तंत्रों के माध्यम से, व्यक्त होता है। भारतीय समाज में 'वर्णव्यवस्था' का प्रतिक्रियावादी रूप इस युग में अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है, यद्यपि बौद्धयुग में ही 'वर्णवाद' के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। 'वर्णवाद' और जातिवाद बौद्धयुग के पूर्व ही 'जन्म' पर आधारित हो जाता है अतः निम्न जातियों को, समाज में अपना पेशा बदलने तथा विद्या प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। प्रायः यह कहा जाता है कि हिन्दू जाति-प्रथा पेशों पर आधारित है। शिल्पियों के सम्बंध में यह सत्य है किन्तु कृषि और व्यापार में सभी जातियाँ भाग लेती थीं किन्तु जन्म से जातिवाद के कारण समाज में ऊँच नीच की भावना समाप्त नहीं हो पाती थी—Different castes that are otherwise set apart often engage in the same type

of work, but some economic functions, such as agriculture and trading, both highly important activities in the Social life, seem to be open to the members of all caste groups.[1]

जब ब्राह्मण, क्षत्रिय भी शूद्रों की तरह कृषि और व्यापार में भाग लेते हैं, तब उच्च जातियों की श्रेष्ठता केवल जन्म के आधार पर ही सुरक्षित रह सकती थी। किन्तु जन्म से जातिवाद के कारण निम्न जातियों में असंतोष बढ़ता था क्योंकि भोजन, विवाह, आदि की दृष्टि से निम्न जातियाँ वहिष्कृत थीं अत: भारतीय समाज का सबसे बड़ा अंतर्विरोध यही जातिवाद था। पुराणों द्वारा किया गया एकता का प्रयत्न पर्याप्त नहीं प्रमाणित हो रहा था अत: छठी शताब्दी के बाद तंत्र-आगम साहित्य द्वारा उक्त प्रमुख अंतर्विरोध के विरुद्ध संघर्ष होता है। पुराण उदार और दूरदर्शी ब्राह्मणों द्वारा लिखे गए हैं किन्तु ब्राह्मण बढ़ते हुए अंतर्विरोध को देखकर केवल कुछ सुविधाएँ दे सकता था परन्तु निम्न जातियों को समानता नहीं दे सकता था अत: तांत्रिकों ने इस 'सुविधावाद' के विरुद्ध क्रान्तिकारी पथ अपनाया और सभी जातियों की समता की घोषणा की। यह घोषणा साधनाओं के माध्यम से प्रकट हुई है अत: तंत्रों में निम्न जातियों को ही अधिक पवित्र माना गया है, चंडालिनी, डोमिनी आदि की महिमा का यही कारण है। यद्यपि पुराणों ने तांत्रिकों की उपासना को स्वीकार कर लिया है परन्तु उसे वैदिक यज्ञयाग के बराबर महत्व मिल नहीं सकता था अत: स्वतंत्र रूप से इन साधनाओं का प्रचार आवश्यक था। तांत्रिकों में जातिवादी प्रवृति ही नहीं, ब्राह्मणों द्वारा प्रचारित प्रत्येक प्रकार के सिद्धांतों के विरुद्ध तीव्र घृणा मिलती है अत: प्रतिक्रिया की झौंक में, तांत्रिक, ब्राह्मणवाद के विरुद्ध सर्वथा विपरीत मार्ग ग्रहण करते हैं, यही 'वाममार्ग' है। "तुम जो कर रहे हो, उसके हम विपरीत करेंगे"—यह प्रवृत्ति तंत्रों की विशेषता है, इससे तांत्रिकों में असामाजिक घोर कृत्यों का भी विधान हुआ किन्तु इन सबको स्वीकार करने और 'वाम व्यवहार' के प्रचार का उद्देश्य ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह ही था जो साधनाओं में चरम सीमा पर पहुँचकर अत्यधिक 'रहस्यवादी' और भ्रष्ट रूप भी धारण कर लेता हैं।

दक्षिणपंथी (Rightist) ब्राह्मणों के विरुद्ध वाममार्गी (Leftist) प्रतिक्रिया बड़ी कठोर दिखायी पड़ती है। समाज के विकास पर ध्यान न रखने पर

(1) Society…R. M. Maciver, London, 1959, Page 357

वाममार्गी साधनाएँ भ्रष्ट दिखायी पड़ती हैं किन्तु उनका आग्रह जातिवाद के विरोध पर रहा है, यह तथ्य सम्मुख आते ही हम उनका सामाजिक योगदान समझ सकते हैं।

इसके सिवाय तांत्रिकधाराओं की वाममार्गी साधना विभिन्न रूपों में दक्षिणपंथी ब्राह्मणवादी सम्प्रदायों को भी प्रभावित करती है। तांत्रिकों में वैष्णव तांत्रिक ब्राह्मण-परंपरा के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। वैष्णवागमों में केवल ब्राह्मणों को ही दीक्षा देने का विधान है किन्तु 'भक्ति' का अधिकार जातियों को दिया गया है। यही कारण है कि यामुनाचार्य ने पांचरात्र आगमों को स्वीकार किया था। शैव और शाक्त तंत्रों में दक्षिणपंथ और वामपंथ दो मार्ग हैं। दक्षिणपंथी ब्राह्मणवाद के निकट हैं किन्तु वाममार्गी घोर क्रान्तिकारी हैं। वाममार्ग के बढ़ते हुए प्रभाव को परवर्ती पुराणों में प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया गया है। विशेष रूप से श्रीमद्‌भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि में 'कृष्ण' के साथ 'गोपी—रति-विहार' का समूचा 'पैटर्न' तांत्रिक है। वाममार्ग का मर्म 'रागसाधना' है, अर्थात् राग के माध्यम से परमतत्व की प्राप्ति होनी चाहिए जब कि षड्दर्शनों में सर्वत्र 'रागदमन' का उपदेश दिया गया है। वाममार्गीयोग पतंजलि के योग-शास्त्र से भिन्न है, क्योंकि तांत्रिक योग 'नाड़ी योग' अथवा 'चक्र-योग' है जब कि 'योगशास्त्र' में 'चक्रसाधना' का कहीं उल्लेख नहीं मिलता अतः छटी शताब्दी के बाद 'चक्रसाधना', 'रागसाधना', मंत्रसाधना आदि का विकास ब्राह्मणवादी सम्प्रदायों के समानान्तर होता है।

इनमें तांत्रिकयोग अर्थात् चक्रसाधना तांत्रिक बौद्धों में 'यथावत्' स्वीकृत हुई है। देवताओं की मूर्ति, कवच, वस्त्र, वाहन, अस्त्र-शस्त्र आदि का ध्यान और 'युगनद्ध' शक्ति-शक्तिमान् की आराधना सभी तांत्रिक सम्प्रदायों में समान है। शक्ति-शक्तिमान् की एकता, उनके रमण-विलास, आदि का ध्यान वैष्णव परंपराओं में, प्रकारान्तर से स्वीकृत हुआ और 'राधा' की कल्पना करके, साधकों ने 'राधा-कृष्ण' के विलास का ध्यान प्रारम्भ किया फलतः सम्पूर्ण कृष्ण सम्प्रदाय का साहित्य तांत्रिक शक्ति-शक्तिमान् सिद्धान्त का ही विशिष्ट विकसित रूप है। मध्यकालीन वैष्णवों द्वारा उक्त तांत्रिक सिद्धान्त की स्वीकृति में बाधा इसलिए नहीं पड़ी कि स्वयं पांचरात्रआगमों में शक्ति-शक्तिमान् का सिद्धान्त स्वीकृत था। केवल आवश्यक 'मधुरता' का वहाँ अभाव था, उसे वाममार्गी शाक्त-शैव मतों से ग्रहण कर लिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में उक्त बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए तांत्रिक बौद्धमत तथा शैव-शाक्त मतों में प्रचलित 'वामसाधना' का विस्तृत विवरण दिया गया है। पाठक इससे राधा-कृष्ण सम्प्रदायों में प्रचलित 'रागलीला' और 'अनुरागलीला' में अद्भुत सादृश्य देख सकते हैं।

किन्तु सन्तकवियों, कबीर, दादू, नानक आदि के सम्प्रदायों में यह उक्त 'रागलीला' स्वीकृत नहीं हुई। इनमें तांत्रिक चक्र-साधना या तांत्रिक योग ही स्वीकृत हुआ है। हम कह चुके हैं कि 'चक्रसाधना' तांत्रिक बौद्धों में भी यथावत् स्वीकृत है अत: बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धों के माध्यम से यह 'चक्रसाधना' सिद्ध-कवियों की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। चूंकि बौद्धतांत्रिकों और शैव-तांत्रिकों की 'चक्रसाधना' में 'लतासाधना' प्रचलित थी और वह भ्रष्टाचार की सीमा का स्पर्श कर चुकी थी अत: गोरखपंथियों ने 'रागसाधना' को निकाल फेंका और 'रागदमन' के आधार पर 'चक्रसाधना' स्वीकार की, यही दृष्टि संत-कवियों में मिलती है फिर भी बौद्धतांत्रिकों की चक्र-साधना, शब्दसाधना, ध्यानप्रक्रिया तथा प्रतीक आदि संत-काव्य में स्वीकार किये गए हैं। संतकाव्य की कथन-पद्धति पर भी बौद्धतांत्रिकों का प्रभाव है। प्रतीकात्मक पद्धति, विपरीत कथन पद्धति का तांत्रिक रूप संत-काव्य में यथावत् सुरक्षित मिलता है। लोकभाषा में, लोकछन्दों में कहने की प्रवृत्ति संतों ने सिद्धों और नाथों से ही ग्रहण की थी। इसके सिवाय अनलंकृत अनगढ़ भाषा का प्रयोग भी तांत्रिक परंपरा में प्रचलित था जो संस्कृत काव्य के समानान्तर एक विशिष्ट लोककाव्य के आधार पर विकसित हो रहा था, यह विकास संत-काव्य में आकर पूर्ण हो जाता है।

संतों की सामाजिक दृष्टि शुद्ध तांत्रिक है। जिस प्रकार तांत्रिकों ने ब्राह्मण-वादी, जातिप्रथा, वर्णवाद, वैदिकता, ऊँच-नीच, छुआछूत, स्थूल नैतिकता, स्मृतियों के आधार पर कर्म-वितरण आदि का घोर विरोध किया है, उसी प्रकार संतकवियों ने इन प्रवृत्तियों का विरोध किया है। कबीर, तुलसी और सूर की तरह निम्न जातियों को केवल सुविधाएँ नहीं देते, पूर्ण साम्य और सम्मिलन का उपदेश करते हैं अत: संत-काव्य और संत-साधना तांत्रिक-साधना का ही ऋणी है।

संतकवियों के विपरीत कृष्णसम्प्रदाय और रामसम्प्रदाय के भक्तकवि तंत्रों की 'रागसाधना' को स्वीकार करके भी, समाज के प्रति विद्रोही दृष्टि नहीं अपनाते। छठी शताब्दी के पश्चात् भक्ति और योग आन्दोलनों के रूप में निम्न जनता का

जो असंतोष व्यक्त हो रहा था, तथा मुसलमानों के शासन के कारण जो हिन्दुओं के शिविर में 'समता' की ओर समाज उन्मुख हो रहा था, उसके कारण भक्त आचार्यों—रामानुज, रामानन्द, चैतन्य, वल्लभाचार्य आदि ने "जाति-पाँति पूछै ना कोई, हरि को भजै जो हरि को होई", का सिद्धान्त स्वीकार करके भी व्यावहारिक सामान्य जीवन में निम्न जनता के साथ 'एकता' को प्रोत्साहन नहीं दिया था। भक्तों की यह प्रवृत्ति कबीर, नानक, दादू आदि के सम्प्रदायों में पसन्द नहीं की जाती क्योंकि संत पूर्ण एकता चाहते थे जिसके लिए स्मार्त्तवैष्णव कभी प्रस्तुत नहीं हो सकते थे। भक्तकवि, तुलसी, सूर आदि कर्मकाण्डी मीमांसकों की तुलना में बहुत अधिक 'समतावादी' थे किन्तु संतकवियों की तुलना में वे केवल 'सुविधावादी' ही प्रतीत होते हैं। मुसलमानों की 'समता' का उदाहरण सम्मुख रहने पर यह स्पष्टत: प्रमाणित हो जाता है कि इतिहास संतकवियों की विचारधारा के साथ था अर्थात् तांत्रिकों ने 'समतावाद' का जो नारा लगाया था, वह इतिहास की गति में अधिक अनुरूप था। आज समाजवादी युग में तांत्रिकों का 'सामाजिक समतावाद' अत्यधिक प्रेरणाप्रद प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित तांत्रिक बौद्धमत, शाक्तमत, पांचरात्रमत तथा कश्मीरी शैवमत[1] के अनुशीलन से मध्यकालीन हिन्दी काव्य का मर्मोद्घाटन होगा, ऐसी आशा है। साथ ही भारतीय काव्य के विकास के साथ भारतीय समाज के विकास के 'संघर्षात्मक' और 'समन्वयात्मक' रूप की ओर ध्यान आकर्षित होगा, ऐसा विश्वास है। यदि प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित सम्प्रदायों को, सही परिप्रेक्ष्य में परखा जायेगा तो भारतीय काव्य - साधना और समाज पर अब तक अनुपलब्ध प्रकाश पड़ेगा, लेखक इसी विश्वास के साथ इस पुस्तक को प्रकाशित कर रहा है!

---

[1] परिशिष्ट में 'जैनतांत्रिक मत' पर भी प्रकाश डाला गया है।

तांत्रिक-बौद्धमत

सर्वचिन्तां परित्यज्य-दिनमेकं परीक्षयेत् ।
यदि न स्यात् प्रत्ययस्तत्र, तदामेतन्मृषा वचा ।

—सेकोद्देश्य टीका-नारोपा

सारी चिन्ताएँ छोड़कर, केवल एक दिन तंत्रसाधना का अभ्यास करो, यदि विश्वास न हो तो (समझना) मेरे ये वचन मिथ्या हैं !

तांत्रिक बौद्धमत

बौद्धधर्म में तांत्रिक तत्त्वों के विकास के दो कारण दिखायी पड़ते हैं; प्रथम—कठोर बौद्ध साधना के प्रति सहज जीवन की प्रतिक्रिया। द्वितीय—अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति और प्रदर्शन का मोह। इनमें प्रथम प्रवृत्ति सिद्धान्त और साधना की व्यावहारिकता से सम्बद्ध थी जब कि द्वितीय प्रवृत्ति धर्म के प्रचार और प्रभाववृद्धि से सम्बद्ध थी।

कभी वैदिक यज्ञों को लौकिक; अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति का उपाय समझा जाता था। उपनिषद् युग में संन्यास-धर्म द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त सम्भव मान ली गई थी। यज्ञ के स्थान पर तपस्या द्वारा ही सभी असम्भव सम्भव कार्य किये जाने लगे। सृष्टि में प्रत्येक कार्य तप द्वारा सम्भव है, ऐसा विश्वास अब तक प्रचलित है। तप एवं योग के सम्प्रदाय जो वैदिक-यज्ञवाद के समानान्तर विकसित हो रहे थे, उपनिषद्-युग में प्रकाश में आये। 'शिव' ऐसे ही तपस्वी एवं योगी थे, जिनकी साधना के कारण हीं यह सृष्टि चल रही है। तप तथा योग द्वारा ही सत्य की खोज हो सकती है,[1] कर्मकाण्ड, शास्त्रानुशीलन आदि क्रियाएँ केवल सहायक

---

1. Infact, the magic potency, formerly ascribed to the Sacrifice, now began to be attributed to asceticism. In the succeeding age the idea that the universe was founded and maintained throngh Sacrifice sipped into the background, in its place it was widely believed that the universe depended on the penances by the great lord Shiva, meditating for ever in the fastnesses of the Himalayas and on the Continued austerities of his human followers.—The wonder, that was India,

   A. L. Basham London 1953

हैं, ऐसा विश्वास तपस्वियों, योगियों एवं रहस्य शोधकों में प्रचलित हो गया। बौद्ध-साधकों के पूर्व जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हो चुके थे, उनमें तप तथा योग की ही बहुलता थी, कर्मकाण्ड को तो बौद्धों के अतिरिक्त अन्य अनेक सम्प्रदाय भी अस्वीकृत कर चुके थे। कर्मकांड के स्थान पर तप और योग का बौद्ध-युग के पूर्व सर्वत्र प्रचार था।

बौद्धधर्म में भी तप एवं योग को स्वीकार किया गया, तुलनात्मक दृष्टि से यद्यपि जैनधर्म से बौद्धधर्म कहीं कम कष्टपूर्ण साधना को स्वीकार करता था, परन्तु फिर भी बौद्ध-साधना कठिन थी अतः भिक्षु-संघों के विकास के साथ संघों में गुह्य-समाजों का आंतरिक और गुप्त संगठन होने लगा जिनमें निर्वाण प्राप्ति के लिए भोगमय जीवन को स्वीकार किया गया, साथ ही जनता को आकर्षित करने एवम् व्यक्तिगत प्रभाव वृद्धि के लिए लोकोत्तर शक्तियों के प्रदर्शन भी होने लगे।

डॉ० बी० भट्टाचार्य ने तो स्वयं गौतम बुद्ध को तांत्रिक तत्त्वों का समर्थक सिद्ध किया है, उनके अनुसार बुद्ध ने 'इद्धियों' की प्राप्ति को उचित कहा था यद्यपि वह इनके प्रदर्शन पर क्रोधित होते थे।[१] 'तत्त्व-संग्रह' में शांतरक्षित तथा व्याख्याकार कमलशील ने स्पष्टतः बुद्ध को तंत्र का प्रवर्तक कहा है।[२] धर्म से अभ्युदय तथा कल्याण होता है, ऐसा सभी मानते हैं और इसीलिए मंत्र एवं योगादि से प्रज्ञा, आरोग्य, विभुत्व आदि की प्राप्ति कही गई है, जो विधेय है।

डॉ० भट्टाचार्य का विचार है कि गौतम बुद्ध एक चतुर संगठन-कर्त्ता एवं धर्म-प्रचारक थे अतः उन्होंने निम्न जनता को आकर्षित करने के लिए लोकोत्तर

---

१. इद्धियाँ चार हैं—(१) चन्द (२) वीर्य (३) चित्त (४) विमांस। चुल्लवग्ग (५-८) में बुद्ध एक चन्दन के प्याले के लिए चमत्कार दिखाने पर भारद्वाज नामक साधक पर क्रोधित होते हैं—'साधन-माला'—(पृष्ठ ६०५) द्वितीय पुस्तक—गायकवाड़ ओ० सीरीज

२. यतोऽभ्युदय निष्पत्तिर्यतो निःश्रेयसस्य च।
स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरेव विचक्षणैः
तदुक्तमन्त्र योगादि नियमाद्विधिवत्कृतात्।
प्रज्ञारोग्यविभुत्वादिदृष्टधर्मोऽपि जायते।—तत्त्वसंग्रह पृष्ठ ६०५

शक्तियों की प्राप्ति एवं प्रदर्शन को स्वीकार कर लिया था[1] परन्तु डॉ० शशिभूषण दास गुप्त इस मत को स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में यौन-तत्त्व (Sex-element) तथा अन्य तांत्रिक तत्त्व मिल जाते हैं परन्तु इनसे यह प्रमाणित नहीं होता कि गौतम बुद्ध एक चालाक और चतुर संगठन-कर्त्ता के रूप में इन्हें स्वीकार करते थे।[२]

वस्तुस्थिति यह थी कि योग स्वयं एक रहस्यमय मार्ग है। गौतम बुद्ध योगी थे अतः उनके योग का जो विकास आगे शताब्दियों में हुआ उसमें तांत्रिक-योग को सहज ही स्थान मिल गया। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी गौतम की विचार-पद्धति एक सीमा तक रहस्यमय थी। अनेक प्रश्नों का उत्तर गौतम मौन द्वारा दिया करते थे अतः महायानियों ने उनके मौन से प्रारम्भिक बौद्धमत (हीनयान) के सर्वथा विपरीत मतों का आविष्कार कर लिया। गौतम बुद्ध के जीवन को दो भागों में विभाजित किया गया। प्रथम—भिक्षु जीवन, जिसमें उनका उपदेष्टा रूप है। द्वितीय—प्रारम्भिक भोगमय जीवन। आगे के तांत्रिकों ने कपिलवस्तु के भोगमय जीवन की दार्शनिक व्याख्या करके उसे ही उच्चतम साधनात्मक जीवन स्वीकार किया और दूसरे भिक्षु जीवन को बाह्य तथा निम्नकोटि की जनता के लिए आदर्श माना। इस प्रकार चाहे स्वयं गौतम बुद्ध ने जान बूझकर अलौकिक शक्तियों और सिद्धियों की प्राप्ति का विरोध किया हो परन्तु उनके जीवन, विचार-पद्धति तथा साधना में अनेक रहस्यमय तत्त्व थे जिन्हें आधार बनाकार लोकोत्तरवादियों ने तांत्रिक-योग का विकास किया।

हीनयान-मत का रूपान्तरण

महायानमत के तांत्रिक-बौद्ध मत(वज्रयान, सहजयान) में रूपान्तरण को समझाने के लिए यह आवश्यक है कि संक्षेप में हीनयानमत एवं महायानमत का सम्बंध स्पष्ट कर लिया जाय। इस सम्बध को स्पष्ट करने के लिए बौद्ध-धर्म के प्रारम्भिक विकास को तीन सोपानों में विभाजित किया जा सकता है।[3]

1 An introduction to Budhist Esoterism—Page. 26·27

2 Obscure Religious cults—S. B. as Gupta—Calcutta University (introduction).

3 Mahayan Buddhism and its relaton to Hinayana, N. Dutta—London 1930

१. शुद्ध हीनयानमत—४५० ई० पूर्व से—३५० ई० पूर्व तक

२. मिश्रित हीनयानमत—३५० ई० पूर्व से—१०० ई० पूर्व तक

३. महायानमत का प्रारम्भ एवं विकास—१०० ई० पूर्व से—३०० ईसा के पश्चात् तक

प्रथम युग में बौद्धमत केवल नगरों तक ही सीमित था। भिक्षुओं के अतिरिक्त सामान्य जनता संघ से अलग थी, वह बौद्धधर्म की सहायता कर सकती थी किन्तु उसकी सहायता प्राप्त नहीं कर सकती थी। 'प्रज्ञापारमिता', जो कि महायानधर्म तथा तांत्रिक बौद्धमत की आधार थीं, अभी अस्तित्व में नहीं आयी थीं। जीवन का उद्देश्य केवल अर्हत् होना था, बुद्धत्व प्राप्त करना भिक्षुओं का उद्देश्य न था। अनात्मवाद, दु:खवाद, क्षणिकवाद तथा इच्छा का नाश ये मूल सिद्धान्त थे। चार आर्यसत्यों का प्रचार था। निर्वाण से क्लेश का नाश होता है, विश्राम एवं चित्त की शांति प्राप्त होती है, ऐसा विश्वास था।

मिश्रित हीनयान मत—(३५० ई० पूर्व—१०० ई० पूर्व) गौतम बुद्ध के १०० वर्ष पश्चात् वैशाली में बुद्ध संघ की दूसरी सभा हुई। इसमें भिक्षुओं का एक दल (सम्भवतः महासांघिक) प्राचीनतावादी भिक्षुओं से अलग हो गया। महासांघिक संघ-नियमों को सरल और सुविधाजनक बनाना चाहते थे तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी ये मतभेद रखते थे। अबतक अभिधर्म, अवदान तथा जातक साहित्य का परंपरावादी (थेरावादी) भिक्षुसंघों के क्रोड़ में जन्म हो चुका था। बुद्ध के अनेक जन्मों और त्यागपूर्ण कथाओं का प्रचार हो रहा था। पारमिताओं का भी विकास हो रहा था। पारिमिताएँ १० हैं—दान, शील, प्रण, वीर्य, क्षान्ति सत्य, अधिष्ठान, मैत्री, उपेक्षा तथा निखम्मा (संन्यास लेना) प्रारम्भ में पारमिताएँ ६ थीं परन्तु स्वयं थेरावादियों ने सत्य, अधिष्ठान, मित्रता एवं निखम्भा जोड़ दीं। आगे चल कर महायानमत में इस १० पारमिताओं की महिमा बहुत अधिक बढ़ गई।

थेरावादियों की ही एक शाखा 'सर्वास्तिवादी' कहलायी। सर्वास्तिवादी एव महासांघिक (जो सर्वास्तिवादियों से भी अधिक उदारतावादी थे) पारमिताओं पर अधिक बल देते थे। यह स्मरणीय है कि उत्तरी भारत में सर्वास्तिवादियों का ही प्रभाव अधिक था, मथुरा तथा कश्मीर इनके प्रभाव-केन्द्र थे। कामरूप, मालवा तथा

तुषार कंद तक इनका प्रभाव फैल रहा था। थेरावादियों का प्रभाव मगध तथा उज्जैन तक ही सीमित रहा।

महासांधिकों का केन्द्र यद्यपि वैशाली में था, परन्तु इस का प्रचार उत्तर व दक्षिण में भी हुआ था। सबसे प्रसिद्ध महासांघिक केन्द्र 'धान्यकटक' था। गंटूर जिले में कृष्णा नदी पर यह स्थान बाद में महायानमत का मुख्य केन्द्र रहा और तांत्रिक धर्म के प्रचार का मुख्य स्रोत बना। महासांधिकों की एक शाखा लोकोत्तर बुद्ध में विश्वास करती थी और अर्हंत पद-प्राप्ति के स्थान पर 'बुद्धत्व' प्राप्ति को उच्चतर उद्देश्य मानती थी। बुद्धत्व-प्राप्ति को वह प्रेरणा भी सम्भवतः सर्वास्तिवादियों से प्राप्त हुई थी[1] क्योंकि थेरावादी एवं सर्वास्तिवादी दोनों सम्प्रदाय बुद्ध के लोकोत्तर गुणों पर इतना अधिक बल देते थे कि महासांधिकों ने बुद्ध को लोकोत्तर बुद्ध के रूप में स्वीकार किया। बुद्ध साधारण मनुष्य न हो कर अलौकिक शक्ति के रूपमें स्वीकृत हो गए। सर्वास्तिवादियों ने काया-सिद्धान्त की भी चर्चा की है, जिसका महायान एवं तांत्रिकमत में महान आदर है। सर्वास्तिवादी रूप-काया एवं धर्म-काया को मानते थे परन्तु इनके अर्थ महायानी अर्थों से भिन्न हैं। 'शून्य' शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम सर्वास्तिवादियों ने ही किया है। परन्तु सिद्धान्ततः सर्वास्तिवादी बाह्यपदार्थों की सत्ता पर विश्वास करते थे और इस पर अधिक बल देने के कारण महायान मतावलम्बियों ने प्रतिक्रियावश सारे बाह्य पदार्थों को शून्य घोषित किया। बाह्य पदार्थों के अतिरिक्त आंतरिक पदार्थों को भी 'शून्य' घोषित किया, महायानमत में ब्राह्मण-भिक्षुओं ने उपनिषदों के अध्ययन के फलस्वरूप 'सत्ता' एवं आत्मा को अवाङ्मनसगोचर सिद्ध किया और बाह्यपदार्थों की सत्ता प्रमाणित नहीं होती, यह स्पष्ट स्वीकार किया अतः उन्होंने 'शून्य' शब्द का व्यवहार करना प्रारम्भ किया।

थेरावादियों एवं सर्वास्तिवादियों द्वारा स्वीकृत पंचस्कन्ध, धातु, आयतन, आर्यसत्य आदि को महायानियों ने स्वीकार किया परन्तु उन्हें व्यावहारिक सत्य (संवृत सत्य) माना और पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के लिए वाह्य साधना को सोपान के रूप में स्वीकार कर लिया। प्रज्ञापारमिता के विकास में सर्वास्तिवाद ने ही अधिक कार्य किया था। उड़ीसा में इनका केन्द्र था, यहीं से महायान ने

---

१ द्रष्टव्य—Mahayan Buddhism and its relation to Hinayana--N. Dutt

प्रेरणा ली, प्रज्ञापारमिता को स्वीकार कर दक्षिण में इन्होंने महायानमत का विकास किया। नागर्जुन (द्वितीय शताब्दी के लगभग) ने भी धान्यकटक में साधना की थी, जो तंत्र का सर्व-प्रथम आचार्य माना जाता है। अत: यह कहा जा सकता है कि बौद्ध तांत्रिक मत का प्रारम्भिक केन्द्र दक्षिण-प्रदेश ही था।

महायानमत में सर्वास्तिवादियों के सिद्धान्त एवं शब्दावली के भिन्न अर्थ ग्रहण किये गए। रूपकाया, निर्माणकाया तथा संभोगकाया ये सांवृतिक (व्यावहारिक) कायाओं के नाम हैं। धर्मकाया ही पारमार्थिक काया है। 'धर्मकाया' ही उपर्युक्त तीनों का आधार है। बुद्ध अनेक हैं। प्रत्येक की संभोग काया अलग-अलग होती है। परन्तु सबकी धर्मकाया एक है। धर्मता अज्ञेय तत्त्व है अत: शून्य है, उसे वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता। बुद्ध इसी धर्मता का प्रतिबिम्ब है। शाक्यमुनि ही बुद्ध थे—उनके अनेक नाम हैं—स्वयंभू, नायक, वृषभ, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, सोम, भास्कर, राम, व्यास, शून्यता, तथता, भूतकोटि, निर्वाण, सर्वज्ञ आदि। बुद्ध न दृश्य हैं न अदृश्य हैं, वह 'मनोरमधर्मकाया' हैं।[1]

सर्वास्तिवादियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों काया, शून्य आदि शब्दों का अर्थ जिस प्रकार महायान ने बदला, उसी प्रकार 'निर्वाण' का अर्थ भी परिवर्तित होने लगा। महायानमत के अनुसार 'निर्वाण' का अर्थ हीनयानी 'उच्छेद' लेते हैं, परन्तु महायान उच्छेदवादी नहीं हैं, वे 'निर्वाण' का वर्णन भी 'अज्ञेय-स्थिति' के रूप में करते हैं। यही शून्यावस्था है। जिस 'आत्मा' का खंडन महायानी करते हैं, उसका अर्थ है 'चेतना की क्षणिक स्थिति' (Transitory Consciousness)। इसका नाश (उच्छेद) आवश्यक है। तभी निर्वाण प्राप्त हो सकता है। चूँकि बौद्धों के समय 'आत्मा' का अर्थ उपनिषदों के प्रभाव के कारण इतना अधिक सामान्य हो गया था कि उसका खंडन आवश्यक था, परन्तु

---

(१) नागार्जुन 'धर्मकाया' का वर्णन अज्ञेयवादी के समान करते हैं, निषेधवादी की तरह नहीं, वह पदार्थों के अस्तित्व का निषेध करके अज्ञेय सत्ता की ओर संकेत करते हैं, वज्रयानियों ने आगे चलकर स्पष्टत: 'सत्ता' को स्वीकार किया—

It is by denial of the existence of unreal things, including the so called . Tathagata, that he (Nagarjun) points out towards the reality-the real Tathagata—the Dharm Kaya.

इस खंडन के द्वारा महायानी चेतना के उच्छेद में विश्वास नहीं करते, केवल चेतना के सम्बंध में सामान्य जनता के भ्रम का निराकरण करते हैं, इस प्रकार महायानमत द्वारा प्रतिपापित 'निर्वाण' और वेदान्तियों की जीवन्मुक्ति अवस्था एक हो जाती हैं।

बुद्धत्वप्राप्ति के लिए काया सिद्धान्त एवं निर्वाण सिद्धान्त का उपयुंक्त विशेषरूप ३०० ई० पूर्व से १०० ई० पूर्व तक विकसित हुआ। 'प्रज्ञापारमिता' को इनका आधार बनाया गया, साधना के क्षेत्र में पंचध्यानी बौद्धों एवं बोधिसत्वों का आविष्कार भी इसी युग में हुआ। किन्तु महायान के इन सिद्धांतों का निश्चित रूप आगे के युग में प्राप्त होता है।

तृतीययुग—(१०० ई० पूर्व से ३०० ई० के पश्चात् तक)

महायानमत में बोधिचित्, दशभूमि, बुद्धत्व, त्रिकाया, बोधिसत्व तथा धर्म-शून्यता या तथता इन तत्त्वों को आधार माना जाता है।

महायानमतानुसार आवरण दो हैं, I क्लेषावरण II ज्ञेयावरण। पुद्गल-शून्यता एवं धर्म-शून्यता से इनका नाश सम्भव है। हीनयानी केवल क्लेषावरण का ही नाश करते हैं। वे ज्ञेयावरण का नाश नहीं कर सके। अतः वे हीन हैं। ज्ञेयावरण का नाश प्रज्ञापारमिताओं के ज्ञान से होता है।[1]

---

१ प्रज्ञापारमिता साहित्य विशाल है। इसी पर महायान आधारित है। इनमें असृष्टसहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता प्रारम्भिक है। तत्पश्चात् पंचविंशतिसहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता तथा शतसहस्त्रिका-प्रज्ञापारमिता का विकास हुआ। कनिष्क के के समय बौद्ध-सभा में सम्भवतः प्रज्ञापारमिता को स्वीकृति मिली, यद्यपि प्रज्ञा-पारमितासाहित्य की सत्ता ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में मिलती है। चीनीभाषा में पंचविंशति प्रज्ञापारमिता का अनुवाद २८६ ई० में हुआ।

यद्यपि पारमिताओं में आर्यसत्य, त्रयरत्नशरण, ५ प्रकार के ध्यान (Vision) ६ अभिज्ञान एवं १६७ दर्शनमार्गों का उल्लेख है परन्तु ये सब बाह्य-साधनाएँ और विश्वास व्यावहारिक सत्य माने जाते हैं। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए ये आवश्यक शर्तें नहीं हैं। ज्ञाता एवं ज्ञेय का भेद जबतक रहेगा तब तक तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता अतः ज्ञेयआवरण भी नष्ट करना होगा। प्रज्ञा-पारमिता साहित्य का मुख्य संदेश यह है कि हीन यानियों में प्रचलित विधि-निषेध (नीति शास्त्र), ध्यान-प्रक्रियाएँ, शास्त्रानुशीलन, आदि सत्ताहीन (Non-existent) हैं, ये आकाश-कुसुम के समान है, बाह्य धार्मिक क्रियाओं तथा

'प्रज्ञापारमिता' पर आधारित महायानमत में एक और क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। महायान में 'बोधिसत्त्व' का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया। आदि बुद्ध से पंचध्यानी बुद्ध और पंचध्यानी बुद्धों से अनेक बोधिसत्त्वों का जन्म होता है। बोधिसत्त्व केवल अपनी मुक्ति का प्रयत्न नहीं करते, वे सारे जगत को मुक्त करके मुक्त होना चाहते हैं।

हीनयानमत में दो यान (सम्प्रदाय) थे। (१) श्रावकयान (२) प्रत्येकयान। श्रावक बुद्ध के उपदेश सुन सकते थे परन्तु उन्हें बिना किसी 'बुद्ध' की सहायता के निर्वाण नहीं मिल सकता था। अतः श्रावक बुद्ध की प्रतीक्षा-काल में उपदेश देते थे, त्यागमय जीवन व्यतीत करते थे परन्तु अन्य लोगों को मुक्ति-प्राप्ति में कोई सहायता न दे सकते थे क्योंकि वे स्वयं बुद्ध पर अवलम्बित थे। 'प्रत्येक-बुद्ध-यान' में प्रत्येक बुद्ध बिना गौतम बुद्ध की सहायता के ही मुक्ति प्राप्त कर सकते थे। परन्तु वे दूसरों को मुक्ति दिलाने में असमर्थ थे। परन्तु महायान ने बोधिसत्त्वों की कल्पना

विश्वासों के अभ्यास के समय यह तथ्य यदि ध्यान में न रखा जाएगा तो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रज्ञाप्राप्ति ही मुख्य हैं, वह सर्वदा बाह्य उपायों से प्राप्त होती हो, यह आवश्यक नहीं। हीनयानी आचारों की नश्वरता में विश्वास नहीं करते अतः वे हीन हैं। महायानी दृश्य एवं द्रष्टा के भ्रम से ऊपर उठते हैं। केवल चित्त शुद्धि के लिए ही आचारों को आवश्यक मानते हैं। बाह्य आचारों से चित्तोत्पादन होता है, चित्त शुद्धि होतीं है, बोधि प्राप्त नहीं होती। (द्रष्टव्य—पंचविंशति प्रज्ञापारमिता—सम्पादक नलिनाक्षदत्त—भूमिका भाग १९३४-कलकत्ता)।

प्रज्ञापारमितासाहित्य में सूत्र, कारिका एवं टीका ये तीन भाग हैं। कारिका का लेखक मैत्रेयनाथ था, जिसका समय निर्धारित नहीं है। तारानाथ के अनुसार तुषित स्वर्ग में असंग ने मैत्रेय से प्रज्ञापारमिता सूत्र पढ़े थे और असंग ने उनका मनुष्यों में प्रचार किया। सिंहभद्र की साक्षी पर नलिनाक्षदत्त ने लिखा है कि मैत्रेय ने प्रज्ञापारमिता सूत्रों पर कारिकाएँ लिखीं थीं, सूत्र उसके भी पूर्व विद्यमान थे। असंग, वसुबंधु, विमुक्तसेन आदि ने टीकाएँ लिखीं। ८ वीं ९ वीं शताब्दी (तांत्रिक-युग) में प्रज्ञापारमिता साहित्य का अपरिमित प्रचार हुआ, क्योंकि इसमें तत्वज्ञान मुख्य था, बाह्य आचार-अनुशीलन आदि गौण। पंचविंशति प्रज्ञापारमिता में मैत्रेयनाथ की कारिकाओं पर टीका भी है।

की ओर बताया कि बोधिसत्त्व स्वयं मुक्त हो सकते हैं और दूसरों को भी मुक्त कर सकते हैं। बोधिसत्त्व करुणा एवं कृपा भाव के कारण सारे जगत की मुक्ति में लवलीन रहते हैं, वे इतने कृपालु हैं कि जगत का उद्धार किये बिना वे स्वयं अपनी मुक्ति नहीं चाहते। यह आदर्श महान था। तृतीय शताब्दी (ई० के पश्चात्) तक इस बोधिसत्त्वयान का विकास हो चुका था अतः इस समय तक हमें श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान एवं बोधिसत्त्वयान (महायान) इन तीन धाराओं की प्रमुखता मिलती है।

इस प्रकार व्यक्तिगत मुक्ति के प्रयत्न में लीन हीनयान समष्टिगत मुक्ति की चेष्टा में तत्पर हो गया। जीवों पर अखिलकरुणा एवं ज्ञान (प्रज्ञा-प्रज्ञापारमिताओं के अनुशीलन से प्राप्त) ये तत्त्व महायान की अपनी विशेषताएँ हैं, हीनयान इस प्रकार महायान में रूपान्तरित हुआ। सिद्धान्ततः इस रूपान्तरण को इस प्रकार विभाजित किया जाता है—१ सर्वास्तिवाद २ वैभाषिक ३ योगाचार या विज्ञानवाद ४ माध्यमिकमत या शून्यवाद। अद्वयवज्र के अनुसार वैभाषिकमत का श्रावकयान एवं प्रत्येक-बुद्ध-यान मानता था। महायान दो प्रकार का है १ पारमितानय (प्रज्ञापारमिता पर आधारित) २ मंत्रानय (मंत्र को महत्व देने वाला)। पारमिता को योगाचार, सौत्रांतिक, माध्यमिक सभी मानते हैं परन्तु मंत्रयान को योगाचार तथा माध्यमिकमत ही मानते हैं। उपर्युक्त चार सिद्धान्तों में तांत्रिक बौद्धमत विज्ञानवाद एवं माध्यमिकमत या शून्यवाद से प्रभावित हुआ है। सौत्रांतिक और वैभाषिकों मत तांत्रिक को स्वीकृत नहीं हैं। अतएव दार्शनिक दृष्टि से तांत्रिक बौद्धमत विज्ञानवादी तथा शून्यवादी है तथा महायानमत की मंत्रयान शाखा के रूप में स्वीकृत है। यह स्मरणीय है कि तांत्रिकों की साधनाओं ने उनके सिद्धान्तों को भी प्रभावित किया है, जिन्हें हम यथास्थान देखेंगे।

तांत्रिक बौद्धमत का विकास—यद्यपि तांत्रिक बौद्धमत का निश्चित स्वरूप मंत्रयान की परंपरा में विकसित 'वज्रयान और सहजयान' में मिलता है परन्तु इसका प्रारम्भ सम्भवतः गौतमबुद्ध के पश्चात् शीघ्र हीं हुआ होगा क्योंकि रहस्यमय तत्त्व गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों में अनेक थे। फिर भी यत्रतत्र विकीर्ण प्रमाणों को छोड़कर वज्रयान के पूर्व तंत्र की कोई निश्चित रूपरेखा बौद्ध साहित्य में नहीं प्राप्त होती। किन्तु ईसा के आसपास बौद्ध साहित्य में तांत्रिक तत्त्व प्राप्त होने लगते हैं।

डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार 'विद्याधर पिटक' नामक महायानी ग्रन्थ में सर्वप्रथम तांत्रिक तत्त्व मिलते हैं। परन्तु यह अप्राप्य है।[1] 'सुखावती-

१ साधनमाला—पुस्तक २

व्यूह' या 'अमितायुससूत्र' में[1] अमिताभ तथा अवलोकितेश्वर की चर्चा है। इस ग्रन्थ पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट है।

'मंजुश्रीमूलकल्प'[2] में यद्यपि पीछे से बहुत मिश्रण प्रतीत होता है परन्तु मूल-रूप में यह निश्चित रूप से ईसा के आसपास की ही रचना है। आचार्य विनयतोष इसे २०० ई० की रचना मानते हैं। इस ग्रन्थ में तंत्र का प्रारम्भिक रूप मिलता है। इसमें शाक्यमुनि एवं मंजुश्री से संवाद रूप में मंत्र-साधना का विस्तृत वर्णन है। यक्ष, यक्षिणी आदि की साधनाओं के वर्णन हैं, स्त्री को साधना में उपकारी बताया गया है। मुद्रा, मंडल, अभिषेक अभिचार आदि सभी कुछ यहाँ वर्णित है।[3] तारा, सुतारा, मामकी, पिशाच, गुह्यक, गणपति का उल्लेख है।

मंडल-निर्माण में तथागतों एवं वज्रसत्त्वों की अनेक मूर्तियों के निर्माण, कलश, धूपदीप, आलेखन, बलि, पटह-ध्वनि, मुद्रा-प्रदर्शन, पात्र आदि सभी तत्त्वों का विधान है।[4] एकादश पटल में स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री के सहचार से साधना होती है। यह भी कहा गया है कि दुराचार के लिए तंत्र-साधना नहीं है, न मूर्खों के लिए है, ज्ञानमंत्र तथा संयम से ही सिद्धि मिलती है।[5]

---

१ सुखावती व्यूह का चीनी भाषा में (४८ ई० पश्चात्) अनुवाद हो चुका था अतः यह निश्चित रूप से प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में लिखी गई होगी।

२ आर्यमंजुश्रीमूल कल्प—त्रिवेन्द्रम् सीरीज, गणपति शास्त्री, १९२०

३ मंजुश्री मूलकल्प का प्रारम्भ द्रष्टव्य है:— स्वागतं ते मंजु श्रीः। महासत्व चर्यासिवं बुद्ध अधिष्ठित निर्हार सर्वं बोधि सत्त्वार्थसप्रापक सर्वमंत्रपद सरहस्याभिषेक मुद्रामण्डल कल्याभिषेक आयुरारोग्यैश्वर्यं सर्वाशापरिपूरकः सर्वसाधनौपयिकतन्त्रज्ञान श्रेय कालान्तराधान...............अन्तर्द्धानाकाशगमन पादप्रचारिक मेधावीकरण आकर्षण पातालप्रवेशन आभिचारिक सर्वकामावाप्तिसङ्कुल यक्षयक्षिणी किङ्करपिशाच सर्वभूताकर्षण.........सर्वमनोरथपरिपूरक आभिचारक शान्तिकपौष्टिकेषु प्रकुर्वाणः (प्रथम परिवर्तः) प्रथम पुस्तक

४ आर्यमंजु श्री मूलकल्प—तृतीय पटल, (प्रथम पुस्तक)

५ संयता ब्रह्मसत्यज्ञा, गुरुदेवतपूजकाः, मातृपितृभक्तानां स्त्रीषु दुःखं न विद्यते।
दुःशीलस्य मुनीन्द्रेण, मन्त्रसिद्धिर्न चोदिता !
कुतः सिध्यन्ति मन्त्रा वै, वालिशस्येह कुत्सिते। एकादशपटल (प्रथम पुस्तक)।

मंजुश्री मूलकल्प से स्पष्ट है कि बौद्ध-तंत्र पर शैव प्रभाव था। विष्णु एवं रुद्र दोनों को बौद्ध तांत्रिक देवों के रूप में स्वीकार करते हैं।[१] शैव-तंत्र को अनुत्तर योग कहते हैं, मंजुश्री मूलकल्प में भी 'अनुत्तर' शब्द का प्रयोग प्राप्त है।[२] शाक्य-मुनि का स्पष्ट कथन है कि पूर्व कल्पों में शिव ने जिस मार्ग का उपदेश दिया है, उसी का उपदेश मैं कर रहा हूँ। मैंने पहले भी इसी मार्ग का उपदेश किया है [३] अन्यत्र कहा है कि शैवतंत्र में भी वस्तुतः मेरा ही उपदेश वर्णित है।[४]

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक तांत्रिक बौद्धमत गुह्य-शैव-सम्प्रदायों से प्रभावित रहा होगा अतः पीछे के बौद्ध-तांत्रिक शैवों से अपनी एकता घोषित करते हैं।

मंजुश्री मूलकल्प के सदृश सद्धर्मपुंडरीक में भी तांत्रिकतत्त्व प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित नहीं हैं परन्तु यह ईसा के आस-पास लिखा गया होगा, ऐसा विद्वानों ने स्वीकार किया है। इसमें भी मंजुश्री मूलकल्प की तरह मिश्रण मिलता है, बाद की शताब्दियों की अनेक बातें मिलती हैं, तथापि मूल रूप में यह ग्रन्थ प्राचीन है। कृष्ण के गीता का इस पर स्पष्ट प्रभाव है।

अशोक के पश्चात् ही ब्राह्मणधर्म एवं बौद्धधर्म परस्पर प्रभावित होने लगे थे। शुंगों के समय तक ब्राह्मण प्रबल हो गए थे, ब्राह्मण पौरोहित्य और बौद्ध पौरोहित्य जो मंदिरों, संघों तथा राज दरबारों पर अधिकार प्राप्त करने में परस्पर स्पर्धा में

---

१ रुद्रेणभाषिता ये मन्त्रा, विष्णुना ब्रह्मणा स्वयम्—मंजु श्री—द्वितीय पुस्तक। पृष्ठ ४४२

२ अनुत्तरं शब्दमित्याहुः, महाबोधिपथं पथम्—वही, पृष्ठ ४४२।

३ सर्वं शैवमिति ख्यातं, सर्वैर्भूतल वासिभिः।
मयैव निगदितं पूर्वं, कल्पेमस्मि सविस्तरे—मंजुश्री—द्वितीय पुस्तक पृष्ठ ५२३।

४ विविधा गुण विस्ताराः, शैवतन्त्रे मयोदिताः—प्रथम पुस्तक—पृष्ठ ३४
प्रो० कर्न के अनुसार मंजु श्री पर वैदिक अग्नि, श्री, क्षत्र श्री का प्रभाव रहा होगा—,
द्रष्टव्य — Manual of Indian Buddhism--Part I Page (101-134)

संलग्न था, अब अपने-अपने धर्मों को अधिक आकर्षित करने में दत्तचित्त हो गया था अतः इसी काल में ब्राह्मण-बौद्धों ने महायान बौद्धधर्म में गीता का अवतारवाद स्वीकार कर लिया, बोधिसत्वों के रूप में इस कल्पना को विस्तार मिला, उपनिषदों के 'ब्रह्म' की तरह 'बोधि', बुद्धत्व एवं निर्वाण का वर्णन होने लगा। कनिष्क के समय में जो चतुर्थ बौद्ध सभा हुई थी, उसमें महायान एक लघु सम्प्रदाय था परन्तु ईसा की द्वितीय शताब्दी के नागार्जुन तथा आर्यदेव ने माध्यमिकमत तथा तृतीय और चतुर्थ शताब्दी में असंग, वसुवंध आदि ने योगाचार मत के रूप में महायान का विकास किया और साधना के क्षेत्र में अवतारवाद, भक्तिवाद मंत्र, पूजा, मूर्ति-निर्माण आदि सभी तत्वों को स्वीकार कर लिया।[1] सद्धर्म-पुण्डरीक में हमें ब्राह्मण-धर्म के इसी प्रभाव का प्रारम्भिक रूप दिखायी पड़ता है।

'संद्धर्म पुंडरीक' में स्पष्ट कहा गया है कि जिनेन्द्र जीवों के सुखार्थ अवतार लेते हैं, नीच, उच्च सभी के उद्धार के लिए उनका अवतार होता है।[2] इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से अनेक देवताओं व बोधि सत्वों आदि की अवतारणा भी सहज हो गई और नाना देवताओं के ध्यान, मुद्रा, स्तोत्र, आदि की परम्परा के लिए मार्ग खुल गया।

---

१ प्रो० कर्न ने लिखा है कि नागार्जुन राहुलभद्र महायानी ब्राह्मण का शिष्य बतलाया गया है। यह ब्राह्मण कृष्ण व गणेश का ऋणी था। कर्न के अनुसार इस परंपरा से यह प्रमाणित होता है कि महायान मत गीता एवं शैवधर्म से प्रभावित हुआ था :—This quasi-historical notice reduced to its less allegorical expression, means that Mohayanism is much indebted to the Bhagvat gita and more even to Shaivism. Manual of Indian Buddhism, Page 122, Strassberg 1896.
सर चार्ल्स इलियट ने भी महायान सम्प्रदाय के सद्धर्मपुंडरीक पर गीता का स्पष्ट प्रभाव स्वीकार किया है—
Japanie's Buddhism—Page 29 London—1935.

२ (अ) अहं पि चैतर्हि जिनेन्द्र नायको उत्पन्न सत्त्वान सुखापनार्थम्।
संदर्शयामि इम बुद्ध बोधि, नानाभिनिर्हार सहस्र कोटिभिः।
(ब) तथागतोऽहं भगवान नामिभूः, संतारणार्थं इहं लोकि ज्ञातः!

जिस प्रकार गीता में समन्वय की प्रवृत्ति मिलती है, उसी प्रकार सद्धर्मपुंडरीक में उदारता, समता एवं परधर्मसहिष्णुता लक्षित होती है। साधना में सम्यक ज्ञान की आवश्यकता है, सिद्धान्तों के द्वन्द्वों और प्रपंचों में ही मूलरूप में धर्म का सार प्रतिष्ठित है, सभी धर्मों में यह सार रूप में तत्त्वज्ञान प्राप्त है।[1] इसी सारग्राहिता की प्रवृत्ति के कारण आगे के तंत्र-साहित्य में बौद्ध-साहित्य का श्रेष्ठतम अंश चुन लिया गया है।

सद्धर्मपुंडरीक में सुखावती स्वर्ग का भी वर्णन है।[2] अन्य स्वर्गों या लोकों में स्थित देवता मंत्र से वश में किए जा सकते हैं, यह विश्वास भी यहाँ प्राप्त होता है। मंत्र यहाँ धारणी के रूप में प्राप्त होते हैं। भक्तों ने पूछा कि हे भगवन्! इस सद्धर्मपुंडरीक को कायगत एवं पुस्तकगत कैसे करें? तो उत्तर मिला कि रक्षावरण-गुप्ति के लिए धारणीमंत्रों में यह शास्त्र सुरक्षित रहेगा[3] अत: धारणीमंत्र-पाठ से, लेखन से, स्मरण से, जाप से पूर्ण पुस्तक के पाठ का लाभ प्राप्त होगा। परन्तु धारणी मंत्र पदों की रचना बड़ी विचित्र है। और रहस्यमय है।[4] जनता में यह

(ख) संतर्पयामि इमु सर्वलोकं मेघो व वारि सम मुञ्चमान:।
आर्येषु नीचेषु च तुल्यबुद्धिर्दु:शीलभूतेष्वथ शीलवत्सु:।
सद्धर्मपुंडरीक—सम्पादक प्रोफेसर कर्न तथा
बी० नंजियो।
सेंटपीटर्सबर्ग—१९१२ ई०
(पृष्ठ ५४, १२८, १३७ क्रमश:)

सद्धर्म० का अनुवाद चीनी भाषा में ३०० ई० तक हो चुका था।

१ सर्वधर्मा: समा: सर्वे, समा: समसमा: सदा।
एवं ज्ञात्वा विज्ञानाति, निर्वाणममृतं शिवम्—सद्धर्म० पृष्ठ १४३

२ दिशि पश्चिम यत्र सुखकरा, लोकधातु विरजा सुखावती—पृष्ठ ४५५ (वही)

३ दास्यामो वयं भगवंस्तेषां कुलपुत्राणां कुलदुहितृणां वा येषामयं सद्धर्मपुंडरीको धर्मपर्याय: कायगतो वा स्यात्पुस्तकगतो वा रक्षावरणगुप्तये धारणीमन्त्र-पदानि। पृष्ठ ३९६ (वही)

४ एक धारणी द्रष्टव्य—ज्वले महाज्वले उक्के तुक्के मुक्के अडे अडावति नृत्ये नृत्यावति इट्टिनि विट्टिनि चिट्टिनि नृत्यनि नृत्यावति स्वाहा—पृष्ठ ३९८ (वही)

विश्वास उत्पन्न कर दिया गया कि केवल इनके जाप यज्ञादि से वह सभी फल मिलते हैं, जो तप एवं योग से मिलते हैं, बौद्धधर्म की कठोर साधना को इस प्रकार सरल किया जाने लगा।

सद्धर्मपुंडरीक में गौतम बुद्ध 'भैषज्यराज' के रूप में भी स्वीकृत हैं। आगे के तंत्रों में—शैवों—शाक्तों, बौद्धों सभी में तंत्रसाधना का सम्बंध औषधि-विज्ञान से भी रहा है। रसायन सम्प्रदाय का विकास सर्वप्रसिद्ध है। सद्धर्मपुंडरीक में इसके प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते हैं।[1]

भूत-प्रेत, राक्षस, राक्षसी, यक्षादि की साधना पर भी बल दिया गया है। महाराज 'विडूढक' (प्रसेनजित का पुत्र) की सभा में आकर भगवान कहते हैं—"अगणे गणे, गौरि, गन्धारि, चण्डालि, मातङ्गि पुक्कसि मंकुले वृमलि सिसि स्वाहा"[2]

अथर्ववेद के कई राक्षस-राक्षसियों का उल्लेख सद्धर्मपुंडरीक में मिलता है, उनको वश में करने का भी विधान है।[3] इसे देखकर स्पष्ट हो जाता है कि अथर्ववेद में प्रागैतिहासिककाल से प्राप्त तथा स्वीकृत लोक-साधना एवं विश्वासों को अथर्ववेद के पश्चात् तंत्रों ने अपने में समेट लिया, इसका अर्थ यह नहीं है कि तंत्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों पर इनका प्रभाव नहीं पड़ा।

जिस प्रकार शैव-शाक्त तंत्रों का जन्म शिव-उमा के संवाद के रूप में प्राप्त होता है उसी प्रकार बौद्धतंत्र देव-यक्ष-राक्षस, बोधिसत्त्वों आदि की सभा (संगीति) में भगवान बुद्ध के उपदेशों से होता है। इन सभाओं में भगवान

---

१ साधु साधु भैषज्यराज सत्वानामर्थः कृतो धारणीपदानि भाषितानि ··· पृष्ठ ३९७—३९८ (वही)

२ पृष्ठ ४०० (वही)

३ अथ खलु १ च नाम राक्षसी विलम्बा २ च नाम राक्षसी कूटदन्ती ३ च नाम राक्षसी पुष्पदन्ती ४ च नाम मकुटदन्ती ५ च नाम राक्षसी केशिनी.... (केशिनी अथर्ववेद की राक्षसी है)

इनको वश में करने का मंत्र देखिए :—इति मे इति मे इति मे इति मे इति मे। निमे निमे निमे निमे निमे। स्तुहे स्तुहे स्तुहे स्तुहे स्तुहे स्वाहा—पृष्ठ ४०२ (वही)

बुद्ध दुर्बोध 'संध्याभाषा' का प्रयोग करते हैं,[1] ताकि केवल मर्मज्ञ साधक ही उसका अर्थ समझ सकें, अन्य साधारण लोग धर्म को भ्रष्ट न कर सकें। अधिकारी भेद से अनेक उपायों का वर्णन शाक्यमुनि ने किया है, इनमें एक उपाय यह संध्या-भाषा द्वारा भी प्राप्त है।

सद्धर्मपुंडरीक के अतिरिक्त 'अमृतायुसध्यानसूत्र' में सम्मोहनजन्यध्यान (Hypnotic Vision) के द्वारा सुखावती स्वर्ग के दर्शन कराने की पद्धति का वर्णन है। वसुबंधु (चतुर्थ शताब्दी) के 'अमृतायुस सूत्र शास्त्र' में सुखावती स्वर्ग का वर्णन है इसमें तांत्रिक तत्त्व प्राप्त होते हैं।[2] 'करण्य व्यूह' में भी इसी परंपरा का विकास मिलता है। अवीचि नरक एवं सुखावती स्वर्ग का वर्णन यहाँ विस्तार से मिलता है। नारायण तथा रावण के नाम यहाँ प्राप्त होते हैं[3] गीता का इस ग्रन्थ पर भी प्रभाव है। अवलोकितेश्वर का विराट रूप में वर्णन किया गया है। अवलोकितेश्वर के अंग प्रत्यंग से ही सारे ब्रह्माण्ड का जन्म हुआ है।[4]

शैव-प्रभाव भी इस ग्रन्थ पर दृष्टिगोचर होता है। आकाश को लिङ्ग कहा गया है, पृथ्वी को उस लिङ्ग की पीठिका बताया गया है। लीला के कारण

---

१ दुर्बोध्यं शारिपुत्र तथागतस्य संधाभाष्यम्। तत्कस्यहेतोः। नानानिरुक्ति निर्देशाभिलापनिर्देशनैर्मया शारिपुत्र विविधैरुपाय कौशल्य शत सहस्रै-धर्मः संप्रकाशितः (सद्धर्म० पृष्ठ ३६)।

(2) The Religious quest of India--J. N. Frarquhar. 1920 Page. 158

(३) करण्य व्यूह—सत्यव्रत समश्रयी

प्रकाशक—जीवानन्द भट्टाचार्य १८७३ ई०

पृष्ठ—१०, द्वितीय अध्याय

(४) चक्षुषोश्चन्द्रादित्यावुतपन्नौ ललान्महेश्वरः, स्कन्धेभ्यो ब्रह्मादयो, हृदयान्ना-रायणो, दंष्ट्राभ्यां सरस्वती, मुखतो वायवो जाताः, धरणी पादाभ्याम्, वरुणश्चोदरात्।—वही

ही लिङ्ग कहलाता है ।[1] भगवान की लीला के लिए ही सृष्टि का निर्माण होता है। यह वैष्णवभाव भी यहाँ विद्यमान है[2] शैव, वैष्णव आदि धर्मों में जिस प्रकार अधिकारी भेद मिलता है, जिसके आधार पर प्रत्येक प्रकार की उत्कृष्ट निकृष्ट साधना-पद्धतियों को स्वीकार किया गया है, वह करण्य व्यूह में प्राप्त होता है। यहाँ स्पष्टतः कहा गया है कि जीव अनेक प्रकार के हैं अतः धर्म भी अनेक प्रकार के हैं। प्रत्येक बुद्ध प्रवृत्तिप्रधान जीवों के लिए भगवान प्रत्येक बुद्ध होकर उपदेश करते हैं, अर्हंत—प्राप्ति कर्त्ताओं के लिए अर्हंत होकर। शैव-भाव प्राप्ति-कर्त्ताओं के लिए महेश बनकर भगवान उपदेश देते हैं और नारायणभाव प्राप्ति-कर्त्ताओं के लिए भगवान विष्णु बनकर अवतरित होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मवादियों के लिए ब्रह्म एवं गणपति उपासकों के लिए भगवान गणेश का उपदेश करते हैं। सर्वत्र एक ही तत्त्व है जो अनेक अवतार और साधना-पद्धतियों को अधिकारी भेद से निश्चित करता है—

येन येन रूपेण वैंनेयाः सत्वाः तेन तेनःरूपेण धर्म्मंन्देशयति। तथागत वैनेयानां तथागतरूपेणधर्म्मंन्देशयति। प्रत्येकबुद्धवैनेयानां सत्त्वानां प्रत्येक बुद्ध-रूपेण धर्म्मंन्देशयति। अर्हत्व वैनेयानां सत्वानामर्हंत्रूपेण धर्म्मंन्देशयति……… महेश्वरवैनेयानां सत्वानां महेश्वररूपेण धर्म्मन्देशयति नारायण वैनेयानां सत्त्वानां नारायणरूपेण धर्म्मन्देशयति। ब्रह्म वैनेयानां सत्त्वानां ब्रह्मरूपेण……विघ्नपति वैनेयानां विघ्नपतिरूपेणधर्म्मन्देशयति (पृष्ठ २२)।

'करण्यव्यूह' में स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि असुर प्रवृत्ति प्रधान जीवों का उद्धार आसुरी-साधना से ही सम्भव है। कथा इस प्रकार है कि वज्रकुक्षि नामक गुहा में असुरों का निवास था। अवलोकितेश्वर ने असुर रूप धारण किया और उपदेश दिया।[3] उपदेश में देवताओं का ही ज्ञान था परन्तु वह दिया गया असुर बनकर अतः आसुरी-साधना अधिकारी भेद से गृहणीय है क्योंकि उसमें भी देव-साधना ही प्रच्छन्न रूप से वर्णित है। संध्याभाषा का भी यही उद्देश्य है।

---

(१) आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।
आलयः सर्वभूतानां, लीलया लिङ्गमुच्यते—वही

(२) एष कुलपुत्रावलोकितेश्वरः सुखावत्या लोकधातो रागच्छति, तस्यागच्छ भावस्येदं मया ईदृशं निमित्तं प्रादुर्भूतं दर्शितम्—वही पृष्ठ १७

(३) करण्य-व्यूह—पृष्ठ २३

करण्यव्यूह में अवलोकितेश्वर की प्राप्ति षडक्षरीमहाविद्या द्वारा बतायी गई है ![1] षडक्षरी महाविद्या के साथ भावनायोग अनिवार्य है अन्यथा मंत्र व्यर्थ है। मंत्र के साथ मंडल का भी वर्णन है। जप, मुद्रा, समाधि आदि का विस्तृत वर्णन है। धारणी मंत्रों का भी विस्तार है।

'करण्यव्यूह' में कहा गया है कि सामान्य जीवों के उद्धार के लिए यह मार्ग भगवान द्वारा निर्देशित है। दुष्टों, पापियों (असुरों) का भी इस साधना से उद्धार होगा।[2] इस प्रकार बौद्ध तांत्रिकमत भी शैव, वैष्णव एवं शाक्तमतों की तरह भगवान (अवलोकितेश्वर) के नाम के जप, करण्य व्यूहादि को पढ़कर, नरक यातना से बच सकता है और अन्त में अवलोकितेश्वर के लोक (सुखावती) को प्राप्त कर सकता है।

गंडव्यूह में भी मंजुश्री आदि देवताओं का वर्णन है। स्वर्णप्रभा तथा समाधिराज में देवियों, देवताओं को मंत्र साधना द्वारा प्राप्त करना सम्भव बताया गया है। ये स्पष्टतः तंत्र ग्रन्थ हैं।[3]

सद्धर्मपुंडरीक, सुखावतीव्यूह, करण्यव्यूह आदि ग्रन्थों में तांत्रिक साधना का जो प्रारम्भिक रूप मिलता है उसको सैद्धांतिक आधार नागार्जुन (द्वितीय शताब्दी) एवं आर्यदेव (तृतीय शताब्दी) असंग तथा वसुबंधु (चतुर्थ शताब्दी) से मिला T माध्यमिक (शून्यवाद) मत में प्रज्ञापारमिता—हृदयसूत्र, वज्रच्छेदिका—प्रज्ञापारमिता का विशेष महत्त्व है। अश्वघोष (महायान श्रद्धोत्पादसूत्र) तथा नागार्जुन (माध्यमिक कारिका) के सिद्धान्त प्रज्ञापारमिता सूत्रों पर ही आधारित हैं।

विज्ञानवाद तृतीय शताब्दी में मैत्रेयनाथ द्वारा प्रवर्तित हुआ। परन्तु इस सिद्धान्त का विकास असंग के 'महायानसूत्रालंकार', योगाचार-भूमिशास्त्र तथा वसुबंधु के परमार्थसप्तशती 'बोधिसत्त्वभूमि' आदि ग्रन्थों से हुआ।

---

(१) ओं मणिपद्मे हूं—यही षडक्षरी महाविद्या है।

(२) ये परदारप्रसक्ता औरम्भ्रिक कर्म्मोद्युक्ताः ये मातापितृघातका अर्हघात स्तूपभेदकास्तथागतस्यान्तिके दुष्टचित्तरुधिरोत्पादकाः । ईदृशानां पापरतानां सत्त्वानां तदपि कारण्य व्यूहो महायान सूत्ररत्नराजः सर्व्वपापपरिमोक्षणंकुरुते।

(3) Tne Religious quest of India—J. N. Frarquhar.

(४) असंग के 'महायान सूत्रालंकार' में यौन-योग (Sexo-yogic) के तत्त्व मिलते हैं। डॉ० शशिभूषण दास गुप्त के अनुसार तंत्र का प्रारम्भ नगार्जुन व असंग द्वारा हुआ—
An introduction to Tantric Buddhism-:-Calcutta-1950

शून्यवाद एवं विज्ञानवाद की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर तांत्रिक बौद्धमत का निश्चित स्वरूप 'तथागतगुह्यक' नामक तंत्र में मिलता है। आचार्य विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार इसका निर्माण तृतीय शताब्दी में हुआ।[1] इस तंत्र का प्रथमार्ध प्राचीन एवं उत्तरार्ध नवीन है। उत्तरार्ध में 'प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि' को मिला दिया गया है जिसका लेखक अनंगवज्र है (७ वीं शताब्दी)। तथागतगुह्य-समाज का आगे के तांत्रिकों में अत्यधिक महत्त्व रहा है। इस पर नागार्जुन द्वितीय (६१५ ई०) शांति देव (६९५ ई०) कृष्णाचार्य (७१७ ई०) लीलावज्र (७४१ ई०) रत्नाकर शांति (९७८ ई०) की टीकाएँ हैं। इन्द्रभूति, अद्वयवज्रादि ने इसका उल्लेख किया है। विनयतोष जी के अनुसार गुह्यसमाज से 'असंग' प्रभावित था क्योंकि उसने 'साधन' नामकग्रंथ में पंचध्यानी बुद्धों का शक्ति सहित उल्लेख किया है, मंडलों एवं मंत्रों का भी उसने उल्लेख किया है अत: गुह्यसमाज असंग से पूर्व का तंत्र होगा और मंजुश्री मूलकल्प के पश्चात् इसकी रचना हुई होगी। विनयतोष जी असंग का समय तृतीय शताब्दी मानते हैं और मंजुश्री मूलकल्प का समय निश्चित नहीं है क्योंकि उसमें मिश्रण बहुत है अत: तथागत गुह्यक (गुह्यसमाज) का निर्माण चतुर्थ शताब्दी तक हो चुका होगा, केवल यही निश्चित रूप से कहा जा सकता है।[2]

---

(१) तथागतगुह्यक—विनयतोष भट्टाचार्य, गायकवाड़ ओ० सीरीज, बड़ौदा श्री विंटरनित्स गुह्यसमाज व "तथागतगुह्यसूत्र" इन दो तंत्रों को अलग-अलग मानते हैं। उनके अनुसार गुह्यसमाज प्रारम्भिक तंत्र नहीं है और चतुर्थ शताब्दी से बहुत बाद का है।

(२) असंग व वसुबंधु का समय की विवादास्पद है। प्रो० कर्न के अनुसार वसुबंधु का समय ५ वीं शताब्दी है। उनके अनुसार वसुबंधु नालन्दा में अध्यापक भी था। Manual of Indian Buddhism Part I, Page 130)

प्रो० शर्वात्स्की भी वसुबंधु को ५ वीं शताब्दी का मानते हैं। इलियट असंग व वसुबंधु का २८०—३६० ई०—यह समय निर्धारित करते हैं।

Jappanie's Buddhism—Page 71

विनयतोष असंग का समय तृतीय शताब्दी मानते हैं—(तथागतगुह्यक, पृष्ठ १) वसुबंधु असंग का छोटा भाई था, अत: उसका समय कुछ वर्ष बाद माना जायगा। असंग व वसुबंधु का समय चतुर्थ शताब्दी मध्यभाग से पाँचवीं शता० के पूर्वभाग तक मान सकते हैं।

'तथागत गुह्यक' एक संगीति है अर्थात् बुद्ध ने इसमें तथागतों, ध्यानीबुद्धों, शक्तियों आदि के बीच उपदेश दिया है। हीनयान एवं महायानमतों में भी संगीतियों का उल्लेख है, परन्तु उनमें केवल भिक्षु तथा बोधिसत्त्व ही सभासद बनते हैं। तांत्रिक संगीतियों में ध्यानी बुद्ध एवं शक्तियाँ (स्त्रियाँ) भी रहती हैं अतएव गुह्यसमाज एक 'तांत्रिक संगीति' हैं। तांत्रिक संगीति को बुद्ध वचन भी कहा जाता है।

बौद्ध तंत्र का उद्देश्य शैव-शाक्त तंत्रों की तरह शीघ्र ही बुद्धत्व की प्राप्ति है। सिद्धि सहज और सरलता से प्राप्त हो सके, इसलिए गुह्यसमाज में 'शक्ति-आराधना' का भी उल्लेख मिलता है। साधना के लिए स्त्री-प्राप्ति को यहाँ 'विद्या-व्रत' कहा गया है। आशु सिद्धि के लिए विधि निषेध की पूर्ण अवहेलना अन्य तंत्रों की ही तरह इस तंत्र में भी पायी जाती है। हठयोग को भी स्वीकार कर लिया गया है, शक्ति-साधना के पूर्व हठयोग करना पड़ता है। यदि शक्ति साधना से सिद्धि प्राप्त न हो तो समझना चाहिए कि हठयोग में कहीं अशुद्धि रह गई है।

तथागतगुह्यक—दर्शन एवम् साधना—गुह्य-समाज सन्ध्याभाषा में लिखा गया है। अतः इसमें गुह्य-ज्ञान प्रधान है। आरम्भ में ही कहा गया है कि तथागत काय, वाक् चित्त, हृदय, तथा वज्र स्त्री एवं भग में विहार करते हैं।[1] इन्द्रभूति ने ज्ञानसिद्धि में इसका अर्थ यह किया है कि हृदय का अर्थ ज्ञान है, इसे वज्रयोषित भी कहा गया है क्योंकि वह अभेद्य प्रज्ञास्वभावा है, इसी को भग कहा है क्योंकि यह सारे क्लेश का भञ्जन करती है।[2]

परन्तु सर्वत्र यह शैली नहीं है। जब तथागत तथा बोधिसत्व भगवान से प्रश्न पूछते हैं कि तत्त्व ज्ञान क्या है तो भगवान स्पष्ट शैली अपनाते हैं कि सांसारिक पदार्थ एवं धर्म अनुत्पन्न हैं, उनकी सत्ता नहीं है। बोधि (चेतना) आकाश के समान है, यही नैरात्म्य है। बोधि के संयुक्त होने से पदार्थ प्रकाशित होते हैं।[3] स्पष्ट है

(१) एवं मया श्रुतम्, एकस्मिन समये भगवान सर्व तथागत कायवाक् चित्त हृदय वज्रयोषिद्भगेषु विजहार।

(२) हृदयं = ज्ञानं तदेववज्रयोषित् अभेद्यप्रज्ञास्वस्वावात्।
तदेव भगं सर्वक्लेशभञ्जनात् – ज्ञानसिद्धि – इन्द्रभूति

(३) अनुत्पन्ना इमे भावा, न धर्मा न च धर्मता।
आकाशमिव नैरात्म्यमिदं बोधिनयं दृढ़म्
अनुत्पन्नेष धर्मेषु न भावो न च भावना
आकाशपद योगेन, इति भावः प्रगीयते—गुह्यसमाज तंत्र, द्वितीयपटल

यह सिद्धान्त विज्ञानवाद से प्रभावित है। विज्ञानवाद केवल चेतना को मानता है, बाह्य पदार्थों को नहीं। क्षण क्षण में प्रवाहित चेतना ही प्रमाणित है, पदार्थ इसी चेतना में स्थित हैं जो बाहर प्रतिबिम्बित होते हैं। साधना के द्वारा जब भाव, अभाव, ग्राह्य, ग्राहक, वेद्य, वेद्यक की स्थिति का नाश हो जाता है और योगी स्वरूपस्थित हो जाता है, तो इसे 'शून्यता' की स्थिति कहते हैं, इस अवस्था में चेतना के आवरणों का नाश हो जाता है। किन्तु यह शून्यता की अवस्था ही केवल प्राप्य नहीं है, इसके साथ 'करुणा' को भी संयुक्त करना पड़ता है।

शून्यता और करुणा की अद्वय-अवस्था ही 'बोधिचित्' कहलाती है।[१] तथागत-गुह्यक में इसी बोधिचित् का स्तवन है। यही प्राप्य है।

ज्ञान के द्वारा ही यह अवस्था प्राप्त हो सकती है। भक्ति एवं कर्म से नहीं। क्लेश तथा आवरण दोनों का नाश ज्ञान द्वारा ही होता है। स्वयं 'ज्ञेयावरण' जिसके नाश का विधान हीनयानमत में नहीं है, ज्ञान द्वारा ही नष्ट होता है। इसीलिए ज्ञान को ही साधन व 'विघ्नान्तकृत्' कहा गया है[२]। ज्ञान का ही दूसरा नाम 'प्रज्ञा' है; शून्यता भी इसी का नाम है। शास्त्र श्रवण; गुरुकृपा एवं योग से प्रज्ञा-प्राप्ति सम्भव है परन्तु इसको करुणा या उपाय से सम्बद्ध करना पड़ता है। बिना उपाय के प्रज्ञा निःसहाय है, बिना प्रज्ञा उपाय अन्धा है। अतः प्रज्ञा तथा उपाय, शून्यता एवं करुणा की एकता को ही आगे चलकर 'युगनद्ध' कहा गया है। तथागतगुह्यक में प्रज्ञा और उपाय की एकता को ही योग कहा गया है,[3] जिसका इस प्रारम्भिक तंत्र में विस्तार से वर्णन है।[४]

---

(१) शून्यता करुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम्—अष्टादश पटल।

(२) सर्वक्लेश क्षयं यत्तत्सर्वकर्म क्षयस्तथा।
सर्वावरण क्षयं ज्ञानं, विघ्नान्तकृदिति स्मृतम्—वही

(३) प्रज्ञोपाय समापत्तिर्योग इत्यभिधीयते।
प्रज्ञाज्ञानात्मकं योगं वज्ररत्या समन्वितम्
निःसेकात् ज्ञानधाराभिः प्रज्ञाज्ञानः स्वयं भवेत्—वही

(४) काया, वाक् व चित्त की एकता ही योग है, गुह्यसमाज का यही तात्पर्य है, इस योग से ही "बोधिचित्" की प्राप्ति होती है :—

त्रिविधं कायवाक्चित्तं, गुह्यमित्यभिधीयते।
समाजं मीलनं प्रोक्तं, सर्वबुद्धाभिधानकम्—अष्टादश पटल
गुह्य का अर्थ है—काय, वाक् और चित्त।
समाज का अर्थ है—इनकी एकता

सर्व-भाव असिद्ध हैं, इस पर गुह्यसमाज में बहुत बल दिया गया है। स्वयं भगवान, पंच स्कन्ध, धातु, आकाश, संघ आदि किसी की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। इसी प्रकार जप, तप, मंत्र, काय, वाक्, चित्त, साधन, समाधि सब असिद्ध हैं, निःस्वभाव हैं। सत्य इनसे भी परे है। यह ज्ञान निम्नलिखित वार्तालाप द्वारा स्पष्ट किया गया है—जब भगवान से पूछा गया—हे भगवन्! आप कहाँ स्थित हैं? कहाँ से उत्पन्न होते हैं? उत्तर—भगवान् साधक के काय, वाक् और चित्तादि में स्थित हैं—

प्रश्न—स्वकाय, वाक्, चित्त स्थित वज्र (भगवान) कहाँ स्थित हैं?

उत्तर—आकाश में स्थित हैं।

प्रश्न—आकाश कहाँ स्थित है?

उत्तर—कहीं नहीं।

यह उत्तर सुनकर सभी बोधिसत्व आश्चर्य-मूढ़ होकर, सारे पदार्थ स्वचित्त में ही स्थित हैं, ऐसा ध्यानकर मौन हो गए। इस प्रकार गुह्यक-समाज चेतना को ही स्वीकार करता है, अन्य धर्मों की सत्ता को उसी का प्रतिबिम्ब मानता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यावहारिक (सांवृतिक सत्य) दृष्टि से पदार्थों की सत्ता नहीं है।[1] पारमार्थिक दृष्टिकोण से पदार्थों की सत्ता नहीं है, यही तथा—

---

१ न च भगवन्तः सर्वतथागताः सर्वमन्त्रसिद्धीनि सर्वमन्त्रकायवाक् चित्त वज्र स्थितानि। तत्कस्य हेतोः। परमार्थतः कायवाक् चित्त मन्त्र सिद्धीनामसम्भवात्।

अथ ते सर्वं तथागताः सर्वतथागतं काय वाक् चित्त वज्र तथागतमेवमाहुः। सर्वतथागतधर्मा भगवन् कुत्र स्थिताः क्व व सम्भूताः। वज्रसत्त्व आह। स्वकाय वाक् चित्त संस्थिताः, स्वकाय वाक् चित्त सम्भूताः। भगवन्तः सर्वतथागत आहुः। स्वकाय वाक् चित्त वज्र कुत्र स्थितम्?

आकाश स्थितम्

आकाश कुत्र स्थितम्

न क्वचित्

अथते सर्वबुद्ध बोधिसत्त्वा आश्चर्यप्राप्ता अद्भुतप्राप्ताः स्वचित्तधर्मताविहारं ध्यायस्तूष्णीं स्थिता अभूवन्निति। पंचदशपटल

गतगुह्यक का निर्णय है, और यह सिद्धान्त माध्यमिक एवं योगाचार दोनों के अनुकूल है।

साधना—भगवान का यह वचन है कि दुष्ट, कामी, परद्रव्यहारी आदि पापी विशेष रूप से साधना के लिए उपयुक्त हैं। साधना में सभी पाप पुण्य बन जाते हैं। साधक को चाहिए कि वह माता, भगिनी, पुत्री की कामना करे, इससे आशुसिद्धि होती है। परन्तु लिप्सारहित होकर यह साधना करनी पड़ती है।[१]

यह विचित्र साधना सुनकर श्रोता हे तथागत ! "मत कहिए" "ऐसा मत कहिए" चिल्लाते हुए व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गए।[२] तब भगवान ने बताया कि यही ज्ञान का सार है। यही शुद्ध 'बोधिचरिपद' है। यही धर्मता है।[३]

ध्यानयोग—तथागत गुह्यक में सर्वप्रथम ध्यान-योग का वर्णन है। चक्र, रत्न, पद्म, रश्मिमंडल आदि का ६ माह तक ध्यान करना बताया गया है। यह स्मरणीय है कि चक्र, रत्न आदि शब्द प्रतीक रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं, इनके अर्थ कुछ और भी हो सकते हैं। उदाहरणतः रत्न का वास्तविक अर्थ चित्त है।[४] परन्तु सम्भवतः साधन के प्रारम्भिक सोपानों में इनका अभिधेयार्थ ही ग्रहण किया जाता है। नासा के आगे सरसों का ध्यान करे अथवा सूर्य मंडलादि का। यहाँ इन शव्दों का अभिधेयार्थ ही ग्रहणीय है।[५] ध्यान के पूर्व स्नान, न्यासादि का भी विधान हैं, अभिषेक का भी वर्णन है।

---

(१) ये परद्रव्याभिरता नित्यं कामरताश्च ये।
विरामुत्राहारकृत्या, ये भव्यास्ते खलुसाधने
मातृभगिनी पुत्रींश्च, कामयेद्यस्तु साधकः।
स सिद्धिं विपुलां गच्छेत्, महायानप्रधर्मताम्
मातरं बुद्धस्य विभोः कामयन्न च लिप्यते—पंचम पटल

(२) किमयं भगवान् सर्वंतथागत स्वामी सर्वंतथागत पर्षन्मण्डल मध्ये—
दुर्भाषित वचनोदाहारं भाषते। (वही)
बोधिसत्त्वा भीता सन्त्रस्ता मूर्च्छिता अभूवन—वही

(३) इयं सा धर्मता शुद्धा, बुद्धानां सार ज्ञानिनाम्।
सारधर्मार्थि सम्भूता, एषा बोधिचरिपदम्—वही

(४) अष्टादश पटल

(५) नासाग्रे सर्षपं चिन्तेत् सर्षपे सचराचरम्
आकाशधातुमध्यस्थं भावयेत् सूर्यमण्डलम्—वही

अभिषेक—अभिषेक तीन प्रकार का है, कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक। द्वितीय अभिषेक में स्त्री की आवश्यकता होती है।

न्यास—स्नान के अनन्तर शिखा से पैर तक प्रत्येक अंग में न्यास का विधान है।

आहार—भयंकर आहार का भी विधान है। प्रत्येक पशु का मांस भक्षणीय हैं। वीर्य, विष्टादि का भक्षण भी विधेय कहा गया है। यदि मांसादि उपलब्ध न हों तो शैव तांत्रिकों के अनुसार यह विधान किया गया है कि ध्यान द्वारा ही मांस-भक्षण करे।

स्थान—साधना के लिए शिवालय, (एक लिङ्ग का मंदिर) चौराहे पर, वृक्ष के नीचे अथवा निर्जन स्थान (श्मशानादि) में साधना करे।

जप—बोधिचित्त की प्राप्ति तथा सिद्धियों की प्राप्ति के लिए 'जप' का महत्त्व अधिक है। तथागत-गुह्यक में १० प्रकार के जप का उल्लेख है। काय, वाक्, चित्त, रत्न, अमोघ, क्रोध, मोह, राग, द्वेष, तथा नपुंसक जप ये १० प्रकार के जप हैं। भाव एवं अभाव का विचार करते हुए उच्चस्वर से जप करना काय जप है। शब्द तथा अशब्द का विचार करते हुए जप करना वाग्जप है। चित्तजप में चित्तानुसंधान होता है। 'बुद्ध' पर ध्यान केन्द्रित करते हुए रत्नजाप किया जाता है। तत्व में बार-बार गमन-आगमन अमोघ जप कहलाता है। क्रोध के समय ज्ञानद्वारा जाप क्रोध-जाप है। सर्वजीवों के हित के लिए व्याकुल होने की अवस्था में मोह से युक्त होने पर ज्ञानपूर्वक जप मोहजाप है। काया, वाक् चित्त के स्थिर होने पर रागपद में स्थित होकर जप करना रागजाप है। इसी प्रकार द्वेष की स्थिति में जप द्वेषजाप है। उपर्युक्त सर्व-तत्वों का एक साथ जप नपुंसकजप कहलाता है।[1] जप के समय चेतना की उच्च अवस्था ही फल देती है।

मंत्रों का स्वरूप—'तथागतगुह्यक' में पूर्ववर्ती धारणी मंत्रों के समान ही अनेक मंत्र मिलते हैं। मृतसंजीवनी, रक्षामंत्र, वशीकरण, आकर्षण, उच्चाटन, मारण, स्तम्भन सबके मंत्र दिये हैं।[2] सर्प-दंशन के लिए भी मंत्र दिये गए हैं।

---

(१) द्रष्टव्य—त्रयोदश पटल।

(२) **मृतसंजीविनी** ओं रु रु स्फुरु ज्वल तिष्ठ सिद्वो चने सर्वार्थं साधनि स्वाहा—**रक्षामंत्र**, ओं शङ्करे शान्तिकरे घुट्टघुट्ट घुट्टनि घातय घातय घुट्टनि स्वाहा। चतुर्दशपटल
वशीकरण—ओंतारे तुत्तारे तुरे स्वाहा

मंत्र-चर्या का महत्व—मंत्र-चर्या में बाह्य प्रयत्न आवश्यक नहीं है। चित्तानुसंधान ही फल देता है। शुद्ध तत्व (चित्त) में चित्त का समाहित होना ही मंत्र-चर्या है।[१] तत्व का मनन ही मंत्र है।[२] लोकाचार मंत्र-चर्या में गृहणीय नहीं है।

शक्तियोग—शक्ति-साधना (लता-साधना) के पूर्व हठयोग द्वारा चित्त शुद्धि आवश्यक है। सभी प्रकार की शुद्धि के पश्चात् १२ वर्ष की कन्या लेकर विजन में साधना करे। विष्टा, मूत्र आदि का मंडल बनाये। उस मंडल पर किसी भी जाति की स्त्री को अंक में आसीनकर साधना करे।[३] काय, वाक्, चित्त भेद, अभेद से परे होकर यह साधना की जाती है। इसी को 'विद्यापौरुष' कहा जाता है। बिना विद्या (स्त्री-प्रज्ञा) के साधना असम्भव है।[४]

तांत्रिक साधना का महत्व—क्या इस साधना से अधः पतन नहीं होगा ? इसका उत्तर यह है कि जिससे बन्धन होता है, उससे ही मुक्ति मिल सकती है। अन्यतंत्रों की तरह यहाँ भी यह सिद्धान्त स्वीकृत है। संसार में मोह, द्वेष, राग, क्रोध आदि पर विजय के अनेक उपाय अन्य साधनाओं में बताये गए हैं परन्तु तंत्र-साधना में राग पर राग द्वारा, क्रोध पर क्रोध द्वारा, मोह पर मोह द्वारा और द्वेष पर द्वेष द्वारा विजय स्वीकृत है, इसीलिए यह सबसे सरल और सबसे कठिन मार्ग है। ज्ञान के बिना पग पग पर भय है परन्तु भय तो संसार में वैसे

---

(१) मारण—ओं ह्रीः ष्ट्रीः विकृतानन सर्व शत्रून्नाशाय स्तम्भय
हूँ हूँ फट् फट् स्वाहा।

(२) असमाहित योगेन नित्यमेवसमाहितः सर्वचित्तेषु या चर्या मन्त्र-चर्या इति कथ्यते।
मन्यं मन्त्रमिति प्रोक्तं, तत्त्वं चोदन भाषणम्।—अष्टादश पटल

(३) द्वादशाब्दिकां कन्यां तां चण्डालस्य महात्मनः।
साधयेत साधको नित्यं, चतुरस्रं विधानतः।
विण्मूत्रसमयाद्येन, चतुरस्रं विधानतः
मण्डलं कारयेत तत्र वज्रमंडल साधनैः।
सर्व लक्षणसंशुद्धां, चारुवक्त्रां सुशोभनम्।
सर्वालङ्कार सम्पूर्णामङ्कं—स्थाप्य विभावयेत्—पंचदश पटल

(४) नान्योपायेन बुद्धत्वं तस्माद्विद्यामिमां वराम्—अष्टदश पटल

भी है अतः निर्भय होकर तथा वज्राचार्य साधना करने को कहते हैं। तथागत गुह्यक की घोषणा है कि पदार्थों में स्वयं नाश करने की शक्ति नहीं है क्योंकि उनकी सत्ता है, यह प्रमाणित नहीं होता, उनकी यदि कहीं सत्ता है तो चित्त में ही है अतः चित्त को वश में लेने से ही मुक्ति सम्भव है और चित्त में जिन पदार्थों से भ्रम उत्पन्न होता है, उनके द्वारा ही शांति भी उत्पन्न की जा सकती है। अतएव मोह के द्वारा ही मोह का नाश हो सकता है। यही 'वज्रयान' की विशेषता है।[1]

गूढ़ार्थ—तथागत गुह्यक में प्रतीकों के द्वारा सत्य की ओर संकेत किया गया हैं। मण्डल शब्द के लिए भग, बोधिचित् एवं शरीर ये तीन प्रतीक हैं।[2] पुष्प शब्द नवीन स्त्री के लिए आता है।[3] चक्र का अर्थ हैं, ज्ञान से जिसकी सृष्टि हुई हो।[4] विद्या शब्द भी स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है। पंचामृत का अर्थ है, पाँच प्रकार का ज्ञान।[5] बन्धन का अर्थ है आंतरिक रश्मि से तत्वपद में काय; वाक् चित्तादि को आकर्षित करना और अंतर्मुख होना।[6] 'गुह्य' शब्द का अर्थ है काय

---

(१) मोहोद्वेषस्तथा रागः सदा वज्रे रतिः स्थिता।
उपायस्तेन बुद्धानां, वज्रयानमिति स्मृतम्
अविनाशात्मका धर्मा अनुत्पादस्वभावतः।
समयः सर्व भावनां तेनैवान्तककृद्यमः।
मोहो मोहोपयोगेन, क्षयमोह यमान्तकृत।
रागो रागोपभोगेन-क्षयरागः पद्मान्तकृत
दोषो दोषोयभोगेन क्षयदोषः प्रज्ञान्तकृत—अष्टादशपटल

(२) भगं मण्डल माख्यातं, बोधिचित्तं च मण्डलम्।
देहं मण्डलमिति युक्तं त्रिषु मण्डल कल्पना। अष्टादश पटल।

(३) पुष्प मित्यभिधीयन्ते नवयोषितखधातवः। वही

(४) ज्ञानसत्वेन यत् सृष्टं, ज्ञानचक्रमिति स्मृतम्—वहीं

(५) ज्वालनं तापनं चैवोद्योतनं रूप दर्शिनम्
मन्त्रमूर्ति प्रयोगेण, भक्षेत्पञ्चामृतामृतम्—वही

(६) रश्मिना सर्ववज्राणां सर्ववज्राणि तत्पदे।
संहृत्य पिण्डरूपेण बंधो, बन्धनमुच्यते—वही

वाक् एवं चित्त और 'समाज' शब्द का अर्थ है इन तीनों का संघट्ट = एकता।[१] रत्न शब्द का अर्थ है चित्त।[२] 'सेवा' शब्द का अर्थ है साध्य-साधन का संयोग।[३]

गुह्य समाज की उपर्युक्त साधना से स्पष्ट है कि यह मूलतः मनोवैज्ञानिक साधना है (Psychic) हठयोग में 'साइकी' का विकास लक्ष्य नहीं होता, अपितु प्राण शक्ति, नाड़ी तथा शरीरावयवों को अनुशासन में लाया जाता है अतः हठयोग को सोपान के रूप में तंत्र अपनाते हैं। हठयोग से सामान्य सिद्धियों-मारण, मोहनादि की प्राप्ति हो सकती है परन्तु उत्तम सिद्धि—बुद्धत्व की प्राप्ति तंत्रयोग से ही सम्भव है;

देवमंडल—'गुह्य समाज' में भगवान से उपदेश की प्रार्थना करने पर वह अनेक मुद्राएँ धारण करते हैं, तथा अनेक मंत्र पढ़ते हैं, इनका रहस्य समझ लेने से देव-मंडल का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। मंत्र और मुद्रा के अनुसार एक ही शक्ति अनेक रूप धारण करती है। बौद्धों का देवमण्डल इसीलिए अत्यधिक व्यवस्थित है।

	ध्यान का नाम	मंत्र	कुल + शक्ति	देवता
(१)	ज्ञानप्रदीपवज्र	वज्रधृक	द्वेष द्वेषरति	बोधिचितवज्र (भगवान आदिसत्ता, हिन्दुओं के परब्रह्म या शिव)
(२)	समयसम्भववज्र	जिनजिक	महो (मोहरति)	वैरोचन
(३)	रत्नसम्भववज्रश्री,	रत्नधृक	चिंतामणि (ईर्ष्यारति)	रत्नकेतु
(४)	महारागसम्भववज्र,	आरोलिक्	वज्रराग (राग-रति)	अमिताभ
(५)	अमोघसमयसम्भववज्र,	प्रज्ञाधृक	समयाकर्षण वज्ररति	अमोघवज्र

इसके पश्चात् भगवान ने लोचना, मामकी, तारा, पाण्ड्रा तथा आर्यतारा आदि देवियों को व्यक्त किया। पुनः भगवान ने अपने को चार प्रहरियों में परिवर्तित किया—Guardian gods—

---

(१) त्रिविधं कायवाक्चित्तं, गुह्यमित्यभिधीयते।
समाजं मीलनं प्रोक्तं, सर्व बुद्धाभिधामकम्—वही

(२) चित्तम् रत्नमिति ख्यातमर्थैः सर्वैः समुद्भवम्—वही

(३) साध्य साधनसंयोगं यत्तत् सैवेति भण्यते—वही

	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर
प्रहरी—	यमनान्तक	प्रज्ञान्तक	पद्मान्तक	विघ्नान्तक
मंत्र—	यमनान्तकृत	प्रज्ञान्तकृत	पद्मान्तकृत	विघ्नान्तकृत

प्रहरी + मंत्र + कुल + देवता + शक्ति + ध्यान—इनके योग से ही समाधि प्राप्त होती है। इस विभाजन से यह स्पष्ट है कि पंचध्यानी बुद्ध एक ही सत्ता के व्यक्त रूप हैं।[1]

यह व्यवस्थित देवमण्डल सर्वप्रथम गुह्य-समाज में ही मिलता है। ध्यानी बुद्धों के नाम पूर्व ग्रन्थों में अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनमें व्यवस्था नहीं मिलती अत: इस 'गुह्य-समाज' को ही प्रथम व्यवस्थित तंत्र-ग्रन्थ माना जाता है।

वज्रयान का विकास—'तथागत गुह्यक' में सर्वप्रथम प्रारम्भिक तांत्रिक बौद्धमत का निश्चित रूप देख लेने के पश्चात् आगे की शताब्दियों में इसका विकास सरलता से समझ में आ जाता है। 'गुह्यसमाज' के बाद ध्यानी-बुद्ध, देव-कुल (The families of god) शक्ति सहित देवों (युगनद्ध) की उपासना, महासुख आदि सिद्धान्त जब तांत्रिक-बौद्धमत में प्रधान होते गए तो इसका नाम 'वज्रयान' पड़ा।

तारानाथ के अनुसार असंग से धर्मकीर्ति के समय तक (चतुर्थ शता० से सप्तम् शता० तक) इसका विकास मिलता है। सरहपाद, नागार्जुन (द्वितीय) लुईपाद, पद्मवज्र, अनंग वज्र, इन्द्रभूति और लक्ष्मींकरा देवी आदि ने इस धर्म के प्रचार में अधिक योग दिया है। सरह का समय सप्तम शताब्दी है और सरह तंत्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। सरह नालन्दा में आचार्य रह चुके थे, और वसुबंधु भी नालन्दा में आचार्य रहा था अत: नालन्दा विश्वविद्यालय में, जहाँ विज्ञानवाद एवं शून्यवाद का अध्ययन होता था, वज्रयान का विकास हुआ है।

वज्रयान के विकास को समझने के लिए गुरु-परंपरा का उल्लेख आवश्यक है। कार्डियर के अनुसार आचार्य परंपरा इस प्रकार है—

१. पद्मवज्र—६९३ ई०
२. अनंगवज्र—७०५ ई०
३. इन्द्रभूति—७१७ ई०

(१) द्रष्टव्य—तथागतगुह्यक की भूमिका—विनयतोष भट्टाचार्य

४. लक्ष्मींकरा देवी—७२९ ई०
५. लीलावज्र—७४१ ई०
६. दारिकपाद—७५३ ई०
७. सहजयोगिनी चित्रा—७६५ ई०
८. डोम्बी हेरुक—७७७ ई०

'तंजौर कैटालॉग'[1] में कार्डियर ने यह परम्परा दी है। विनयतोष जी ने 'साधनमाला' में इन्द्रभूति के समय को आधारमानकर उपर्युक्त तिथियाँ निश्चित की हैं किन्तु विनयतोष गुरुपरंपरा द्वारा जो सूची प्राप्त हुई है, उसे अधिक विश्वसनीय मानते हैं। गुरुपरंपरा इस प्रकार है—

१. सरहपाद—६३३ ई०
२. नागार्जुन द्वितीय—६४५ ई०
३. शबरिपा—६५७ ई०
४. लुइपा—६६९ ई०
५. वज्रघण्ट—६८१ ई०
६. कच्छप—६९३ ई०
७. जालन्धरीपाद—७०५ ई०
८. कृष्णाचार्य—७१७ ई०
९. गुह्य—७२९ ई०
१०. विजयपाद—७४१ ई०
११. तैलोपाद—९७८ ई०
१२. नारोपा—९९० ई०

सरहपाद के 'बुद्धकपालतंत्र' का उल्लेख मिलता है। तारानाथ के अनुसार सरह ने अनेक ग्रन्थ संस्कृत में लिखे हैं। सरहधर्मकीर्ति के समसामयिक थे। धर्मकीर्ति का समय विनयतोष के अनुसार ६००-६५० ई० है।

नागार्जुन द्वितीय विनयतोष के अनुसार ऐतिहासिक व्यक्ति था यद्यपि कतिपय विद्वान इसे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते।[2] संस्कृत में इसके कई ग्रन्थ हैं।

---

1. Tanjyur Catalogue--P. Cordier

2 The Stories of Nagarjvn from Tibetan and Chinese Sources-Walleser,

पद्मवज्र—गुह्य सिद्धि के लेखक पद्मवज्र हैं।[१] तिब्बत में १८वीं शताब्दी तक इसका महान आदर रहा। यह संध्याभाषा में लिखित है। गुह्यसिद्धि भी गौतम बुद्ध को ही तंत्र का प्रवर्तक मानती है। 'गुह्यसिद्धि' में तंत्र का पूर्ण-विकसित रूप मिलता है। तारानाथ के अनुसार 'हेवज्रतंत्र' के लेखक भी पद्मवज्र ही थे।

जालन्धरीपा या हाड़ीपा—कहा जाता है कि चितगाँग (बंगाल) के राजा गोपीचन्द के साथ इसी सिद्ध का सम्बंध था परन्तु यह निश्चित नहीं है। 'हेवज्रतंत्र' पर इनके एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।

अनंगवज्र—'प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि' की रचना अनंगवज्र ने की है। 'हेवज्रतंत्र' पर भी लिखा है।

इन्द्रभूति—सहजयान सम्प्रदाय का प्रवर्तक इन्द्रभूति को माना जाता है। आचार्य पद्मसम्भव के यह पिता थे। पद्मसम्भव (पद्मवज्र से भिन्न) तथा शांतरक्षित ने ७४९ ई० में तिब्बत में जाकर प्रथम बौद्ध बिहार की स्थापना की थी। इन्द्रभूति 'ज्ञान सिद्धि' के लेखक थे।

कृष्णाचार्य—कृष्णाचार्य अनेक हुए हैं। किन्तु ८ वीं शताब्दी का यह कृष्णाचार्य सिद्ध था। जालंधरीपा इनके गुरु थे। यह 'सम्पूततिलक' आदि अनेक ग्रन्थों के लेखक थे।

लक्ष्मींकरादेवी—यह 'इन्द्रभूति' की बहिन थी। 'अद्वयसिद्धि' नामक ग्रन्थ लिखा है।[२] सहजयान के प्रचार का सबसे अधिक श्रेय इसी नारी को है। लक्ष्मींकरा की देखरेख में वज्रयान के समानान्तर सहजयान का भी प्रचार होने लगा। लीलावज्र इसका शिष्य था, जिसने इस परंपरा में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

दारिकपाद—इनके ग्रन्थ तंजौर में सुरक्षित हैं।

सहजयोगिनी चिन्ता—'व्यक्तभावानुगत-तत्त्व सिद्धि'[३] इन की प्रसिद्ध रचना है। यह दारिकपाद की शिष्या थी। विज्ञानवाद से प्रभावित थी। तिब्बती भाषा में इसका ग्रन्थ सुरक्षित है।

---

(१) हस्तलिखित रूप में गायकवाड़ पुस्तकालय बड़ौदा में प्राप्त।

(२) हस्तलिखित प्रति—बड़ौदा पुस्तकालय में तथा हरप्रसाद शास्त्री के निजी पुस्तकालय में प्राप्त।

(३) हस्तलिखितप्रति—बड़ौदा पुस्तकालय

डोम्बी - हेरुक—यह सहजयोगिनी का शिष्य था, मगध का राजा था। संस्कृत में कई ग्रन्थ लिखे हैं। इसकी 'सहजसिद्धि' प्राप्त है।[1]

इन आचार्यों के अतिरिक्त वज्रयान एवं सहजयान के अन्य आचार्यों का उल्लेख भी आवश्यक है। सरहपाद के अतिरिक्त नालन्दा के आचार्य शांतिदेव ने 'शिक्षासमुच्चय' नामकग्रन्थ लिखा है। (सप्तम शताब्दी) इसमें भी तांत्रिक बौद्धमत के सिद्धान्त एवं उपासनाएँ हैं।

नालन्दा के अतिरिक्त पालवंश (बंगाल) के राजाओं के समय इस मत की विशेष उन्नति हुई। विक्रमशिला तथा ओदन्तपुरी में तांत्रिक बौद्धमत के विश्वविद्यालय स्थापित हुए। इनमें तांत्रिक-सिद्धान्त एवं उपासना पर बहुत अधिक कार्य हुआ। पालवंश के महाराज महीपाल के समय (९७८—१०३०) के समय यह मत उन्नति के चरम-शिखर पर पहुँच गया।[2] कुछ आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं—कुक्कुरीपाद ६९३ ई० शबर—६५७ ई० वैरोचनरक्षित—७२८-७६४, करुणाचार्य ७५३, श्रीकृष्ण—७१७ ई०।

दीपंकर (९५०-१०५३) अद्वयवज्र (९७८-१०३०) अद्वयवज्र संग्रह में रचनाएँ संगृहीत ललितगुप्त, (१०५०), मुकुट (११००) प्रभाकर कीर्ति (११००) रत्नाकर शांति (९७८-१०३०) रत्नाकर (११००) कुलाचार्य (११००) रत्नाकर गुप्त (११००) संघदत्त (१०७५) शाश्वतराज (११००) सर्वज्ञमित्र (१०५०) श्रीधर (११००); सुजनभद्र (११००) अभयकर गुप्त (१०८४-११३०)।[3]

अन्य प्रसिद्ध आचार्यों में आर्यदेव (चित्रविशुद्धि प्रकरण)[4] शांतिरक्षित (तत्वसंग्रह)[5], नारोपा (सेकोद्देश्यटीका)[6] के नाम उल्लेखनीय हैं।

---

(१) हस्तलिखितप्रति—बड़ौदा पुस्तकालय

(२) पालवंश—इतिहास में अति प्रसिद्ध है।

(३) द्रष्टव्य–साधनमाला–इस तंत्र में उपर्युक्त आचार्यों के नाम से साधनाएँ दी गईं हैं।

(४) Journal of Asiatic society of Bengal में प्रकाशित—आर्यदेव नागार्जुन द्वितीय का समसामायिक आचार्य होगा, ऐसा अनुमान है।

(५) G. O. Series

(६) Oriental Institute Baroda.

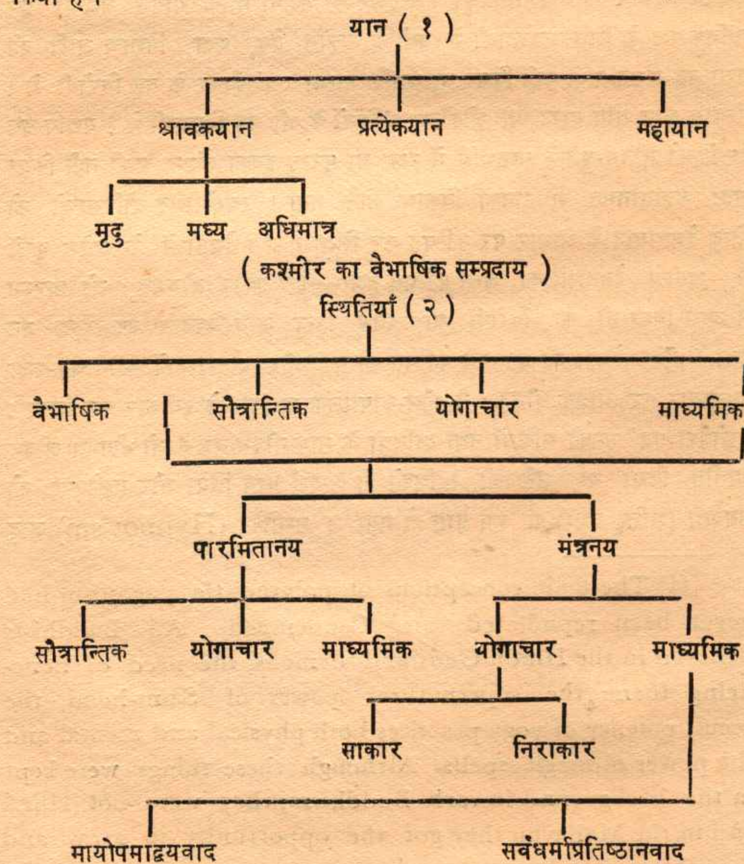
उपर्युक्त आचार्य-परंपरा के विहंगावलोकन से स्पष्ट है कि तथागतगुह्यक के पश्चात् सप्तम शताब्दी में नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य सरह से वज्रयान का प्रचार प्रारम्भ होता है। अत: बौद्ध तांत्रिक-युग ७वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक माना जाता है। बंगाल पर मुहम्मदबिन अख्तियार के आक्रमण-काल के पश्चात्[1] तांत्रिक बौद्धमत विशृंखलित हो गया और हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो गया। फर्कुअर ने इस मत का नाम 'शाक्त बौद्धमत' दिया है। क्योंकि इस युग में बौद्धमत में शक्तिसंयुक्त देवताओं की उपासना शाक्तों की तरह मंत्र, मुद्रा, मंडल तथा पंचमकार द्वारा प्रचलित हुई। फर्कुअर का कहना है कि गौतम बुद्ध ही इस तांत्रिक मत के लिए उत्तरदायी थे, क्योंकि उन्होंने देव, यक्ष, पिशाच आदि की सत्ता का खंडन कभी नहीं किया था यद्यपि आत्मा एवं ईश्वर के वह विरोधी थे। संन्यास तथा योग द्वारा प्राप्त लोकोत्तर शक्तियों के भी वह विश्वासी थे! यद्यपि इन तत्त्वों को गौतम-बुद्ध ने पृष्ठभूमि में रखा था परन्तु इनका खंडन कभी नहीं किया अत: महायानमत में उनका विकास होने लगा। स्वर्ग-स्थित बोधिसत्त्वों को हिन्दू देवतावाद के आधार पर कल्पित कर लिया गया। देवताओं के अनेक कुलों से, असंख्य देवताओं का जन्म कल्पित हुआ—इस प्रकार बौद्धमत, जो प्रारम्भ में अन्ध विश्वासों का विरोधी था, स्वयं हिन्दू अन्ध-विश्वास का केन्द्र बन गया। प्रत्येक देवता की एक स्त्री कल्पित की गई और शैव-शाक्तों की चक्र-पूजा के आधार पर तांत्रिक बौद्धमत ने कौल-कापालिक साधना को स्वीकार कर लिया। यशोधरा एवं उसकी सखियों तथा दासियों के साथ गौतम बुद्ध ने जो भोगमय जीवन व्यतीत किया था, उसे ही तांत्रिकों ने आदर्श मान लिया और यशोधरा को भगवती (शक्ति, उमा) का रूप प्राप्त हो गया। सम्मोहन (Hypnotism) जादू

(I) The main conceptions of polytheistic paganism had never been repudiated and Condemned. All Buddhists believed in the Hindu Gods and demons, the need of honouring them; the supernatural power of Saint-hood, the occult potency of yoga-practices both physical and mental and the power of magic spells. Although these things were kept in the backgronnd in early Buddhism; they were not killed and in the Mahayan they got the opportunity to grow and spread.

The Religious quest of India–Page (210)

(Magic) अभिचार, शब्द-साधना, चक्र-साधना, ऋद्धि-सिद्धि प्राप्ति का प्रचार हुआ। गुरु एवं बुद्ध की एकता घोषित की गई। एक विस्तृत साधना-पद्धति का विकास हुआ। शून्यवाद, विज्ञानवाद तथा औपनिषदिक ब्रह्मवाद के मिश्रित सिद्धान्तों द्वारा इस तांत्रिकमत को दार्शनिक पृष्ठभूमि को पुष्ट कर दिया गया; आगे हम ७वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक के बौद्धतांत्रिक मत के दार्शनिक और साधनात्मक पक्षों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

अद्वयवज्र ने तांत्रिक बौद्धमत का दार्शनिक दृष्टि से इस प्रकार विभाजन[1] किया है।



(१) द्रष्टव्य-अद्वयवज्रसंग्रह में 'तत्व रत्नावली'—G. O. Series.

उक्त विभाजन से 'वज्रयान' या 'मंत्रयान' की स्थिति तथा दृष्टि स्पष्ट है। किन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि अद्वयवज्र माध्यमिक थे अतः उन्होंने 'मंत्रयान' को योगाचार से अलग कर लिया है, वस्तुतः तांत्रिक-बौद्धमत में योगाचारी और माध्यमिक दोनों दृष्टियाँ स्वीकृत हैं, उदाहरणतः शांतिरक्षित के 'तत्वसंग्रह' में विज्ञानवाद स्वीकृत है जबकि अनंगवज्र एवं इन्द्रभूति माध्यमिक हैं। 'अद्वयवज्र' विज्ञानवाद से माध्यमिकमत को श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं।

विज्ञानवादी जगत के पदार्थों को परमाणुओं का संघात नहीं मानते। पदार्थों के रूप में वस्तुतः हमारा चित्त (विज्ञान) ही प्रकाशित होता है। पदार्थों की सत्ता इसलिए चित्त के भीतर है। क्योंकि चित्त बाहर के पदार्थों के रूप में बदल जाता है इसे ही 'साकार विज्ञानवाद' कहते हैं, इसमें चित्त पदार्थ का रूपधारण करता है।[1]

निराकारवादी विज्ञानवादी चित्त को निष्प्रपञ्च मानते हैं, इनके अनुसार चित्त पदार्थ का रूपधारण नहीं करता क्योंकि चित्त का आकार नहीं है। चित्त स्वतः आकार के बिना भी पूर्वजन्म की वासना के कारण पदार्थ के दर्शन करता है, वस्तुतः पदार्थ बाहर विद्यमान नहीं हैं। विज्ञान आकाश के समान निर्मल और निष्प्रपंच है, इसी भित्ति पर अज्ञान के कारण नाना रूप प्रतीत हो रहे हैं अतः पदार्थों की सत्ता प्रतीयमान है और यह माया का कार्य है, चित्त का नहीं, चित्त अविकृत ओर निष्प्रपंच है। अद्वयवज्र के अनुसार यह निराकारवादी विज्ञानवाद हिन्दू वेदान्त मत के निकट आ जाता है, क्योंकि वेदान्ती भी नाम, रूप रहित विशुद्ध, अविकृत चेतना को मानते हैं, जिसकी भित्ति पर माया के कारण जगत प्रतीत होता है।[2]

---

(१) न चित्तेषु बहिर्भूता इन्द्रियार्थाः स्वभावतः।
रूपादि प्रतिभासेन, चित्तमेव हि भासते—अद्वयवज्रसंग्रह

(२) बाह्ये न विद्यते अर्थो, यथा बालैर्विकल्प्यते।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासं प्रवर्त्तते।
यावदाभासते यच्च, तन्मायैव च भासते।
तत्वतो हि निराभासः, शुद्धानन्तनभोनिभः।
निष्प्रपञ्चो निराभासी, धर्म्मकायो महामुने।
रूपकायौ तदुद्भूतौ, पृष्ठे मायैव तिष्ठते—वही

अद्वयवज्र माध्यमिकमत की यह विशेषता बतलाते हैं कि यह मत नागार्जुन की तरह अपनी कोई दृष्टि नहीं रखता, अन्य सारी विचार की कोटियों का यह मत खंडन करता है। सत्य सब मतों से परे है; उसे न उपनिषदों की तरह भावात्मक रूप से कहा जा सकता है न अभावात्मक रूप से, उसे केवल 'शून्य' कहा जा सकता है, माध्यमिक मत में मंत्र, मुद्रा, मण्डल, देवता आदि का योग होने से यह मत 'मंत्रयान' कहलाता है, तांत्रिक-बौद्धमत यही है।

वस्तुत: विज्ञानवाद एवं माध्यमिक मत में केवल अंतर यह है कि विज्ञानवादी वेदान्तियों की तरह 'विज्ञान', यह नाम सूक्ष्म-चेतना (Consciousness) को देते हैं, जबकि माध्यमिक मत सत्ता (Reality) या चेतना को कोई नाम नहीं देता, यह मत 'सत्ता' को केवल अनुभव का विषय मानता है, कथन का नहीं परन्तु यह स्मरणीय है कि माध्यमिक मत उच्छेवाद नहीं है; वह 'सत्ता' में विश्वास करता है, वह निषेधवाद (Nihilism) नहीं है। उपनिषद की परंपरा के संन्यासियों तथा वेदान्ती विचारकों ने यद्यपि 'सत्ता' को नेति-नेति कहा है तथापि वे प्राय: आत्मा या चेतना का भावात्मक या अभावात्मक रूप में वर्णन करते थे। इससे भ्रम के प्रवेश की आशंका थी अत: माध्यमिकमत सत्ता को शून्य कहता है और शून्य का अर्थ है, भाव अभाव आदि सभी कोटियों से अतीत होना। तांत्रिक बौद्ध मत इस प्रकार शून्यवादी दर्शन पर आधारित है जो उपनिषदों के 'नेतिनेतिवाद' से किंचित भी भिन्न नहीं है।

तांत्रिक बौद्धमत सर्वास्तिवादी होने पर भी पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सत्ताओं को अलग-अलग मानता है अत: व्यावहारिक दृष्टि से वह मंत्र, मण्डल, पूजा उपासना, देवता तथा सभी प्रकार के विश्वासों व साधनाओं को स्वीकार कर लेता है। यद्यपि यह मत 'ज्ञान' की कोटियों में विश्वास नहीं करता तथापि तांत्रिकों ने बोधिचित्, त्रिकाया, अभिसम्बोधि आदि तत्वों पर विचार किया है, जिससे तांत्रिक मत स्पष्ट हो जाता है, हम क्रमश: इन पर विचार करेंगे।

तांत्रिक-बौद्ध-दर्शन एवं साधना (वज्रयान-सहजयान)

बोधिचित्—सत्य भाव और अभाव आदि से अतीत है, ऐसा ज्ञान प्रज्ञा

कहलाता है,[1] दुःखों से दूसरों को मुक्त करने की वृत्ति का नाम 'करुणा' है, यही 'उपाय' है । 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का संयोग ही 'प्रज्ञोपाय' है, यही 'बोधिचित्' है, महासुख इसी से उत्पन्न होता है। यही 'समन्तभद्र' है क्योंकि चारों ओर से सुख देने वाला है। 'प्रज्ञोपाय' की स्थिति का वर्णन असम्भव है, तभी गौतम बुद्ध सत्ता के सम्बंध में प्रश्न पूछने पर मौन रह जाते थे। अतः आत्म-अनुभूति ही सत्य है[2]। प्रश्न यह है कि भाव क्या है?

भाव (existence) जगत के प्रतीयमान पदार्थों को सत्य मान लेने पर उत्पन्न होता है, अतः दुःख का कारण है। प्रतीयमान को परमार्थ स्वीकार करना ही दुःख का कारण है। प्रतीति का भान अवश्य होता है; अतः ज्ञान के पूर्व भाव का अभाव नहीं है। परन्तु ज्ञान होने के पश्चात् भाव का नाश हो जाता है, अतः पारमार्थिक दृष्टि से सत्य भाव एवं अभाव से परे है। अनंगवज्र भाव को संकल्पात्मक मानते हैं। पदार्थ की सत्ता संकल्प के कारण हैं और सत्य ज्ञान के

(१) 'अद्वयवज्र संग्रह' में 'प्रज्ञा' का अर्थ इस प्रकार किया गया है—शान्त, शुद्ध, आभास से रहित, निरालम्ब, अनुत्तर, चित्त के अपगत हो जाने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'प्रज्ञा' है—

विज्ञायापगतं चित्तं, निरालम्बमनुत्तरम् ।
शान्तं, शुद्धं, निराभासं, वित्तिः प्रज्ञेतिकीर्तिता ।

अन्यत्र कहा गया है कि वस्तुसत्ता से रहित, निरालम्ब, सर्वशून्य, प्रपञ्चों से अतीत, आश्रय रहित स्थिति का नाम ही बोधिचित् है।

निर्वस्तुकं, निरालम्बं, सर्वशून्यं, निराश्रयम् ।
समातीतं प्रपञ्चेभ्यो, बोधिचित्तस्य लक्षणम्—

'नैरात्म्यपरिपृच्छा—'
संम्पा०—सुजीतकुमार मुखोपाध्याय
विश्वभारती पुस्तक भंडार
२१० कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता
१९३०

(२) इदं तदिति तद्वक्तुं नैव शक्यं जिनैरपि ।
प्रत्यात्मवेद्यरूपत्वाद् बाह्यार्थे न च गृह्यते—प्रज्ञोपाय०—
अनंगवज्र

कारण है। भाव से ही भव (संसार) की सत्ता है अन्यथा संसार की सत्ता नहीं है। भाव से ही क्लेश उत्पन्न होते हैं।[१]

भाव का नाश प्रज्ञा से होता है, प्रज्ञा के अभाव में न स्वहित होता है, न परहित।[२] जगत के पदार्थों को सत्य समझना भाव है और असत्य समझना भी भाव है। अभाव की कल्पना से तो भाव की कल्पना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि ज्वलित दीपक (भाव) की निवृंत्तो सम्भव है परन्तु बुझा हुआ दीपक होने से उपाय के अभाव में निवृत्ति असम्भव है अत: भाव अभाव से श्रेष्ठ है[3] यद्यपि दोनों कल्पना मात्र हैं। दोनों से मुक्ति आवश्यक है। यही प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा ज्ञाता एव ज्ञेय दो प्रकार की होती है और अपने अशुद्ध रूप में यह पदार्थ है, मैं ज्ञाता हूँ, ऐसा भ्रम उत्पन्न करती है, किन्तु शुद्ध होने पर भाव एवं अभाव, ज्ञाता तथा ज्ञेय के संकल्प दीपक की ज्योति के समान निवृंत्त हो जाते हैं। शुद्ध दर्पण के समान ज्ञान में भाव तथा अभाव से परे की स्थिति स्वत: प्रतिबिम्बत होती है।[४]

कहा जा सकता है कि प्रज्ञोपाय की स्थिति वास्तविक स्थिति नहीं है, काल्पनिक स्थिति है, जिस प्रकार मनुष्य भावात्मक संकल्प करता है, अभावा—त्मक संकल्प करता है, उसी प्रकार भाव एवं अभाव से परे की स्थिति भी एक संकल्प मात्र है, इस स्थिति की कल्पना द्वारा संसार पर विजय होती है, यह एक बात है परन्तु भावाभाव से परे की स्थिति सत्य भी हो, यह सर्वथा दूसरी

---

(१) अभूतकल्प सम्भूतो-भावसंकल्पनात्मक: ।
भव: स एव चाख्यातो, बालव्यामोहको बुधै :—प्रज्ञोपायवि निश्चय-सिद्धि (प्रथम परिच्छेद)

(२) यावद्भाव महाग्राहो-भवचारकवर्तिनाम् ।
प्रज्ञाहीनतया तावत्, स्वहितं परहितं न च । वही

(३) भावग्राहं परित्यज्य नाभावं कल्पयेत्बुध: ।
यदिनामानयोर्भेद:, कल्पना नैवभिद्यते ।
वरं हि भाव संकल्पो, न त्वभावकल्पना ।
निर्वाति ज्वलितो दीपो, निवृंत्त: कां गतिं व्रजेत् । वहीं

(४) प्रतिबिम्बं यथादर्शे स्वकीमं दृश्यतेध्रुवम् ।
धर्मकायस्तथा ज्ञाने दृश्येतादर्शसंस्थिते—ज्ञानसिद्धि-इन्द्रभूति

बात है। किसी विशेष मानसिक स्थिति बना लेने से यह सिद्ध नहीं होता कि केवल वही स्थिति सत्य है, अन्य मानसिक स्थितियाँ असत्य हैं।

इस शंका का उत्तर इन्द्रभूति ने दिया है कि कल्पना और प्रज्ञा में अन्तर है। संकल्प या कल्पना से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता यथा "मैं राजा हूँ" ऐसी भावना करने पर जैसे कोई राजा नहीं बनता, उसी प्रकार मिथ्या-भावना से मुक्ति नहीं मिलती।[१] अतः 'प्रज्ञा' मिथ्या मानसिक स्थिति नहीं, वह सारी मानसिक सृष्टि का आधार है (Substratum)। वह नाना भावों, कल्पनाओं को जन्म देती है और उनके बिना भी अपने निर्मल रूप में रह सकती है।

ज्ञान :—साकार-निराकार—केवल बोधिचित् की ही सत्ता है, अन्य सब कुछ संकल्पात्मक है, यह कहा जा चुका है। प्रश्न यह है कि जब जगत के पदार्थ केवल संकल्पात्मक हैं, तब देवतादि भी क्या केवल संकल्पात्मक हैं ? क्या उनके आकार, रूप, रंग आदि भावात्मक ही हैं ? अथवा उनकी कोई विशिष्ट सत्ता है ?

इन्द्रभूति के अनुसार देवता का यथार्थ रूप वर्णन असम्भव है,[२] वस्तुतः देवता की सत्ता 'प्रज्ञा' से भिन्न नहीं है ! देवता का आकार, रूप, वाहन आदि कल्पित है, अतः वह मिथ्या है। घट का संस्कार मिट्टी से होता है अतः उसका वर्णन सम्भव है, परन्तु देवता का वर्णन इसलिए असम्भव है क्योंकि उसका संस्कार नहीं हो सकता। संस्कृत वस्तु का विनाश भी होता है, यदि देवता का निर्माण होता है तो उसका विनाश भी मानना पड़ता है अतः देवता का यथार्थ रूप अवर्णनीय है, स्वानुभव-पर आधारित है। देवता का अयथार्थ रूप वाहन, आकार आदि मन व चित्त से उत्पन्न है अतः उस रूप का नाश भी हो जाता है। मन से कल्पित देवता अविनाशी नहीं होता।[3] और कल्पित वस्तु के ध्यान से शुद्ध बोध

---

(१) यद्यनाथो जनः कश्चित् राजाऽहमिति भावयेत्।
कल्पकोटि शतेनापि नासौ राज्यमवानुप्यात्।
मिथ्याकल्पनया यस्माद्, राज्यं तस्य न विद्यते।
मिथ्याभावनया तस्माद् बुद्धत्वं न भविष्यति—ज्ञानसिद्धि

(२) स्वभावाद् देवताकायं तस्माद् वक्तुं न युज्यते।

(३) चित्तस्य कल्पना ह्येषा, सापि संस्कृतलक्षणा।
मनसा कल्पितं यत् तदविनाशं कथं भवेत्—ज्ञानसिद्धि

कैसे होगा ? ध्यान के समय यदि देवता की कल्पना की जाती है, तो उस कल्पना से ज्ञान कैसे होगा ?[१] शुद्ध ज्ञान में उपास्य, उपासक की भावना नहीं रहती, अतः देवता किल्पित पदार्थ है। केवल मूर्खों के लए देवता की कल्पना का उपयोग अवश्य है।[२] बुद्ध का वास्तविक रूप देश, काल, जाति से परे था, भौतिक रूप उसी वास्तविक धर्मधातु का प्रतिबिम्बमात्र था। अतः बुद्ध के रूप का ध्यान केवल मूढ़ जनों के लिए है।[३] अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान की आकारता असिद्ध है।[४]

ज्ञान की निराकारता का खंडन—ज्ञान में जिस प्रकार आकारता नहीं है, उसी प्रकार निराकारता भी नहीं है। यदि कहो कि ज्ञान में आकार नहीं है, तो आकार से रहित होकर जानने की क्रिया कैसे होती है ? मायादि के दृष्टान्तों को देखकर 'अभाव' की कल्पना नहीं करनी चाहिए।[६] यहाँ 'निराकार' शब्द का अर्थ 'अभाव' प्रतीत होता है। सर्वथा अभाव तांत्रिकों को इष्ट नहीं है। यदि रूपादि का सर्वथा अभाव हो तो गौतम बुद्ध को 'दिव्य-चक्षु' क्यों कहा गया ? अभाव मानने पर योग नहीं हो सकता, अतः ज्ञान साकार-निराकार के परे स्वसंवेद्य है, वह अनुभूति द्वारा सबके लिए प्रत्यक्ष है, वह 'तथता (thatness) रूप' वाला है। तभी 'तथता' को प्राप्त करने वाला 'तथागत' कहलाता है। सर्वप्रथम

---

(१) एवं चेत् नास्ति ते सम्यक्, तद् ध्यानेनागतं भवेत्।
त्वया निष्पादितं रूपं कृतकं किं न बुध्यसे—वहीं।

(२) ज्ञानसिद्धि—पृष्ठ २८

(३) तस्मात्मूढ़तरोलोको, योरूपं ध्यातुमिच्छति—वही
रूपभावनयातावत्-वज्रसत्वो न सिद्धयति—
साकारकल्पनाऽप्येवं, वज्रसत्त्वं न साधयेत्—वही

(४) ज्ञानस्य आकारता नहि।
यथाकाशो घटो न स्यात्। नैवाकाशो घटोभवेत्—वही

(५) निराकारमपि ज्ञानं भवेद् यदि विकल्पितम्।
आकारैर्विगतत्त्वात्, किमसौ वेत्ति सर्ववित्—ज्ञानसिद्धि।

(६) मायादयो हि दृष्टान्ता निर्दिष्टाः ससुतैर्जिनैः।
अभावं कल्पनामात्रं सर्वथा नहि सिध्यति—वहीं

'अश्वघोष' ने यह 'तथता' का सिद्धान्त प्रवर्तित किया था। 'सत्य' क्या है? 'तथता' है—ज्ञान क्या है; 'तथता है'—निर्वाण क्या है? 'तथता है'—बुद्ध क्या है, 'तथता है'—इनका वर्णन भाव या अभाव में नहीं हो सकता, अनुभूतिगम्य होने

(१) 'महायानश्रद्धोत्पाद सूत्र' में अश्वघोष ने 'तथता' का सिद्धान्त विस्तार से समझाया है।

'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' में 'अश्वघोष' ने चेतना (आत्मा) को दो रूपों में स्वीकार किया है। १—भूत तथता (the Soul as suchness) (२) संसार (the Soul as birth and death) इनमें प्रत्येक एक दूसरे से सम्बद्ध है, इन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। भूततथता का अर्थ है वह चेतना, जो सभी पदार्थों को अपने में समेट लेती है (Soul is the oneness of the totality of things) इसी को धर्मधातु कहा जाता है। (The great all including whole)।

बाह्य पदार्थ स्मृति के कारण प्रतीत होते हैं। अतः स्मृति विजय ही मुक्ति है। सांसारिक पदार्थ की सत्ता क्या है, यह नहीं कहा जा सकता—सारे पदार्थ एक चेतन तत्त्व से भिन्न नहीं हैं अतः उनकी शब्दों द्वारा व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि शब्द तथा अभिव्यतियाँ सत्य नहीं हैं, उनकी सत्ता हमारी अस्पष्ट चेतना पर निर्भर है अतः उनके द्वारा पदार्थों की सत्ता का वर्णन नहीं हो सकता।

भूत तथता के दो रूप हैं—प्रथम शून्यता, शून्यता का अर्थ है सत्य, जो निषेध के रूप में कहा जाय, अर्थात् सत्य अपने विशेषणों (Attributes) से भिन्न और स्वतंत्र है, गुण व पदार्थ से सर्वथा भिन्न चेतना की शुद्ध स्थिति शून्य है। द्वितीय—अशून्यता—इसका अर्थ है सत्य को भावात्मक रूप में कहना, अर्थात् इसमें अनन्त गुण हैं (Merits) और यह सर्वथा स्वतंत्र है (self-existant)। चूंकि 'तथता' को व्यष्टि-चेतना नहीं समझ पाती, अतः उसे हम 'शून्यता' कहते हैं।

हम चेतना को शाश्वत, अविनाशी; शुद्ध, बुद्ध रूप में जब देखते हैं तब हम उसे 'अशून्यता' कहते हैं, तथापि चेतना को भावात्मक मान बैठना ग़लत होगा, क्योंकि यह अस्पष्ट स्मृति (Confused subjectivity) के द्वारा उत्पन्न नहीं होती, अतः चेतना के वास्तविक रूप को हम केवल स्मृति से सर्वथा अतीत होकर (by transcending subjectivity) ही समझ सकते हैं।

से उसे 'शून्य' या 'तथता' कहा जा सकता है। यही ज्ञान महासुख रूप है।[२] यह महासुख नित्य महासुख है, अनित्यमहासुख इन्द्रियजन्य है, नित्य महासुख प्रज्ञात्मक है। इन्द्रिय-जन्य आनन्द तो खुजली से उत्पन्न आनन्द के समान है।[3]

संसार—(The soul as birth and death) जगत तथागत-गर्भ से उत्पन्न होता है। अमरत्वपूर्ण 'तथता' तथा क्षणिक जगत एक साथ रह सकते हैं क्योंकि सर्वातिशय आत्मा सापेक्ष रूप धारण करती है तब उसे 'आलय-विज्ञान' कहते हैं। विज्ञान के भी दो रूप हैं १ शासक २ अनेक पदार्थों को उत्पन्न करने वाला। विद्या एवं अविद्या भी विज्ञान के रूप हैं। विज्ञान शुद्ध आकाशवत् है, सर्व व्यापक है, धर्मधातु है। धर्म का अर्थ नियम (law) नहीं, अपितु विचार-(idea) आधार (substance) है। धातु या काया का अर्थ है—अवयवी—जिसमें अवयव मिलते हैं (Unified whole) अतः जगत के आधार को जिसमें रूप बनते-बिगड़ते रहते हैं, धर्मधातु या तथागतगर्भ कहते हैं।

मानसिक दशाएँ अज्ञान से उत्पन्न होती हैं, यथा समुद्र में लहरें। सभी पदार्थ चेतना के प्रकाश में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, अतः उन्हें सत् भी कह सकते हैं और चूँकि उनकी चेतना से भिन्न सत्ता नहीं है अतः उन्हें असत् भी कह सकते हैं। बोधि प्राप्त हो जाने पर मानसिक दशाएँ क्षोभ उत्पन्न नहीं करतीं और क्लेश। वरण तथा ज्ञेयावरण का नाश हो जाता है।[१] विज्ञान का भी नाश हो जाता है। यह स्थिति 'तथागत' कहलाती है, शुद्ध प्रकाशमय चिन्मय रूप यही है, इसी स्थिति में करुणा के कारण अन्य जीवों के उद्धार का उपाय होता है, अतः 'करुणा' को सामान्य राग नहीं माना जा सकता। प्रज्ञोपाय की स्थिति में अहंकार का पूर्ण विनाश हो जाता है। यही जगत की उत्पत्ति का स्रोत है अतः 'तथता' की स्थिति में अहंकार से मिश्रित 'करुणा' नामक लोक-प्रसिद्ध भाव नहीं रहता, शुद्ध करुणा का ही प्रज्ञा से संयोग हो सकता है, जिस करुणा से अहं की तुष्टि होती है, वह करुणा अशुद्ध करुणा है।

द्रष्टव्य—महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र का Awakening of faith नाम से चीनी भाषा से अनुवाद—T. Suzuki—chicago—1900

(२) सर्वताथागतं ज्ञानं स्वसंवेद्यस्वभावकम्।
सर्वसौख्याग्रभूतत्वात् महासुखमिति स्मृतम्—ज्ञानसिद्धि।

(३) अनित्यं महासुखं नैवं नित्यं महासुखम्।
कच्छ कण्डूयनोत्पन्नं कथं महासुखं नहि—वही

यहाँ विधि-निषेध, पाप-पुण्य, पवित्र-अपवित्र आदि द्वन्द्व शांत हो जाते हैं, परन्तु प्रारम्भ में वे आवश्यक हैं। इन्द्रभूति ने स्पष्ट कहा है कि सामान्य साधकों को लोकसंग्रह का पूर्णपालन करना चाहिए।[1] बोधिचित् उत्पन्न हो जाने के पश्चात् विधि-निषेध व्यर्थ हो जाते हैं।

करुणा—करुणा या कृपा को 'राग' माना गया है। यह 'राग' अशेष दुःखों का नाश करता है।[2] इसी को 'उपाय' कहा जाता है।[3] क्षीर एवं नीर की तरह प्रज्ञा के साथ इसका मेलन आवश्यक है, यही धर्म है। जब तक ग्राह्य-ग्राहक, सत्, असत्, लक्ष्य-लक्षक की भावना है, तब तक समझना चाहिए कि प्रज्ञा निर्मल नहीं है, प्रज्ञा निर्मल होने पर ही शांति मिलती है।[4] इसी स्थिति को 'धर्मधातु' प्रज्ञापारमिता, स्वाधिष्टानपद कहा गया है। इसी स्थिति से असंख्य मंत्र, मुद्रा, मंडल आदि उत्पन्न होते हैं, देव, दैत्य, प्रेत, पिशाच, यक्ष, रक्ष सभी इसी से उत्पन्न होते हैं। यह स्थिति चिंतामणि के समान है, मुक्ति तथा भुक्ति दोनों इसी स्थिति से प्राप्त होती हैं।[5] कोई भी क्रिया, व्यापार, साधन, प्रज्ञोपाय के बिना फल नहीं दे सकता, तंत्र का यह अटल सिद्धान्त है।

क्या करुणा सामान्य मनुष्य का एक भाव है? राग है अथवा इस 'राग' का कोई विशेष रूप है? तांत्रिक-बौद्धमत में 'करुणा' बोधि का एक रूप (Aspect) है, जो प्रज्ञा की तरह सर्वातीत है। प्रज्ञा (शून्यता) और करुणा (कृपा, उपाय) दोनों सामान्य जन के ज्ञान तथा राग से सम्बद्ध नहीं हैं, अपितु

---

(१) प्राणिनश्च न ते घात्या, अदत्तं नैव चाहरेत्।
नाचरेत् काममिथ्या व मृषां नैव हि भाषयेत्—वही
सर्वानर्थस्य मूलत्वात मद्यपानं विवर्जयेत्
पैशुन्यमथ पारुष्यं सम्भिन्नालापभाषणम्—वही

(२) रञ्जयति अशेष दुःखौघानुत्थांस्तु दुःखहेतुतः।
सर्वसत्त्वान् यतस्तस्मात् कृपा रागः प्रगीयते—प्रज्ञोपाय० अनंगवज्र

(३) सैवोपायः प्रकीर्तितः

(४) न द्वयं, नाद्वयं शान्तं शिवं सर्वत्र संस्थितम्।
प्रत्यात्मवेद्य मचलं, प्रज्ञोपायमनाकुलम्—वही

(५) चिन्तामणिरिवाशेष जगतः सर्वदास्थितः।
भुक्ति मुक्तिप्रदं सम्यक्, प्रज्ञोपायस्वरूपतः—वही

शुद्ध बुद्ध व्यक्ति के निर्मल बोधिचित् के अंग हैं। प्रज्ञारहित करुणा बन्धन है और करुणा रहित प्रज्ञा बन्धन है। दोनों का तादात्म्य ही मोक्ष हैं।[१] प्रदीप और आलोक के समान दोनों का एक्य है।[२] व्यक्तिगत साधक की दृष्टि से 'प्रज्ञा' क्रियाहीन स्थिति है अतः करुणा प्रज्ञा का क्रियात्मक रूप है। वस्तु या कार्य विशेष की ओर प्रज्ञावान् करुणा या उपाय द्वारा ही झुकता है। प्रज्ञा से मनुष्य कर्म बन्धन में नहीं पड़ सकता। और करुणा से वह जगत की सेवा की ओर आकर्षित होता है। डॉ० शशिभूषण दास गुप्त को उपाय एवं करुणा में कुछ अन्तर प्रतीत होता है परन्तु वह अन्तर क्या है, यह स्पष्ट नहीं हो सका। वस्तुतः करुणा द्वारा उपकार के प्रति उन्मुखता के कारण 'करुणा' को 'उपाय' कहा गया है। निश्चित रूप से 'उपाय' शब्द में कार्य करने की विधि, प्रयत्न आदि सम्मिलित नहीं हैं।[3]

बौद्ध-तंत्रों में प्रज्ञा को स्त्री तथा 'उपाय' या करुणा को पुरुष माना गया है। वाराही को प्रज्ञा एवं हेरुक को उपाय कहा गया है। तात्पर्य यह कि प्रज्ञा चेतना का शुद्ध भावात्मक तथा अभावात्मक रूप है जबकि उपाय भावात्मक एवं क्रियात्मक रूप है। प्रज्ञा स्त्री है, उपाय पुरुष है।[४] शैव-दर्शन में पुरुष क्रिया रहित माना गया है, शक्ति क्रियायुक्त, बौद्धमत में इसके विपरीत है। परन्तु यह शब्दों का अंतर मात्र है, शक्ति एवं शक्तिमान का सिद्धान्त शैवतंत्रों की तरह अपनी पद्धतिपर बौद्धतंत्रों में भी स्वीकृत है। यही महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इससे तंत्रों की एकता का पता चलता है। गुह्यसिद्धि में नैरात्म्य-शून्यता तथा प्रज्ञा को स्त्री तथा बोधिचित् को पुरुष कहा गया है। कहीं-कहीं 'महासुख' को स्त्री एवं बोधिचित् को पुरुष कहा गया है। ज्ञान को

---

(१) प्रज्ञारहितो उपायो बन्धः, उपायरहिता प्रज्ञा बन्धः। प्रज्ञासहित उपायो मोक्षः, उपायसहित प्रज्ञा मोक्षः। तादात्म्यं चानयोः सद्गुरूपदेशतः प्रदीपलोकयोरिव सहजसिद्धिमेवाधिगम्यते — कुदृष्टि निर्घातनम् — अद्वयवज्र

(२) शून्यता कृपयोर्भेदः प्रदीपालोकयोरिव।
शून्यता कृपयोरैक्यं प्रदीपलोकयोरिव॥—अद्वयवज्रसंग्रह

(3) An introduction to tantric Buddhism-S. B. Das Gupta Calcutta-150

(4) An Introdction to Tantric Buddhism. S. B. Das gupts

ज्ञानमुद्रा, महामुद्रा, सहजवधू कहा गया है जिससे योगी (पुरुष) रातदिन संयुक्त रहता है।[1] प्रज्ञा को योनि व उपाय को लिंग भी कहा गया है।

जगत—वज्रयान ने जगत के सम्बंध में माध्यमिक एवं योगाचार मत को ही स्वीकार किया है, जगत के पदार्थों की सत्ता निश्चित नहीं हो सकती, यह कहा जा चुका है। 'साधनमाला' में योगाचारमतानुसार जगत को आभासवत्, मायास्वप्नवत् कहा गया है।[2]

काया सिद्धान्त—तांत्रिक-बौद्धमत में महायान के काया-सिद्धान्त का विकास मिलता है।[3] महायान के पूर्व हीनयान में काया-सिद्धान्त मिलता है। हीनयानी गौतम बुद्ध को एक वास्तविक मनुष्य मानते थे, यद्यपि वे महान साधक और सिद्ध पुरुष थे। सर्वास्तिवाद में रूप काया एवं धर्मकाया को स्वीकार किया गया है, प्रथम बाह्य काया है, धर्मकाया गुणों का शरीर है। परन्तु महायान ने गुणों को भी शून्य घोषित किया और धर्म-शून्यता का सिद्धान्त प्रचारित किया। शरीर गुण आदि सब सांवृतिक सत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं। अतः माध्यमिकों के अनुसार वास्तविक धर्मकाया अवर्णनीय, अवाङ्मनसगोचर, सर्वव्यापक, सर्वाधार तत्त्व है, वह अन्य रूपकाया, निर्माण काया एवं सम्भोग काया का आधार है—तथागत बुद्ध का वास्तविक रूप 'धर्मकाया' है, इन्हें 'धर्मता' के रूप में देखना चाहिए, धर्मता अज्ञेय तत्त्व है। अतः महायान के अनुसार काया-विभाजन प्रारम्भिक रूप में इस प्रकार है—१ रूपकाया, इसे 'निर्माणकाया' भी कहा गया है। यह 'काया' भी सूक्ष्म एवं स्थूल दो प्रकार की है, यह भौतिक शरीर का विभाजन हुआ। २—धर्मकाया—धर्मों का शरीर (The body of merits) इसका प्रथम रूप है। आध्यात्मिक-काया (वास्तविक काया) या metaphyisical principle underlying the universe—the reality या 'तथता'।

---

(१) वही

(२) यदेतत् घटपट शकट लयनदेवकुल पर्वतादि चराचरं तत् सर्वं प्रतिभास मात्रं विचारेण प्रतिभासोपमं मायास्वप्नसदृशम्, अहमपि निःस्वभावः स्वप्नोपम इत्थं शून्यतां भावयन्.............साधनमाला, पुस्तक द्वितीय; पृष्ठ १३९

(३) द्रष्टव्य—Mahayan Buddhism and its relation to Hinayan–N. Dutta-Page 100-122

योगाचार सम्प्रदाय रूपकाया के दो भेद करता है—रूपकाया—स्थूल। सम्भोगकाया—सूक्ष्म शरीर। 'लंकावतार सूत्र' में 'सम्भोगकाया' को 'निष्यन्दकाया' कहा गया है। इसे 'निष्यन्द-बुद्ध' भी कहा गगा है। योगाचारमत में 'धर्मकाया' भी स्वीकृत है, इसे 'स्वाभाविक काया' कहा गया है। 'पंचविंशतिसहस्त्रिका' में 'सम्भोगकाया' को 'सूक्ष्मशरीर' के अर्थ में गृहीत किया गया है। इसी 'सूक्ष्मकाया' से बुद्ध बोधिसत्त्वों को आंतरिक (गुह्य) उपदेश देते हैं। धर्मकाया पवित्र शरीर है। माध्यमिक मत जिसे 'तथता' या 'धर्मकाया' कहता है, योगाचार उसे 'स्वाभाविक काया' कहता हैं। योगाचार मत में 'धर्मकाया' को गुणों का समूह माना गया है। गुणों में क्षयज्ञान (दुःख नाशक ज्ञान), अनुत्पाद ज्ञान, तथा सम्यक दृष्टि की गणना की गई है। अतः 'धर्मकाया' के अर्थ में महायान एवं योगाचार मत में मतभेद है। योगाचार मत में धर्मकाया एक पवित्र व्यक्तित्व के अर्थ में (Purified Personality) गृहीत है जबकि माध्यमिक मत में उसे 'अज्ञेय ब्रह्म' के समान वर्णित किया गया है। बसुवंधु के 'अभिधर्म कोश' में धर्मकाया के दो अर्थ हैं (१) गुण (२) पवित्र व्यक्तित्त्व। बसुवंधु के अनुसार बुद्ध की रूपकाया (भौतिक शरीर) की शरण व्यर्थ है क्योंकि वह अपवित्र है। 'धर्मकाया' की शरण इष्ट होनी चाहिए।

सद्धर्मपुंडरीक में कहा है कि बुद्ध ने बुद्धत्व युगों-पूर्व प्राप्त कर लिया था। दीपंकर आदि पूर्व तथागतों को भी बुद्ध ने उपदेश दिया था। उनका निर्वाण बृद्ध की ही सृष्टि थी।

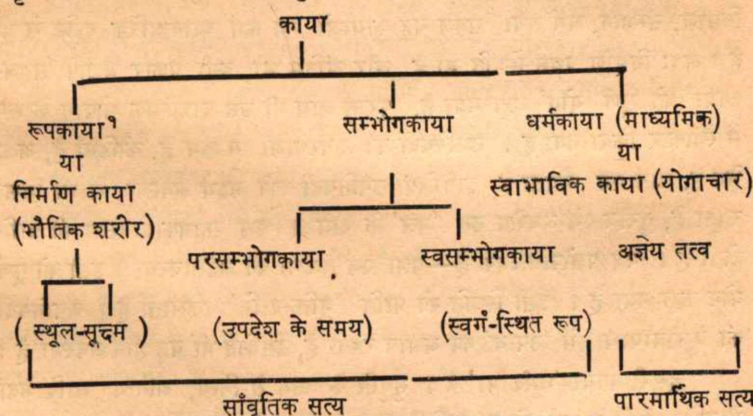
बुद्ध ने जो यह कहा है कि वह उत्पन्न हुए, संन्यास लिया, ज्ञान प्राप्त किया, ये सब वर्णन जनता में विश्वास उत्पन्न करने के लिए हैं। वस्तुतः तथागत अशरीरी हैं, जगत को 'निर्मित (निर्माण) काया' ही दिखायी पड़ती है। उनका वास्तविक स्वरूप 'धर्म काया' है। यह माध्यमिकमत है। इस मत के अनुसार बुद्ध की लीला एक आभास (phantom) मात्र है। लीला का तात्पर्य यह है कि लोग विश्वास करें कि बुद्धत्व-प्राप्ति असम्भव नहीं है। बुद्ध लीला के लिए कोई भी रूप धारण कर लेते हैं, यही रूप काया या निर्माण काया है।

ऊपर कहा गया है कि 'सम्भोगकाया' धारण कर भगवान भक्तों को आंतरिक उपदेश देते हैं, 'महायानमत' का उपदेश गृद्धकूट पर्वत पर इसी काया द्वारा हुआ। इस काया को 'प्रकाशमय' कहा गया है और इसका कवित्वपूर्ण वर्णन किया गया है। श्री नलिनाक्ष दत्त के अनुसार नागार्जुन के समय तक सम्भोग काया,

रूप या निर्माणकाया से अलग न हो पाई थी परन्तु आगे के साहित्य में 'सम्भोग काया' अलग मान ली गई और इसी से 'वास्तविक बुद्ध-बचन' (महायान) का उपदेश हुआ, ऐसा स्वीकार कर लिया गया।

सिद्धि के अनुसार 'सम्भोग काया' के दो रूप माने गए हैं प्रथम सम्भोगकाया या परसम्भोग काया—यह बोधिसत्वों को दिखायी पड़ती है, इसमें महापुरुषों के लक्षण रहते हैं द्वितीय—इसे 'स्वसम्भोग काया' भी कहते हैं, यह अन्य लोकों के निवासी बौद्धों को दिखायी पड़ती है, सुखावती व्यूह में ही इसके दर्शन सम्भव हैं।

स्पष्ट है कि 'सम्भोग काया' उपनिषदों के 'ईश्वर' के समान तथा 'धर्म काया' 'ब्रह्म' के समान बौद्धों में स्वीकृत है। वैष्णवों के गोलोकविहारी आनन्दी कृष्ण से 'सम्भोग काया' का सादृश्य स्पष्ट है।



(१) असंग के अनुसार शिल्प, जन्म, ज्ञान (अभिसंबोधि) तथा निर्वाण की शिक्षा देने के लिए भगवान 'निर्माण काया' धारण करते हैं, यह 'काया' कर्मों द्वारा उत्पन्न नहीं होती, अधर्म के नाश व सद्धर्म के लिए भगवान इच्छानुसार कोई भी काया धारण कर लेते हैं—यही भौतिक काया 'निर्माण काया' है, इस काया के द्वारा श्रावकयान, प्रत्येकयान तथा बोधिसत्वों (अन्य लोकवासी) के लिए उपदेश देते हैं। जिस प्रकार 'राम' ने अधर्म के नाश के लिए दशरथपुत्र बनकर भौतिक रूप धारण किया, वैसे ही भगवान ने शाक्यमुनि का रूपधारण किया अतः 'निर्माणकाया' से भगवान बुद्ध बाह्य नैतिक उपदेश देते हैं, सम्भोग काया से गृद्धकूट पर उन्होंने महायान का उपदेश दिया और इसी सम्भोग काया से धान्यकूट पर्वत पर तंत्रमार्ग का उपदेश दिया। धर्मकाया पारमार्थिक रूप है, जो अज्ञेय है।

वज्रयान (मंत्रयान) तीन कायाओं के अतिरिक्त एक चतुर्थ काया भी स्वीकार करता है। रहस्यमय अनुभूति के लिए इन चार कायाओं को मानसिक-सोपानों के रूप में स्वीकार किया गया है। यह चतुर्थकाया विज्ञानवादियों की 'स्वाभाविक-काया' का ही विकसित रूप है, इसे तंत्र 'सहजकाया' कहता है, यह तंत्रों की अंतिम साधनात्मक स्थिति है, यही प्राप्य है। उपनिषद् भी जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति व तुरीय—इन चार अवस्थाओं को मानती है, परन्तु वज्रयान अपनी चार कायाओं को उपनिषद की अवस्थाओं से उच्चतर सिद्ध करता है, 'सहजकाया,' तुरीयावस्था से उच्चतर है, धर्मकाया सुषुप्ति से, सम्भोग स्वप्न से तथा निर्माण जागृत अवस्था से उच्चतर स्थिति है।[1]

चूँकि तांत्रिक ज्ञान की कोटियों को केवल व्यावहारिक दृष्टि से मानते हैं, अतः निर्माण, सम्भोग, धर्म तथा सहज यह कायाओं का क्रम व्यावहारिक दृष्टि से ही है। अतः निर्माण प्रथम स्थिति भी है और अंतिम भी, इसी प्रकार यद्यपि 'सहज-काया' को 'पूर्ण योग' कहा गया है, परन्तु साथ ही उसे प्रारम्भिक सोपान के रूप में स्वीकार किया गया है। उपनिषदों की अवस्थाओं में क्रम है, कोटियाँ हैं, अतः भेद है, ज्ञान एवं ज्ञेयता है इसीलिए उपनिषदों की अद्वय अवस्था में भी 'मल' रहता है, तुरीय में अवशेष इस 'मल' के क्षय से इस सहजकायावस्था की प्राप्ति होती है। यह प्रज्ञोपायात्मक है—प्रज्ञा एवं करुणा की अद्वैतावस्था। इसी को पूर्ण योग कहा गया है। इसी स्थिति की प्राप्ति 'मुक्ति-प्राप्ति' कहलाती है। उपनिषदों की 'तुरीयावस्था' में 'उपाय' का अभाव रहता है, इसलिए भी वह हीन अवस्था है।

दूसरी काया 'धर्मकाया' है। सुषुप्ति के क्षय से नित्य, अनित्य आदि भेदों से रहित, मैत्री से पूर्ण, चित्त की निर्विकल्प अवस्था को 'चित्तवज्र' या 'धर्मकाया' कहते हैं। प्रज्ञा व उपाय की एकता से इसे 'धर्मात्मा-योग' कहा जाता है। इस स्थिति में तर्क का अभाव है "मैं सम्यक-सम्बुद्ध हूँगा" ऐसा अनुभव नहीं रह जाता। यह स्थिति उपनिषदों की सुषुप्ति से उच्चतर है,

(१) सेकोद्देश टीका—नारोपा—G. O. Series

इस ग्रन्थ को 'कालचक्रयान' सम्प्रदाय का ग्रन्थ माना जाता है, जो वज्रयान सम्प्र० का एक रूप है, साधना की विशिष्टिता के कारण ही इसका यह नाम पड़ा। 'काल' (Time) पर योग द्वारा अनुशासन इस कालचक्र यान की विशेषता है। अन्यतंत्रो में भी 'काल' विजय का वर्णन है—'कालचक्र' को देवता के रूप में भी स्वीकार किया गया है।

सम्भोगकाया तृतीयकाया है, इसे 'वाग्वज्र' कहा गया है। सारे प्राणियों का मोदन तथा त्राण इसी अवस्था से होता है, बुद्ध ने इसी अवस्था में तंत्र का उपदेश दिया था। इसी को 'मंत्रयोग' भी कहा गया है। 'प्रज्ञोपाय' की यहाँ भी एकता है। यह स्थिति सभी संस्कारों के नष्ट होने पर प्राप्त होती है, 'उपनिषदों की स्वप्नावस्था' से यह स्थिति महानतर है।[1]

चतुर्थ काया 'निर्माणकाया' है, जागृत अवस्था के क्षय से यह अवस्था उत्पन्न होती है, इसी से अनन्त रूपों व कायाओं की सृष्टि होती है, सभी क्लेशों की नाशक तथा रौद्र, राग, रस, शान्त आदि की संकीर्णता से रहित, उपेक्षात्मक अवस्था यही है, इसे 'कायावज्र' कहा गया है। यद्यपि निर्माणकाया को प्रारम्भिक स्थिति कहा जाता है परन्तु इसे अंतिम अवस्था भी माना जाता है। नारोपा का कथन है कि 'विमल प्रभा' नामकतंत्र के प्रथम श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि निर्माणकाया ही सहजकाया है, यही शून्यता है, ज्ञानवज्र और शुद्ध योग यही है।[2] तुरीयावस्था जिसमें 'राग' शेष रहता है, सुषुप्ति जिसमें तमस् अवशिष्ट रहता है, स्वप्नावस्था, जिसमें विकल्प रहते हैं तथा जाग्रतावस्था, जिसमें संज्ञात्मक ज्ञान

(१) सम्भोगकाया की स्थिति में तर्क व इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। इस विशेष स्थिति में 'स्वप्न' होने का भ्रम न हो अतः इसे स्वप्न से उच्चतर कहा गया है, इसी अवस्था में 'ध्वनि' का जन्म होता है जो ज्ञान से एकाकार है, बीजमंत्रों का जन्म होता है, इन मंत्रों में सृष्टि एवं विनाश की शक्ति रहती है, आनन्द भी बीज रूप में इन मंत्रों में सुरक्षित रहता है। इनसे मन की रक्षा होती है, अतः मंत्र को त्राणात्मक कहा गया है। सम्भोगकाया की इसी स्थिति में अवस्थित होकर बुद्ध भगवान ने गृधकूट पर्वत के पास 'मंत्रयान' का उपदेश दिया था। मंत्रयान भाव एवं अभाव' के पिण्डगत रूप, श्वास-प्रश्वास को वश में लाकर 'शक्ति' के 'ऊर्ध्व-संचरण' में विश्वास करता है, मंत्रों के द्वारा ही शक्ति को जाग्रत किया जाता है और उसके ऊर्ध्व-संचरण द्वारा अनन्त शक्ति तथा अपरिमित आनन्द की प्राप्ति की जाती है। सम्भोगकायावस्था के बिना मंत्र निर्वीर्य हो जाते हैं।—द्रष्टव्य-सेकोद्देश्य-टीका की भूमिका-पृष्ठ १२-१३

(२) स एव सहजकायः, शून्यताविमोक्ष-विशुद्धो ज्ञानवज्रः, सर्वज्ञ-प्रज्ञोपायात्मकः शुद्धयोग इति। स एव धर्मकायो............................स एव...............
सम्भोगकायो..................................स एव निर्माण कायो...................
सेकोद्देशटीका—पृष्ठ ६

(discriminative consciousness) रहता है, इन सभी अवस्थाओं से उच्चतर स्थिति की प्राप्ति निर्माण या सहजावस्था में होती है।[1] यह स्थिति ही 'महासुख' दातृ है। प्रथम और अंतिम स्थिति को एक मानने का कारण यह है कि 'सहजावस्था' प्रथम अर्थ में आत्यंतिक स्थिति है, सृष्टि के पूर्व यह सहजावस्था (उपनिषद् का ब्रह्म या आत्मा) ही अपने को विषय और विषयी के रूप में विभाजित करती है और विषय एवं विषयी के नाश के बाद साधक शुद्ध स्वरूप में स्थित होकर 'सहज' हो जाता है। अतः इस दृष्टि से 'सहजावस्था' या 'सहज-काया' अंतिम स्थिति हुई = चतुर्थकाया।

द्वितीय अर्थ में सहजकाया ही निर्माणकाया है, 'कायावज्र' की प्राप्ति सहजसाधना द्वारा ही होती है, अतः साधक साधना के प्रारम्भ में किसी स्त्री (प्रज्ञा) के साथ योग प्रारम्भ करता है। इस साधना में मस्तक में स्थित बिन्दु = वीर्य = बोधिचित् = पुरुष-शक्ति को प्रज्ञा के मिलन द्वारा (रति—क्रिया) द्रवित किया जाता है, साधक का बोधिचित् (वीर्य) द्रवित होकर वज्रमणि (लिङ्ग) तक आता है और प्रज्ञा (योनि) में गिर कर न केवल बाह्य सृष्टि करता है अपितु साधक द्वारा बोधिचित् एवं प्रज्ञा के मिलन का यह आध्यात्मिक लक्ष्य समझ लेने पर, बाह्य रति-क्रिया आंतरिक शक्ति को जाग्रत कर देती है और इस शक्ति द्वारा मस्तक से स्खलित बिन्दु (वीर्य-बोधिचित्) को पुनः मस्तक पर ही पहुँचा दिया जाता है (ऊर्ध्व-रेतस्-योग) और योगी इस प्रकार 'सहज' (सम्भोग) साधना द्वारा शरीर स्थित शक्ति को ऊर्ध्व-संचरित करता है और अंतिम स्थिति (सहज काया—चतुर्थ अवस्था) को प्राप्त कर नित्य निर्द्वन्द्व हो जाता है। यही सहजानन्द है, प्रथम एवं अंतिम काया का एक्य यही है, स्खलन तथा ऊर्ध्व-संचरण, अधोमुख विकास (involution) तथा विकास (evolution) की एक साथ अनुभूति ही तांत्रिक बौद्धमत की विशेषता है। बाह्य और आंतरिक की एकता 'सहजयोग' के बिना असम्भव है, तंत्रों की यह घोषणा है, शैव एवं शाक्ततंत्र भी इसे स्वीकार करते हैं।

वज्रयोग—वज्रयान में 'वज्र' शब्द की बड़ी महिमा है। हिब्रू-ग्रीक रहस्यवाद में भी 'आदम' Adam शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके दो

---

(१) दुर्वाररागमलावलिप्तोभयेन्द्रियात्मकतुर्यांतमोऽभिभूतसुषुप्तप्राणोत्पादितसद-सत्स्वप्नानेकविकल्प भावससंज्ञात्मक जाग्रदवस्थाध्वंसके:............वही—पृष्ठ ५

अर्थ हैं १ साधना में दीक्षित होने पर साधक का एक प्रकार से पुनर्जन्म होता है २ आदम का अर्थ है 'वज्र' (diamond)। क्योंकि साधक वज्रवत् दृढ़ हो जाता है, उसकी दुर्बलताएँ जलकर भस्म हो जाती हैं।[1] वज्रयान में भी यही सिद्धान्त स्वीकृत है, साधना में प्रयुक्त प्रत्येक पदार्थ—जल, कुम्भ आदि सभी के लिए 'वज्र' शब्द का प्रयोग किया जाता है। साधक प्रत्येक पदार्थ को विशेष दृष्टिकोण से देखता, सूँघता और स्पर्श करता है, प्रत्येक कार्य से वह 'सर्वातीत सत्ता' को प्राप्त करना सीखता है, प्रत्येक बाह्य-पदार्थ व क्रिया को वह आंतरिक सत्यों का प्रतीक मानता है अतः उसका नाम 'वज्राचार्य' पड़ता है।

'वज्राचार्य' को विशुद्ध योग, धर्म योग, मंत्र योग, एवं संस्थान-योग—इन चार सोपानों को पार करना पड़ता है। चार प्रकार की मुक्तियों को पार करके ही योगी इन योगों को प्राप्त करता है—शून्यता-विमोक्ष, अनिमिता-विमोक्ष, अपरिह्वित-विमोक्ष तथा अनभिसंस्कार-विमोक्ष। मुक्तियों द्वारा प्रत्येक वज्रयोग से सम्बद्ध मानसिक-स्थितियाँ प्राप्त होती हैं, इन स्थितियों को प्राप्त करने के लिए ४ मार्ग हैं, प्रत्येक मार्ग से एक मानसिक स्थिति-विशेष और वज्रयोग विशेष की प्राप्ति होती है। इन मानसिक-स्थितियों (faculties) को 'वज्र' नाम दिया है। प्रथम वज्रयोग 'कायावज्र' कहलाता है, इसमें भौतिक शरीरादि की उन्नति होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्यन्तिक स्थिति को प्राप्त करने के लिए 'शरीर' की सहायता आवश्यक है, 'कायावज्र' का यह भी अर्थ है। 'वाग्वज्र' में वाणी की पूर्णता प्राप्त होती है, चित्त-वज्र में मानसिक विकास होता है और ज्ञानवज्र में 'प्रज्ञा' का विकास होता है। प्रत्येक काया के साथ यह वज्रयोग सम्बद्ध है—

निर्माण काया—कायावज्र—विशुद्ध योग—शून्यता-विमोक्ष
सम्भोगकाया—वाग्वज्र—धर्म योग—अनिमिता-विमोक्ष
धर्मकाया—चित्वज्र—मंत्र योग—अपरिह्वित—"
सहजकाया—ज्ञानवज्र—संस्थान योग—अनभिसंस्कार"

अभिसम्बोधि सिद्धान्त—अभिसम्बोधि का अर्थ है 'पूर्ण-प्रकाश'। सम्बोधियों से सृष्टि-विज्ञान की व्याख्या की जा सकती है। ये काया-सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं—

---

(१) सेकोद्देश्य टीका—भूमिका भाग—पृष्ठ ६

१. एकक्षणाभिसम्बोधि—सहज काया

२. पंचकार सम्बोधि-धर्मकाया

३. विंशत्याकार सम्बोधि—सम्भोगकाया

४. मायाजालाभिसम्बोधि—निर्माणकाया

प्रथम अभिसम्बोधि में अनवरत और सहसा प्रकाश की प्राप्ति होती है, अतः वह सर्व श्रेष्ठ है। मायाजालाभिसम्बोधि में सांसारिक भ्रमों का ज्ञान होता है। परन्तु साथ ही इन बोधियों से गर्भ-स्थित शिशु की वृद्धि, श्वास-प्रश्वास, विकास-अधो-मुख विकास (involution) आदि का भी ज्ञान होता है, चेतना जब जीव का रूप धारण करती है, तब इसे 'उत्पत्ति-क्रम' कहते हैं, पंचज्ञानेद्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, स्कन्ध, धातु आयतन आदि का विकास भी इसमें सम्मिलित है—यह ज्ञान योगी ध्यान द्वारा प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार शैव बीज एवं बिन्दु से सृष्टि का विकास समझाते हैं, वैसे ही बौद्धतंत्रों में बिन्दू की कल्पना है, जिस प्रकार स्त्री-पुरुष-मिलन से बिन्दुपात से जीव की सृष्टि होती है, वैसे ही ज्ञान होने के पश्चात् चेतना ऊर्ध्व-संचरण की ओर उन्मुख होने पर एक 'बिन्दु' से परमार्थ की ओर चलती है। अतः बिन्दु विकास तथा अधोमुख विकास (involution) दोनों का प्रारम्भिक स्थान है। सर्वप्रथम श्वास, प्रश्वास को वश में करके काल-विजय की जाती है। इच्छा-शक्ति से ही यह सम्भव होता है। श्वास-प्रश्वास दिन तथा रात की प्रतीक हैं। इसी प्रकार पक्ष, मांस, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, वर्ष आदि काल पर विषय की जाती है, पिण्ड में ब्रह्माण्ड के सभी तत्व विद्यमान हैं, अतः पिण्ड-विजय ही ब्रह्माण्ड विजय है। अंतिम सोपान में श्वास-प्रश्वास रुक जाता है, और योगी की शक्ति आत्मकेन्द्रित होती है। आध्यात्मिक उन्नति की बाधाएँ कट जाती हैं। यही स्थिति योगी का **'पुनंजन्म'** है। इसी को 'वज्रसत्व' अवस्था कहते हैं।

द्वितीय स्थति 'महासत्व' है, तृतीय है 'बोधिसत्व' और चतुर्थ है 'समय-सत्व'। इस क्रम को उलट कर कहा जाता है अर्थात् समयसत्व प्रथम, बोधि-सत्व द्वितीय, महासत्व तृतीय एवं वज्रसत्व अंतिम अवस्था भी कही जाती है, क्योंकि प्रकाश की प्राप्ति में क्रम और अक्रम दोनों रहते हैं।

शैव साधक 'बिन्दु' को ईश्वर मानकर इससे ही सृष्टि का विकास समझाते हैं—बौद्धों के अनुसार भी इस 'बिन्दु' में अव्यक्त शक्ति अवस्थित रहती है, इसे

'अच्युत' और 'स्वाभाविक' कहा गया है। यह प्रथम और अंतिम स्थिति है। 'बिन्दु' से 'शरीर' तक के विकास को योगी ध्यान द्वारा देखता है। 'बिन्दु' (चेतना का सृष्टि के लिए उन्मुख रूप) को संवित् भी कहा गया है। श्वास एवं प्रश्वास रूप में यह बिन्दु व्यक्त हो रहा है, अतः श्वास को 'प्रकाश' एवं प्रश्वास को 'विमर्श' कहा गया है शैवतंत्र भी संवित्, प्रकाश और विमर्श शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु इनके अर्थों में किंचित् अंतर है। जाग्रत अवस्था को यहाँ दिन, स्वप्न को रात एवं सुषुप्ति को प्रकाश कहा गया है क्योंकि सुषुप्ति में संवित् प्रकाशित हो जाती है, सांसारिक ज्ञान शांत हो जाता है। तुर्यावस्था को 'विमर्श' कहा गया है, जबकि शैव-तंत्रों में विमर्श शक्ति या शिव का क्रियात्मक रूप है। परन्तु शिव-शक्ति की एकता का आधारभूत सिद्धान्त यहाँ स्वीकृत है।

भूत-विजय—आयतन का अर्थ हैं प्रत्यक्षीकरण (perception) एवं इन्द्रियों के विषय। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पंचभूतों को 'प्रज्ञा' (स्त्री) माना जाता है और पंचस्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) को 'उपाय' (पुरुष) माना जाता है। इनकी एकता का ध्यान शक्तियों के सहित ध्यानी-बुद्धों के रूप में किया जाता है। शक्ति-संयुक्त (युगनद्ध) ध्यानी बुद्धों के ध्यान से इन्द्रिय तथा विषय की एकता सिद्ध होती है और दृश्य एवं द्रष्टा की एकता प्राप्त हो जाती है। शनैः शनैः भौतिक जगत् की सत्ता भ्रम पूर्ण है, यह ज्ञान होने लगता है, और साधक उसे अतीत कर प्रतिबिम्बवत् देखने लगता है। यही धर्मकाया का सोपान है।

सम्भोगकाया के ध्यान में काल-विजय आती है। काल को क्षणों, दिवसों मास और संक्रान्तियों में बाँटकर ध्यान किया जाता है। इन्द्रियातीत शक्तियों के जाग्रत हो जाने से इस स्थिति में काल-विजय होती है।

निर्माणकाया में १६ प्रकार के आनन्दों पर विजय होती है। ये आनन्द भौतिकसृष्टि की उत्पत्ति से सम्बद्ध हैं, यथा मैथुन का आनन्द। क्रमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द, सहजानन्द, इन चार कक्षाओं में १६ प्रकार के आनन्दों को रखा गया है। ये आनन्द भौतिक भी हैं और पारमार्थिक भी, दोनों में अभेद स्थापित करना ही साधना है—जब भौतिक आनन्द पारमार्थिक आनन्द का बाधक न रह जाए तब साधना पूर्ण हो जाती है, पूर्ण प्रकाश की प्राप्ति होने पर ही मैथुनादि का ऐन्द्रिक आनन्द पारमार्थिक आनन्द के रूप में प्रतीत होने लगता है और योगी

एन्द्रिक ओर अतीन्द्रिय अनुभूतियों में द्वैत नहीं देखता वह निर्द्वन्द्व होकर बिहार करता हुआ निराकुल रहता है। अतः 'सहजानन्द' प्रथम स्थिति है और अंतिम भी। साधना का प्रारम्भ भी पंचमकार से होता है और अन्त भी पंचमकार में ही होता है, प्रकाश जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, श्वास-प्रश्वास पर जैसे-जैसे अनुशासन बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे भौतिक आनन्द क्षोभ कम उत्पन्न करते हैं ओर अन्त में सांसारिक अनुभव एवं पारमार्थिक अनुभव में अद्वय स्थापित हो जाता है। योगी विधि-निषेध से परे हो जाता है।

प्रतिपत्ति-सिद्धान्त—अभिसम्बोधित के सिद्धान्त से 'उत्पत्ति क्रम' पर प्रकाश पड़ता है इनसे ईश्वर और मनुष्य किस प्रकार सृष्टि करते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। उत्पत्ति क्रम से सृष्टि का विकास तथा 'उत्पन्न क्रम' से साधना में पूर्णता-प्राप्ति को समझाया जाता है। 'उत्पन्न-क्रम' में सर्वातीत ध्यान-प्रक्रिया का वर्णन है, इसे ही प्रतिपत्ति कहते हैं। उपसंज्ञा, वेदना, संस्कार, विज्ञान, ज्ञान, लक्षण, इन षट् स्कन्धों द्वारा १० सृष्टि-सम्बंधी निमित्तों—धूम्र आदि का ध्यान किया जाता है।[1] पंचभूत तथा ज्ञान तथा आयतन (शरीर, जिह्वा, नेत्र, श्रवण तथा आत्मा) तथा धर्मधातु (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध) भी इस ध्यान-प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं।

युगनद्ध-सिद्धान्त

पूर्ण अद्वय की अवस्था की प्राप्ति ही युगनद्धावस्था है। 'युगनद्ध' का अर्थ है, दो का परस्पर संयुक्त होना, यथा रतिकाल में पुरुष एवं स्त्री संयुक्त होते हैं तथैव प्रज्ञा (स्त्री) तथा उपाय (पुरुष) की संघट्टता ही युगनद्धावस्था कहलाती है। शैव इसे शक्ति-शिव की 'संघट्टावस्था कहते हैं। शैवों की शक्ति-शिव की 'संघट्टा-वस्था' को वेदान्त 'स्वरूपस्थिति' कहता है। यह अवस्था वही है, जब चेतना में किसी प्रकार की हलचल नहीं होती। जागतिक पदार्थों की शून्यता ज्ञात हो जाने पर, शरीर, मन, शब्द में 'तथता' का ज्ञान भर कर जब साधक जगत के दुःखों के नाश के लिए संनद्ध होता है, तब 'युगनद्धावस्था' प्राप्त होती है। सांवृतिक सत्य एवं परमार्थिक सत्य की एकता इसी अवस्था में प्राप्त होती है। यह स्थिति

---

(१) क्रमशः धूम्र, मृगजल, अग्निमक्षिका, दीप, ज्योति, चन्द, सूर्य, चन्द्र-ग्रहण, चन्द्रकला, बिन्दु ये दस प्रतिपत्तियाँ (ध्यान) कही गई हैं—सेकोद्देशटीका।

अवाङ्मनसगोचर है। ज्ञान एवं सांसारिक कर्मों का यहीं सहअस्तित्व होता है। भाव, अभाव, स्मृति, विस्मृति, राग, विराग, कारण, कार्य सब द्वन्द्वों से यह अवस्था अतीत है। यही 'बृद्धत्व' एवं 'वज्रोपम' अवस्था है।

ज्ञान एवं क्रिया (साधना) की एकता से ही यह अवस्था प्राप्य है। शैवतंत्रों में भी शिव शक्ति के माध्यम से ही स्वरूपस्थिति को प्राप्त करता है। शुद्ध ज्ञान (चेतना) अपने प्रकृत रूप का अनुभव नहीं कर सकता, इसके लिए वह अपने ही एक रूप—क्रिया को अपनाता है[1]; यह क्रियाशक्ति ही देवी है, बौद्धतंत्रों में यही योगिनी है, अतः बौद्धतंत्रों में आलिङ्गनबद्ध देवी-देवताओं के रूप दिखायी पड़ते हैं। तिब्बत में देवी-देवताओं के इस रूप को 'यबयुम' कहते हैं। वैष्णवों में लक्ष्मी-नारायण तथा 'युगलकिशोर' के पीछे भी यही रहस्य है।

अद्वयवज्र ने लिखा है कि 'युगनद्ध' को समझने के लिए जागतिक पदार्थों को 'निःस्वभाव' समझना चाहिए, पदार्थ स्वतः नहीं हैं, वे किन्हीं कारणों से उत्पन्न होते हैं अतः वास्तविक रूप में उनकी उत्पत्ति होती है, यह नहीं कहा जा सकता। यथा रूप न रूप में रहता है, न नेत्र में रहता है, न विज्ञान (चेतना) में रहता है अतएव 'रूप' का 'उत्पाद' केवल हमारी 'प्रतीति' पर निर्भर है। इसी प्रकार आग न पुरुष के हाथ में है न मथनीय लकड़ी में, अतः वस्तु की अजातता सिद्ध है। परन्तु वस्तु की प्रतीति भी होती है अतः पूर्णतः अजातता भी नहीं है, अतः भाव एवं अभाव दोनों की एकता ही 'युगनद्धता' है।[2]

---

(1) ......pure abstract thought can not realise its own nature unless it comes back to itself through its own activity and when it Thus turns back to itself through Vimarasa, it becomes the Egohood.

An introduction to Tantric Buddhism
S. B. Das gapta, Page 129

(२) रूपे न विद्यते रूपं न वा चक्षुषि विद्यते।
न चैतत् तज्जविज्ञाने, दारुबह्निकथा यथा
मन्थाने मथनीये वा न वा पुरुषहस्तयोः
प्राक्सिद्धो विद्यते बह्निः प्रतीत्याऽर्थः स जायते।
नैःस्वाभाव्यादजातत्वं प्रत्ययादनिरुद्धता।
भावाभावावतो न स्तो, युगनद्धं तु भासते—युगनद्ध प्रकाश, अद्वयवज्र संग्रह

जागतिक पदार्थों की प्रतीयमान सत्ता है, यह ज्ञान हो जाने पर साधक प्रत्येक अवस्था में निर्द्वन्द्व रहता है। यही 'शून्यता' है, इस शून्यता को 'स्त्री' तथा इसकी अभिव्यक्ति को 'पुरुष' कहा गया है, दोनों की एकता होने पर 'सहज प्रेमावस्था' उत्पन्न होती है, अर्थात् युगनद्धता ही सहज प्रेम है।[१]

राग-महाराग—'महासुख' का सिद्धान्त 'महाराग' के सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध है।

'उच्छूष्मतंत्र' में कहा गया है कि शिव एवं शक्ति के समायोग से 'महासुख' मिलता है।[२] बाह्यरूप में यह सुख वीर्य-स्खलन के क्षण में प्राप्त होता है, इस क्षण के आनन्द से ही आंतरिक 'महासुख' की प्राप्ति सम्भव है, क्योंकि वीर्य-स्खलन के समय ही निज, परत्व का ज्ञान मिट जाता है, पूर्ण तादात्म्य प्राप्त होता है, स्वसंवित्ति की यह अनुभूति तत्व ज्ञान में सहायक है। इसी आनन्द को ब्रह्मानन्द कहा गया है। यह अवस्था सब समय रहे, यही जीवन्मुक्ति है अतः अनवरत शक्ति-सहवास अनवरत ब्रह्मानन्द में मग्न रखता है। इस अवस्था में जिधर दृष्टि जाती है, उधर 'ब्रह्म' के दर्शन होते हैं। अतएव प्रिया-दर्शन भी ब्रह्मदर्शन ही है, चूँकि प्रिया-दर्शन सबसे अधिक मनोरम है, अतः अन्य वस्तुओं को देखने की क्या आवश्यकता है?[३] प्रिया-सहवास द्वारा जो 'राग' उत्पन्न होता है, उसी में पूर्ण तन्मय होने से, ब्रह्मानन्द या निर्वाण प्राप्त होता है; इसलिए तंत्र इस 'राग' को 'महाराग' कहते हैं। धर्म एवं अधर्म, विधि और निषेध की भावनाओं में पतित पशु इस साधना को नहीं समझ सकते। किन्तु तंत्र तत्वज्ञान के अभाव में भोग को विनाशक मानते हैं,

(१) शून्यता अतिवरा कान्ता, मूर्त्या निरुपमा तु या।
प्रथक् यदि कदाचित् स्यात्, बद्धः स्यात् कान्तनायकः।
दम्पती शङ्कितौ तस्मात्, गुरोरूपस्थितौ पुरः।
निजप्रीत्या तयोस्तेन, साहजं प्रेम कारितम्—प्रेमपंचक
अद्वयवज्रसंग्रह

(२) शिवशक्तिसमायोगात् सत्सुखं परमाद्वयम्। —अद्वयवज्रसंग्रह—

(३) यद् यद् वै दृश्यते किञ्चित्, तत् तद् ब्रह्मेति कल्पयेत्।
प्रियादर्शनमेवैकं किमन्यद्दर्शनान्तरैः
प्राप्यते येन निर्व्वाणं, स्वरागेणापि चेतसा—वही

अतः ज्ञान के द्वारा भोग ही मुक्तिदायक है। ग्राह्य एवं ग्राहक से परे होकर अक्षोभ प्राप्त होता है।[1]

उपनिषद् का तत्वज्ञान मन, चित्त, बुद्धि के विनाश (Anihilation) द्वारा मुक्ति प्राप्ति में विश्वास रखता है जबकि तांत्रिक मार्ग विराग द्वारा, राग द्वारा—मन, चित्त, इन्द्रियों से जन्य आनन्द द्वारा ही निर्वाण प्राप्त कराता है।[2] अज्ञानी जन जिन आनन्दों के द्वारा नरक में पड़ते हैं, योगी उन्हीं के द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं।[3] जगत के सारे आनन्द साधकों के हित के लिए ही निर्मित किये गए हैं, मूर्खों का इनके भोग से पतन होता है—ज्ञानियों का नहीं।[4]

महासुखवाद्—प्रारम्भिक बौद्धमत में इच्छा का पूर्ण नाश ही निर्वाण है, महायान में निर्वाण का वर्णन उपनिषदों की 'मुक्ति' अवस्था के समान वर्णित है, उसमें आनन्द एवं शान्ति दोनों की प्राप्ति होती है, किन्तु 'वज्रयान' में मुक्तावस्था के इस आनन्द को 'महासुख' का नाम दिया गया है। भावात्मक रूप में 'महासुख' की स्वीकृति वज्रयान की विशेषता है। केवल मानसिक वृत्तियों का शमन ही निर्वाण नहीं है अपितु इसमें अवर्णनीय लोकोत्तर महासुख प्राप्त होता है। "मैं सुख भोग रहा हूँ" ऐसी भावना इस अवस्था में नहीं रहती अतः यह स्थिति निर्विकल्प स्थिति है और निर्विकल्प होने में ही 'महासुख' है।

अद्वयवज्र के अनुसार न वस्तु की सत्ता सिद्ध होती है न असत्ता सिद्ध होती है, अतः भाव एवं अभाव का अद्वय ही महासुख देता है। यह सुख सांसारिक सुख नहीं है न इस स्थिति में सुख का अभाव है, क्योंकि सुख के अभाव में बोधि (ज्ञान)

---

(१) त्यजधर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज। —वही

(२) प्राप्यते येननिर्व्वाणं, स्वरागेणापि चेतसा—अद्वयवज्रसंग्रह

(३) कर्मणा येन वै सत्वाः, कल्पकोटि शतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे, तेन योगी विमुच्यते—ज्ञानसिद्धि

(४) सम्भोगार्थमिदं सर्वं त्रैधातुकमशेषतः।
निर्मितं वज्रनाथेन साधकानां हिताय च—वही

नहीं होती साथ ही आसक्ति की दशा में भी बोधि नहीं ठहर सकती, अतः यह बोधि रूप महासुख लोकोत्तर सुख है ।[1]

चेतना में वस्तु-शून्यता का ज्ञान होते ही देवताकारा स्फूर्ति उत्पन्न होने लगती है, इस स्फूर्ति से ही साधक को फल मिलता है, कोई बाह्य शक्ति उसे फल नहीं दे सकती, इस स्फूर्ति को ही 'देवता' कहा गया है, अतः साधना के समय लौकिक सुख-भोग द्वारा इस अलौकिक निर्विकल्प स्फूर्ति की ओर साधक उन्मुख होता है । अतः जगत के भोग ही उपाय हैं और शून्यता ही प्रज्ञा है, दोनों का तादात्म्य ही महासुख है ।[2]

इस 'तादात्म्य' कीं अनुभूति स्त्री-पुरुष के सहवास द्वारा ही हो सकती है, लौकिक सुख की प्रतीति अलौकिक सुख की सत्ता के कारण ही है । अतः लौकिक सुख के नाश के द्वारा साधना करना 'सहज' पद्धति नहीं है ।[3] लौकिक अज्ञानी पुरुष का लक्ष्य ऐन्द्रिक सुख प्राप्ति हैं, साधक का लक्ष्य है अलौकिक सुख-प्राप्ति । दृष्टिकोण में अंतर होने से लौकिक सुख साधक के लिए मुक्ति का साधन बनता है और अज्ञानी को अधःपतन की ओर ले जाता है । अतः योनि को तंत्रों में 'सुखावती' कहा गया है और 'वीर्य' को ही 'आनन्द' कहा गया है । सुखावती में स्थित होकर (युगनद्ध होकर) ही साधक 'महासुख' पाता है । इसीलिए ताँत्रिक गुह्य साधना बिना स्त्री (मुद्रा) के नहीं हो सकती । योगी भोग एवं योग की प्राप्ति एक साथ करके महासुख प्राप्त करता है ।

समरस या सामरस्य का सिद्धान्त—'महाराग' एवं 'महासुख' से ही सम्बद्ध 'समरसता' का सिद्धान्त है । पूर्णता की अनुभूति ही समरसता है । इस स्थिति में प्रज्ञा एवं उपाय का अलग-अलग बोध नहीं होता, एक साथ होता है ।

---

(१) सुखाभावे न बोधिः स्यात् मता या सुखरूपिणी ।
अस्तित्वे च महान संगः, संसारोदय हेतुकः—महासुख प्रकाश
यथा यथा भवेत् स्फूर्त्तिः, सा तथा शून्यतात्मिका । अद्वयवज्र संग्रह
द्वैताद्वैतमनो यच्च तत्र तद्वासना फलम् ।

(२) शातचित् देवताकारं विश्वचक्रमुपायकम्
प्रज्ञा च शून्यता प्रोक्ता, साध्यतादात्म्यमिष्यते ।—वही

(३) सुखाभावे न बोधिः स्यात्, मता या सुखरूपिणी—वही

चेतना के निम्न स्तर—मन—चित्त, बुद्धि आदि तथा उच्च स्तर—स्वयं प्रकाश्य ज्ञान आदि में पूर्ण एकता इसी स्थिति में दृष्टिगोचर होती है। इसी को 'समरस का चक्र' कहते हैं, अर्थात् जीवन के सभी प्रकार के अनुभवों में, सभी वस्तुओं में एक ही रस का चक्र स्थापित हो जाना ही समरस चक्र है।[१] अथवा जीवन के चक्र में एक ही रस की अनुभूति प्राप्त करना ही समरस चक्र है। मन की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति सामरस्य की स्थिति में नष्ट हो जाती है। यह अद्वयावस्था है। सिद्ध कन्हपाद ने कहा है कि जल में लवणवत् जब मन स्त्री (शून्यता) में मग्न हो जाय तभी सामरस्य की स्थिति प्राप्त होती है। शिव एवं शक्ति का सामरस्य भी यही है। प्रज्ञा तथा उपाय, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति की भी परिपूर्ण एकता इसी का नाम है।

सहज-सिद्धान्त—वज्रयान के विकास में 'सहजयान' आगे की कड़ी है, इन्द्रभूति और लक्ष्मींकरा देवी ने 'सहजयान' का प्रचार किया, यह कहा जा चुका है। किन्तु अन्य वज्रयानी साधक भी वस्तुतः सहजयानी ही हैं, साधना के क्षेत्र में 'सहज' पद्धति को अपनाने से 'सहजयान' का महत्त्व बढ़ा। दार्शनिक दृष्टि से 'सहज' शब्द का अर्थ है 'प्रज्ञाज्ञान'। सहज एवं प्रज्ञा ज्ञान एक हैं। सम्पूर्ण धर्मों का अकृत्रिम लक्षण ही 'सहज' है।[२] धर्म का अकृत्रिम लक्षण यह है कि वे निःस्वभाव हैं, अतः शून्य हैं परन्तु उनका अभाव नहीं है। उनकी प्रतीति अवश्य होती है, अतएव भाव व अभाव से परे शुद्ध बोधि का ज्ञान ही सहज ज्ञान है। व्यावहारिक दृष्टि से 'सहज' का अर्थ सरल है। जगत में भोगों की ओर मन

---

(१) सम = Sameness and Ras = Chakra of Sameness = the oneness of the nature of all that is there in the cycle of existence—An introductisn to tantric Buddhism—

S. B. Das Gupta

(२) सहजं सत्सव्वं सहजच्छायानुकारित्वात् सहजमित्यभिधीयते। सहजच्छाया सहजसदृशं ज्ञानं प्रतिपादयति। सहजं प्रज्ञाज्ञानम्। अतएव प्रज्ञाज्ञाने सहजस्योत्पत्तिर्नास्ति। यस्याः सहजं नाम स्वरूपं सर्व्वधर्म्मानामकृत्रिम लक्षणं इतियावत्।

—अद्वयवज्र संग्रह

का उन्मुख होना 'सहज' है, अत: भोग द्वारा योग की प्राप्ति ही सहज मार्ग है। अन्य साधनाएँ, हठयोग आदि कठिन मार्ग हैं, तत्त्वज्ञान भोग द्वारा भी हो सकता है, यही सहजयान का संदेश है। भोग-संन्यास मन के विरुद्ध कार्य है, अत: उसमें सफलता दुष्कर है।

किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में साधना नाशक है। यथा दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख को भ्रान्तिवश लोग वास्तविक मुख समझ लेते हैं, तथैव कोरे क्रियावादी ज्ञानहीन क्रियाओं द्वारा सहजानुभूति प्राप्त करने का दम्भ करते हैं। ऐसे लोग धर्म का वास्तविक रहस्य नहीं जानते। करुणा एवं शून्य के अभेद को तंत्र 'धर्ममुद्रा' कहते हैं, ललना और रसना (इड़ा-पिंगला—प्रज्ञा-उपाय) के मध्यमार्ग स्थित अवधूती (सुषुम्णा) के मार्ग से सहजसुख का साक्षात्कार होता है। इसी को धर्ममुद्रा कहा गया है। यह 'सहज' का योगपरक अर्थ है। भोग परक अर्थ यह है कि 'अवधूती' (निर्द्वन्द्व) स्त्री के साथ ही 'सहजानन्द' मिलता है।

शाक्त, शैव तंत्र भी वस्तुत: सहजयानी हैं, क्योंकि सभी तंत्रों में यह सिद्धान्त स्वीकृत है कि मन की सहज गति का ही साधक को अनुसरण करना चाहिए। जिधर मन चले उधर ही चलकर, जहाँ मन लगे, वहीं उसे रोककर उस वस्तु से तादात्म्य करना चाहिए, मन को वश में करने का सबसे 'सहज' उपाय यही है। मन के विपरीत मार्ग को संन्यासी अपनाते हैं अत: उनका कार्य कठिन है। हठयोगी भी कठिन मार्गी हैं, कठिन साधना में मन का केवल दमन होता है, वह वस्तुत: वश में नहीं होता और दमित मन अवसर मिलने पर साधक को भ्रष्ट कर सकता है परन्तु 'सहजयानी' मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाते हैं, अत: उनके विश्वास के अनुसार उनका मार्ग श्रेष्ठ और 'सहज' हैं। साथ ही संन्यास मार्ग में केवल कुछ लोग ही उतर सकते हैं जबकि तंत्र मार्ग में प्रत्येक प्रकार का प्राणी मुक्ति पा सकता है, क्रोधी क्रोध द्वारा; भयभीत भय द्वारा और विलासी विलास द्वारा मुक्त हो सकता है, यही इस मार्ग की विशेषता है। मन की सहजगति का अनुसरण प्रत्येक प्राणी के लिए सहज है। मन क्षुब्ध न हो, प्रत्येक व्यक्ति ऐसा प्रयत्न कर सकता है, अत: चित्त के अनुकूल योग होने से यह योग सहज योग कहलाता है।[1]

(१) तथा तथा प्रवर्तेत, यथा न क्षुभ्यते मन:।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन !
तस्मात् सिद्धि परामिच्छन् साधको विगताग्रह:।
चित्तानुकूल योगेन, साधयेत् परमंपदम्-प्रज्ञोपाय-विनिश्चिय सिद्धि

अनंग वज्र ने लिखा है कि जिस प्रकार गोबर से सूत्र दृढ़ किया जाता है उसी प्रकार नाना उपायों से चित्र को दृढ़ किया जाता है, ये उपाय चित्त के अनुकूल होने चाहिए, चित्त के निरोध या नाश के उपाय 'बाधनाजालमल' कहे गए हैं, अत: कठिन प्रक्रियाओं से बचना चाहिए, यही सहजयोग है।[1]

अद्वयवज्र के अनुसार सहज अकृत्रिम है, इसका अर्थ नि:संगता है, सुख असङ्गता से ही उत्पन्न हो सकता है। विश्व को अपनी चेतना में स्थित करके ही यह सहजावस्था प्राप्त है।[2]

आदि-बुद्ध का सिद्धान्त तथा देवमण्डल—बौद्धमत प्रारम्भ में अनात्मवादी एवं अनीश्वरवादी था, परन्तु महायानमत में भाव तथा अभाव आदि कोटियों के परे बतलाकर भी एक सत्ता को स्वीकार कर लिया गया और तांत्रिक बौद्धमत में तो आत्मा एवं परमात्मा को स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया, यद्यपि इन दोनों को अवाङ्मनसगोचर कहा गया है। तांत्रिक-बौद्धमत में नास्तिकता की छाया भी नहीं है।[3] गौतम बुद्ध ने अनीश्वरवादी होने पर भी देवताओं, यक्षों, प्रेतों आदि का खंडन नहीं किया था, यह हम कह चुके हैं, श्री 'कैरेली' के अनुसार गौतम बुद्ध कल्पित ईश्वर में विश्वास न करते थे,[4] उपनिषदें भी 'सत्ता' को

---

(१) गोमयाधार योगेन सूत्रं सन्धार्यते यथा।
चित्त सूत्रं तथा धार्यं, उपायाधारयोगत:
यदाव बुद्धा निरवग्रहेण, चित्तेन सद्भिर्विपुलाशयैस्तु।
तदाभिभूत: सहजावगत्या न बाधना जलमाली भवन्ति॥

(२) सहजोऽकृत्रिमो यस्मात्, तस्मात् सङ्गो न साहजः। वही
सुखं न सहजादन्यत् सुखं चासङ्गलक्षणम्
विश्वं स्वसमवं कृत्वा, मग्न: सहजसागरे—अद्वयवज्रसंग्रह

(3) Mahayanic Buddhism and especially Vajrayan has developed early Buddhist atheism into a system in which all former assumptions of Indian thought, Such as pantheistic, and monistic ideas, found their place in harmony together, No trace of atheism as such is left here. सेकोद्देश्य टीका—नारोपा—भूमिका भाग—Page 20-21.

(४) वही

नेति-नेति कहती हैं। महायान मत में उसी 'सर्वातीत' सत्ता को ही स्वीकार किया गया है।

जगत के पदार्थों की 'सत्ता' वास्तविक नहीं है, वास्तविक सत्ता की परिभाषा यह है कि वस्तु अपनी उत्पत्ति के लिए अन्य किसी वस्तु पर निर्भर न हो परन्तु जगत में प्रत्येक वस्तु दूसरी पर निर्भर है यहाँ प्रत्येक 'उत्पाद' का कोई 'प्रत्यय' (हेतु) है, अतः प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार जगत के पदार्थों की सत्ता 'स्वतंत्र' नहीं है, पदार्थ निःस्वभाव है, अर्थात् वे स्वयमेव सिद्ध नहीं है, किसी अन्य की अपेक्षा पर अवलम्बित हैं अतः 'शून्य' हैं, यह शून्य शब्द का प्रथम और बाह्य अर्थ है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से देखने पर 'शून्य' शब्द का अर्थ वह सत्ता है जो इस बाह्य जगत का आधार है और जो इससे अतीत है, वह न भाव है, न अभाव, न भावाभाव। अतः 'शून्यत्व' के श्री कैरेली ने बाह्य और अंतर्मुख (objective and subjective or Microcosmic) अर्थ किये हैं[1] और ये अर्थ मेरे मत से ठीक हैं। यह सर्वातीत सत्ता (शून्य) सर्व-व्यापक भी है, वज्रयान इसे स्वीकार करता है और इसे 'आदिबुद्ध' नाम देता है, इसी से पंचध्यानी बुद्धों की अभिव्यक्ति होती है। 'आदिबुद्ध' अनादि तत्त्व है, सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा है, उपनिषदों के ब्रह्म के समान वज्रयान में इसका वर्णन किया गया है, इसमें शून्यता एवं करुणा की अद्वैतावस्था है। यह 'काल' है, इसकी शक्ति 'संवित् रूपिणी' है, यह 'चक्र' है क्योंकि वह अनादि है, अतः उसे 'कालचक्र' भी कहा गया है।

आदि बुद्ध के ही विभिन्नरूप विभिन्न लोकों में अवस्थित हैं, अनेक बुद्ध, देवता बोधिसत्त्व आदि अनेक लोकों तथा स्वर्गों में रहते हैं, सभी बुद्ध और बोधिसत्व आदिबुद्ध की तरह ही करुणा एवं प्रज्ञा से संयुक्त हैं, सृष्टि के मंगल के लिए प्रयत्नशील हैं।

आदि बुद्ध पंचस्कन्धों के अधिष्ठाता देवताओं के रूप में पंचध्यानी बुद्धों के रूप में अपने को व्यक्त करते हैं—

रूप	वेदना	संज्ञा	संस्कार	विज्ञान
|	|	|	|	|
वैरोचन	रत्नसम्भव	अमिताभ	अमोघसिद्धि	अक्षोभ

(१) वही पृष्ठ ११

सम्भवत: यह सिद्धान्त सांख्य-दर्शन से प्रभावित है। क्योंकि सांख्य में पंचभूत, पंचतन्मात्रा का वर्णन है।[1] बौद्ध-तंत्रों में ये ध्यानीबुद्ध शक्तियों सहित वर्णित हैं; प्रत्येक के वर्ण, किरीट, मुद्रा, वाहन अलग-अलग हैं। प्रत्येक बुद्ध कुल, बीजमंत्र, महाभूत, इन्द्रिय एवं अवयव विशेष से सम्बद्ध है। जिस प्रकार वज्रयानियों ने प्रत्येक स्थान पर पाँच की जगह एक छठा तत्त्व जोड़ दिया है, वैसे ही ध्यानी बुद्धों के साथ भी एक छठे बुद्ध हैं, 'वज्रसत्व' जो 'आदिबुद्ध' ही हैं और ध्यानी बुद्धों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

श्री बिनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार 'आदिबुद्ध' का सिद्धान्त 'वज्रयान' की एक शाखा 'कालचक्रयान' में आविष्कृत हुआ, परन्तु इसके बीज इसके पूर्व भी मिलते हैं।[2] वस्तुत: वज्रयान के अनेक सम्प्रदायों में ध्यानी बुद्धों को अपनी विशिष्ट पद्धति पर स्वीकार किया गया है।

आदिबुद्ध से ध्यानी बुद्ध अभिव्यक्त हुए हैं, इन्हीं के मानवीय रूप 'बोधिसत्त्व' कहलाते हैं। बौद्धतंत्रों के अनुसार ध्यानी बुद्धों एवं बोधिसत्त्वों का विवरण विस्तृत है[3]—

इस विवरण से स्पष्ट है कि ध्यानी बुद्ध बोधिसत्वों से उच्चतर साक्षात् बुद्ध हैं, ये सदा ध्यानरत रहते हैं, वे बोधिसत्वों की सृष्टि करते हैं। यद्यपि ये पाँच हैं, परन्तु वज्रयानी 'वज्रसत्व' को जोड़कर छह कर देते हैं।

तांत्रिक गुह्य-साधना का सम्बंध वज्रसत्त्वों से है। नैपाल के स्वतंत्र मंदिरों में (जिनपर पेशेवर पुरोहितों का प्रभाव नहीं है) ये दो रूपों में मिलते हैं १. एकाकी रूप में २. युगनद्ध या 'युम' रूप में (शक्तियों से संयुक्त)। द्वितीय

(1) An introduction to tantric Buddhism—S B. Das Gupta

(2) Buddhist iconography—B. Bhattacharya 1924 Calcutta.

(3) An introduction to tantric Buddhism—S. B. Das, Gupta

तथा

Buddhist iconograhy, B. Bhattacharya.

रूप अनुत्तर वज्रसत्व कहलाता है। पूर्व-बौद्धमत में प्रत्येक सदस्य बोधिसत्व कहलाता था। परन्तु पद्मपाणि, रत्नसम्भव आदि बोधिसत्व दिव्य बोधिसत्व हैं। बोधिसत्वों का कार्य क्या है ? बौद्धमत के अनुसार समय पर मानुषी बुद्ध जन्म लेते रहते हैं, यथा गौतम बुद्ध एक मानुषी बुद्ध थे, इनके ४००० वर्ष बाद मैत्रेय नामक मानुषी बुद्ध अवतार लेंगे। अत: इन दो बुद्धों के बीच की अवधि में दिव्य बोधिसत्व मानुषी बुद्ध का कार्य करेंगे। जगत के जीवों को धर्मशिक्षा, निर्वाण के लिए प्रेरणा आदि का कार्य बोधिसत्व ही करते हैं। अतएव गौतम बुद्ध की मृत्यु के बाद अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि नामक बोधिसत्व कार्य कर रहे हैं। यद्यपि बोधिसत्व पाँच हैं परन्तु इनमें कभी-कभी छटे 'घण्टा पाणि' का नाम जुड़ जाता है।

मानुषी बुद्ध (Mortal Buddhas)

हीनयानी साधक २४ बुद्धों को मानते हैं जबकि महायानमत ७ मानुषी बुद्ध या तथागतों में विश्वास करते हैं—

(१) विपश्यन् (२) शिखी (३) विश्वबाहु (४) क्रकुच्छन्द (५) कनकमुनि (६) कश्यप (७) शाक्यसिंह (गौतम बुद्ध)।

कभी-कभी इन सातों के साथ 'मैत्रेय' नामक बुद्ध को भी जोड़ दिया जाता है जिनका अवतार हिन्दुओं के कल्कि अवतार की तरह गौतम बुद्ध के ४००० वर्ष बाद अवश्य होगा। प्रत्येक बुद्ध की एक एक शक्ति है, तथा प्रत्येक बुद्ध एक-एक मानुषी बोधिसत्व के रूप में अभिव्यक्त होता है—

मानुषी बुद्ध	मानुषी बुद्ध-शक्ति	मानुषी बोधिसत्व
१. विपश्यन्	विपश्यन्ती	महामति
२. शिखी	शिखीमालिनी	रत्नधर
३. विश्वबाहु	विश्वधरा	आकाशगंज
४. क्रकुच्छन्द	ककुदवती	शकमंगल
५. कनकमुनि	कंठमालिनी	कनकराज
६. कश्यप	महिधरा	धर्मधर
७. शाक्यसिंह	यशोधरा	आनन्द

भविष्य के बुद्ध (The Future Buddha)

'मैत्रेय' गौतम बुद्ध के पश्चात् अवतार लेंगे। यह अभी तुषित स्वर्ग में मानुषी बोधिसत्व रूप में स्थित हैं। इन्हीं मैत्रेय से आचार्य असंग ने भेंट की थी और महायान मत की शिक्षा ली थी। तंत्र का उपदेश भी असंग को इन्हीं बुद्ध से मिला था। मैत्रेय को हीनयान तथा महायान दोनों मत स्वीकार करते हैं, अन्य बोधिसत्वों को हीनयानी नहीं मानते। विश्वास यह है कि बौद्धगया के पास 'कश्यप' मानुषी बुद्ध सो रहे हैं, जब मैत्रेय अवतार लेंगे तो वे मैत्रेय को 'बुद्ध' के योग्य वस्त्र देंगे, तब मैत्रेय बोधिसत्व से 'बुद्ध' संज्ञा प्राप्त करेंगे।

मंजुश्री

महायान में मंजुश्री का महत्व अत्यधिक है। यह महान बोधिसत्व हैं, बुद्धि, स्मृति आदि के दाता हैं। 'साधनमाला' में इनके लिए अनेक मंत्र दिये गए हैं, इनके अनेक रूप हैं। नैपाल में चतुर्थ शताब्दी में ही इनकी पूजा चल पड़ी थी। इनकी प्रथम चर्चा 'सुखावती व्यूह' में मिलती है। 'मंजुश्री मूलकल्प' में इनका स्थान उच्चतम है। ये 'वाणी' के देवता हैं। इनका एक रूप 'वज्रानङ्ग' है जो हिन्दुओं के कामदेव से उधार लिया गया है यह फूलों के वाण धारण करता है। वशीकरण के लिए इनकी पूजा होती है।

देवकुल विस्तार (Emanations of Gods)

बौद्धतंत्रों में प्रत्येक ध्यानी बुद्ध एवं बोधिसत्व से अनेक देवताओं तथा बोधिसत्वों की अभिव्यक्ति वर्णित है। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध और बोधिसत्व एक कुल का जनक माना गया है, अतः सारे देवी देवता किसी विशिष्ट कुल से सम्बद्ध हैं, इस प्रकार बौद्ध देवमंडल हिन्दू देवमंडल से अधिक व्यवस्थित है।

वैरोचन-कुल

वैरोचन-संतति में सब स्त्री देवताओं का जन्म हुआ है। मारीची, अशोक-कान्ता, वाराही या घोषा आदि अनेक देवियाँ इसी कुल की हैं। डाकिनी जैसी भयंकर देवियों भी इसी कुल से विकसित हुई हैं। साधन-माला में इनकी वेशभूषा-वर्ण-वाहन, ध्यान, मंत्र, मुद्रादि का वर्णन है।

अक्षोभ-कुल

'अक्षोभ' की संतान विपुल है। सभी भयंकर रूप वाले हैं क्योंकि अक्षोभ का वर्ण नीला माना गया है। चण्डरोशन, हेरुक, बुद्ध-कपाल, हयग्रीव, यमारि, जम्भल आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें अधिकतर देव अपनी शक्तियों के साथ युगनद्ध रूप में पूजित होते हैं। शैव कापालिक मत के साथ इन देवों का सादृश्य है। हेरुक का ध्यान शवासन द्वारा किया जाता है। नरमांसभक्षण, कपालधारण तथा मैथुनरत होकर ही यह प्राप्त हो सकते हैं। 'जम्भल' शायद ध्यानी बुद्धों के पूर्व ही कल्पित कर लिया गया था। 'जम्भल' का एक रूप ५ वर्ष के बच्चे के रूप में मिलता है, चन्द्रमा पर स्थित कमल पर यह स्थित है, सर्पों का आभूषण पहनता है, रत्नों को मुख से उगलता है। हिन्दुओं में 'बालकृष्ण' की पूजा से इस 'बालदेव' का सादृश्य है। किन्तु वैष्णवों ने 'बालकृष्ण' को अधिक कोमल और सुंदर रूप दिया है। अक्षोभ का एक रूप 'वज्रडाक' है जो शिव के समान 'महामाया' से आलिंगित रहता है। 'हयग्रीव' हिन्दुओं एवं बौद्धों में मान्य देव है। निश्चित रूप से बौद्धदेवमण्डल एवं पौराणिक देवमण्डल परस्पर एक दूसरे से प्रभावित हैं।

अक्षोभ-संतति का शैवधर्म से अद्भुत सादृश्य है। शिव की तरह ये देव श्मशान में रहते हैं, विभूति, रक्तपूर्ण कपाल, नरमुण्डमाल, अस्थियों के आभूषण, यज्ञोपवीत, डमरू, सर्प आदि धारण करते हैं। भैरव एवं हेरुक में कुछ भी अंतर नहीं है। यमारि तथा यम दोनों महिष पर चढ़ते हैं।

अक्षोभ-संतति में ११ देवियों भी हैं, इनमें महाचीनतारा या उग्रतारा, एकजटा, प्रज्ञापारमिता, नैरात्मा आदि उल्लेखनीय हैं। शैव-शाक्तधर्म की 'काली' के समान ही इनके भयंकर रूप हैं। हिन्दुओं की तारा महाचीनतारा ही है। ये देवियों मुण्डमाला, सर्प, चीते की खाल, तलवार आदि धारण करती हैं। छोटे क़दवाली हैं, पेट निकले हुए हैं, शव पर ये खड़ी होती हैं, इनके तीन नेत्र हैं, ये भयंकर हास्य करती हैं। इनमें एकजटा सबसे महत्वपूर्ण है। इसकी साधना से सब कुछ प्राप्त होता है। प्रज्ञापारमिता का रूप मनोहर है। सरस्वती से इसका सादृश्य है।

बौद्धों ने सिद्धान्तों को देवी देवताओं का रूप दे दिया है, यथा नैरात्मा (शून्य) एक सिद्धान्त है, किन्तु यह एक देवी भी है, बोधिसत्व को यह आलिंगित करती है। प्रज्ञोपाय की एकता नैरात्मा के रूप में संकेतित है।

बौद्ध देवी-उपासना में शाक्त सम्प्रदाय की तरह सखी-सम्प्रदाय का बीज सुरक्षित है। यथा महाचीन तारा की उपासना में कहा गया है कि साधक को अपने को 'देवी' ही समझना चाहिए, देवी का रूप बनाकर ही उसकी उपासना की जाती है। आज भी काली का रूप भर कर साधक विचरते दिखायी पड़ते हैं।

रत्नसम्भव-कुल

रत्नसम्भव के कुल में केवल दो देव एवं देवियाँ हैं, जम्भल तथा उच्छूष्म-जम्भल दो देव और महाप्रतिसारा एवं वसुधारा दो देवियाँ हैं। यहाँ जम्भल कुबेर की तरह धन का देवता है।

अमिताभ-कुल

अमिताभ से अवलोकितेश्वर, महाबल तथा हयग्रीव देव, कुरुकुल्ला, भ्रकुटी तथा महासितवती आदि देवियाँ विकसित हुई हैं। 'कुरुकुल्ला' महत्वपूर्ण देवी है, वशीकरण में सहायक मानी जाती है।

अमोघसिद्धि-कुल

अमोघ के कुल में सब देवियाँ ही उपन्न हुई हैं। खादिर वानी तारा, वश्य-तारा, धनदतारा, महामायूरी आदि उल्लेखनीय हैं। रोग, सर्प-दंशन आदि से ये देवियाँ रक्षा करती हैं।

ध्यानी-बुद्धों से उत्पन्न देवी-देवताओं के शीशों पर अपने-अपने कुल पिता ध्यानबुद्ध की मूर्ति रहती है। कुछ देव ऐसे हैं जो पंचध्यान बुद्धों की समष्टि से उत्पन्न हुए हैं। इनमें जम्भल, महाकाल, महाकाल भट्टारक आदि हैं। इनके सिरों पर पाँचों ध्यानी बुद्धों की मूर्तियाँ रहती हैं। गुरु-द्रोहियों को महाकाल कच्चा ही खा जाता है, ऐसा उल्लेख मिलता है, ये सब देव शैव-धर्म से सम्बद्ध हैं।

वज्रसत्व कुल

ये छठे ध्यानी बुद्ध हैं, इनकी संतानों में जम्भल देव तथा चण्डा देवी की साधना मिलती है, इनके शीशों पर वज्रसत्व की मूर्ति रहती है।

बोधि-सत्व-कुल

अवलोकितेश्वर—इनके १०८ रूप हैं। इनमें लोकनाथ, हालाहल, नीलकंठ, सुखावती लोकेश्वर, सिंहनाद आदि उल्लेखनीय हैं। नेपाल में इनकी पूजा प्रचलित है। बौद्धतंत्र में अवलोकितेश्वर बड़े ही करुणामय देव हैं। गौतम बुद्ध के पश्चात् मैत्रेये आने के पूर्व तक यही जगत् के कल्याण में लवलीन हैं। इन्होंने जीवों की मुक्ति के पूर्व अपनी मुक्ति स्वीकार नहीं की और बौद्ध ज्ञान के प्रसार में निमग्न हैं। सभी धर्मों के सभी देवी-देवता इन्हीं के विभिन्न रूप हैं। इनकी कृपा से ही प्रथम मनुष्य, पुनः पशु पक्षी आदि जीव क्रमशः निर्वाण प्राप्त करेंगे, तब यह स्वयं निर्वाण प्राप्त करेंगे, इस सेवा एवं परोपकार भावना के कारण ये 'संघरत्न' कहलाते हैं। स्वर्ग में स्थित होकर भी यह जीवों की दशा देखने के लिए नीचे की ओर देखते रहते हैं इसीलिए यह 'अवलोकितेश्वर' (नीचे की ओर देखने वाला देवता) कहलाते हैं, सभी के कल्याण के पश्चात् अपने कल्याण की कामना से प्रेरित होने के कारण अवलोकितेश्वर की महिमा वैष्णवों के 'विष्णु' तथा शैवों के 'शिव' के समान ही प्रसिद्ध है। सभी बौद्ध देवों में सबसे अधिक करुणामय रूप अवलोकितेश्वर का ही है।

अन्य बोधि सत्वों के कुलों का वर्णन 'साधनमाला' में नहीं मिलता।

पंच रक्षा मण्डल

हिन्दुओं के पंचरक्षा मण्डल देवताओं की तरह बौद्ध पंच रक्षा मण्डल भी मिलता है। इनमें महासहस्रप्रमर्दिनी, महामंत्रानुसारिणी, महामायूरी, महासितवती आदि देवियाँ हैं। महासहस्रप्रमर्दिनी को छोड़कर ये देव शांति रूप हैं, दीर्घायु, राज्यों की रक्षा, भूत-प्रेत से रक्षा, अकाल से रक्षा आदि सभी लौकिक कल्याण इनकी उपासना से होते हैं। नेपाली बिहारों में इनकी मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। प्रत्येक पुरोहित इनकी 'हस्तलिपि' रखता है।

स्वतंत्र देवी-देवता

स्वतंत्र देवी-देवताओं पर ध्यानी बुद्धों की मूर्तियाँ नहीं मिलतीं। गणपति, विघ्नान्तक, वज्रहुंकार, भूतडामर, परमाश्व, नाम संगीति, त्रैलोक्यविजय आदि ऐसे ही देव हैं। गणपति की १२ भुजाएँ, एक मुख, रक्तवर्ण, निकला पेट, कुठार

बाण, वज्र, तलवार, शूल, पाश, मूशल, धनुष, खट्वाङ्ग, कपाल, शुष्कमांस, लालकमल आदि वर्णित हैं। चुहिया पर सवार हैं। यह गणपति तांत्रिक गणेश हैं। विघ्नान्तक को मंडल का द्वार रक्षक देवमाना गया है। यह हिन्दुओं के गणेश को पैरों से कुचलते हुए चित्रित हैं, 'वज्रवालानलार्क' नामकदेव विष्णु को त्रैलोक्य-विजय महादेव एवं गौरी को परमाश्व, इन्द्राणी, लक्ष्मी रति और प्रीति, इन्द्र, मधुकर एवं बसंत को कुचलता हुआ चित्रित किया गया है। बौद्ध धर्म द्वारा यह हिन्दू देवों पर श्रेष्ठता का प्रदर्शन मात्र है।

स्वतंत्र-देवियाँ

सरस्वती, महासरस्वती, वज्रशारदा, वज्रवीणासरस्वती, आर्यसरस्वती, वज्रसरस्वती, अपराजिता, वज्रगांधारी, वज्रयोगिनी, गृहमात्रिका, गणपतिहृदया आदि स्वतंत्र देवियाँ हैं। इनमें अपराजिता गणपति को कुचलती हुई दिखायी गई है। वज्रयोगिनी हिन्दू देवी 'चीनमस्ता' से सादृश्य रखती है। वस्तुतः हिन्दू एवं बौद्ध तंत्रों में यह देवी चीन से आकर पूजित हुई।

बौद्ध-देवमंडल—कुछ निष्कर्ष

उपर्युक्त बौद्ध-देवी-देवताओं के विवरण से स्पष्ट है कि यह मंडल हिन्दू देव-मंडल से अधिक व्यवस्थित है! इन्द्रभूति (७००-७५० ई०) से ११ वीं शताब्दी तक वज्रयानी देव-मंडल का यह अदभुत विकास भारतीय धर्म-साधना में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सप्तम शताब्दी के पूर्व यद्यपि गुह्य समाज में ध्यानी बुद्धों की चर्चा है तथापि वहाँ देव-मण्डल व्यवस्थित नहीं है, फिर गुह्य समाज में कुछ क्षेपक बाद में भी जोड़े गए हैं, अतः हिन्दू पुराणों के समानान्तर बौद्ध देव-मंडल का विकास हुआ है, यह कहा जा सकता है, हिन्दू पुराणों का बौद्ध देव-मंडल पर प्रभाव स्पष्ट है। विशेष कर शैव एवं शाक्त पुराणों का। पुराणों और बौद्ध तंत्रों में वस्तुतः स्थानीय देवी देवताओं तथा अनार्यों द्वारा पूजित यक्षों भूत-प्रेतादिकों को भिन्न रूप देकर अपनाया गया है। विष्णु, शिव, गणेश, काली, आदि का पुराणों में जो रूप मिलता है, वह शताब्दियों में विकसित हुआ है। पिछड़ी जातियों के असभ्य कुरूप देवताओं को वीभत्स साधनाओं सहित कुछ

रूपान्तरित कर ब्राह्मण बौद्ध पौरोहित्य ने स्वीकार करके, उन्हें एक ब्रह्म की अभिव्यक्ति बता कर स्वीकार कर लिया है। इस प्रवृत्ति से एक ओर तो ब्राह्मण, बौद्ध धर्म को पिछड़ी जातियों द्वारा स्वीकृति प्राप्ति करने में सफलता मिली है, तो दूसरी ओर इससे 'समन्वित' भारतीय धर्म-साधना का रूप विकसित हुआ है। जिन देवताओं को हम शुद्ध वैदिक या शुद्ध बौद्ध मानते चले आ रहे हैं, वे वस्तुतः वैदिक-बौद्ध संस्कृतियों में अनार्य और पिछड़ी जातियों से आये हैं।

किन्तु उपर्युक्त मिश्रण या समन्वय के साथ-साथ साम्प्रदायिक उच्चता की प्रवृत्ति ने दूसरे धर्मों के देवी-देवताओं को नीचा दिखाने का भी प्रयत्न किया है। बौद्ध देव-मंडल शताब्दियों में विकसित और पुराणों द्वारा स्वीकृत कई देवताओं को अपने देवताओं द्वारा पैरों से कुचलाते हैं। बौद्ध गणेश को विघ्न डालने वाला देव मानते हैं, परन्तु साथ ही विघ्नान्तक जो गणेश को कुचलता है, की कल्पना गणेश की कल्पना पर ही आधारित है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं इन्द्र को बौद्ध तंत्र 'शैतान' (मार) की श्रेणी में रखते हैं। नारायण को 'हरिहरि वाहन' नामक देव का वाहन बना दिया गया है। 'ब्रह्मा' की सबसे अधिक दुर्दशा की गई है। अनेक बौद्ध देवता ब्रह्मा के शीश काट कर अपने हाथों की शोभा बढ़ाते हैं। 'निष्पन्नयोगावली' में वर्णित 'हेरुकमण्डल' में गौरी, चौरी, वैताली, व घसमरी ब्रह्मा, इन्द्र, उपेन्द्र एवं रुद्र की छाती पर आसीन दिखाये गए हैं। 'संवर-मंडल' में बौद्धदेव भैरव तथा काल-रात्री पर खड़ा है। 'योगाम्बर-मंडल' में हिन्दू देवताओं को द्वारपाल बना दिया गया है।

बौद्ध देव-मंडल की एक विशेषता यह है कि सारे देवी-देवताओं के ऊपर किसी न किसी ध्यानी बुद्धों की मूर्ति रहने से वे सरलता से पहचाने जा सकते हैं। कुछ स्वतंत्र देवता अवश्य हिन्दुओं से उधार लिये गए हैं। इन देवताओं के वर्ण, अस्त्र, आसनादि का महत्त्व बौद्धों के यहाँ हिन्दुओं के यहाँ से अधिक है।

शक्ति-संयुक्त (यब-युम) देवों का रूप भी बौद्ध देव-मंडल की विशेषता है, इस शैव एवं बौद्ध शक्ति-शक्तिमान की एकता के आधार पर ही अनेक हिन्दू देवताओं पर प्रभाव पड़ा है। नैपाल तथा तिब्बत में शक्ति-संयुक्त देवों का अधिक प्रचार है।

बौद्धों ने देवों को शून्य या तथता की अभिव्यक्ति बतलाया है। देवों की वास्तविक सत्ता नहीं है,[1] केवल उनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। साधना के प्रारम्भ में बीज-मंत्रों से देवता की उत्पत्ति होती है और देवताओं के साथ तादात्म्य कर साधक अपने स्वरूप में स्थित होना सीखता है।

अनेक रूपों की कल्पना मानसिक स्थिति की अनेकता के कारण है। रोगनाश के लिए विशेष मानसिक स्थिति की आवश्यकता होगी, अत: 'सिंहनाद' देव का ध्यान अनिवार्य होगा। शत्रुनाश के लिए महाकाल, प्रेम के लिए कुरुकुल्ला का ध्यान करना होगा, अत: चित्त की स्थिति ही देव की भिन्नता के लिए उत्तरदायी है, देवता फल नहीं देता, चित्त की स्थिति ही फल देती है, बौद्ध-देव-उपासना का यह सिद्धान्त अत्यधिक मनोवैज्ञानिक है। यह भी कहा गया है कि साधना प्रारम्भ करते समय साधक के अवचेतन मन का विस्फोट होता है, उसके अवचेतन में पड़ी दुर्वासनाएँ ही भयंकर देवी-देवताओं के रूप धारण करके उसे डराती हैं, यही कारण है कि बौद्ध देवताओं का रूप भयंकर अधिक है। इन भयंकर देवताओं को उच्चतर मानसिक स्थितियों द्वारा वश में लाया जाता है, तब देवता रूपधारी दुर्वासना-समूह ही सहायक तथा फलदायी बन जाता है, अत: देव-उपासना इस दृष्टि से भी अनिवार्य है।[2]

---

(१) जगत की वस्तुओं को नि:स्वभाव समझ लेने पर उत्पन्न स्फूर्ति ही देवताकार में परिणत हो जाती है और यही स्फूर्ति फल देती है, अत: साधना में फल साधक की वासना देती है, देवता तो उसकी स्फूर्ति के अनुसार ही रूप धारण कर लेता है—

प्रतीत्योत्पादमात्रत्वात्, नैव सत्त्वं न शून्यता।
स्फूर्तिश्च देवताकारा, नि:स्वभावा स्वभावत:—अद्वयवज्र संग्रह

(२) सेकोद्देश्यटीका में 'क्रोधावेश' आचार द्रष्टव्य।

अभयकर गुप्त की 'निष्पन्नयोगावली' में कहा गया है कि देवता की सत्ता वास्तविक नहीं है। साधक साधना के समय ध्यान करता है, 'बीजाक्षरों' का जप करते समय साधक के मानसिक क्षितिज पर इन्हीं बीजमंत्रों से 'देवता' उदित होता है। प्रश्न यह है कि क्या देवता का रूप कल्पित है? उत्तर है कि 'देवता' का रूप न वास्तविक है, न कल्पित है। साधक सर्वप्रथम बीज मंत्रों का जप करता है और साथ ही किसी देवता का बौद्ध-तंत्रों में वर्णित वाहन, शक्ति,

कुछ विद्वानों का विचार है कि बौद्ध-देवसाधना तांत्रिक हिन्दू देव साधना से श्रेष्ठ व प्राचीन है।[1] परन्तु कुछ विद्वान इसका विरोध करते हैं। कुमार स्वामी के अनुसार बौद्ध तांत्रिक योगी थे और योग बौद्ध धर्म से प्राचीनतर है। परन्तु डॉ० बी० भट्टाचार्य के अनुसार उपनिषदों में वेदान्त प्रतिपादित होने पर भी शंकराचार्य का स्थान जिस प्रकार महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार उपनिषद् एवं सांख्य से प्रेरणा लेने पर भी बौद्ध तांत्रिक योग ने मौलिक आविष्कार किये हैं, उदाहरणतः

अस्त्र ,वर्ण आदि के साथ देवता के रूप पर ध्यान केन्द्रित करता है, यह प्रथम रूप 'कल्पित' होता है परन्तु साधक के इस रूप के साथ तादात्म्य के कारण बीज मंत्र से देवता की मूर्ति और मूर्ति से देवता का बाह्य रूप साधक के मानसिक क्षितिज पर उदित होता है। इसी रूप को 'देवता' कहा जाता है। यह द्वितीय रूप कल्पित नहीं है वरन् साधक की चेतना का ही एक रूप है अतः इस द्वितीय रूप के उदित होने से साधक के संकल्प के अनुसार फल मिलता है। बीज मंत्र से—देवता की मूर्ति और मूर्ति से—देवता का बाह्य रूप यही देव उत्पत्ति का क्रम है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त यहाँ भी लागू होता है। शून्य रूपिणी अवाङ्मनसगोचर साधक की चेतना (चैतन्य) ही देव उत्पत्ति में कारण है। साधक की व्यष्टिगत चेतना के (बोधिचित्) 'शून्य तत्त्व' से मिलते ही सुषुप्ति सी आ जाती है, चूँकि बोधिचित् सीमित है अतः असीम का ज्ञान एक साथ कठिनाई से होता, है व्यष्टिगत चेतना का अनुभव भी ससीम ही रहता है, योगी जब ध्यानावस्थित होता है तो समष्टिगत शून्य तत्त्व पर प्रतिक्रिया होती है और उस साधक की भावना के अनुसार शून्यतत्त्व (जो वस्तुतः साधक की व्यक्तिगत चेतना के साथ अभिन्न है) देवता के रूप में उदित हो जाता है, अतः योगी भावना विशेष के द्वारा, प्रक्रिया विशेष के द्वारा, देव विशेष को देखता है, जितने देवता हैं, वे सब साधकों द्वारा 'देखे' गए हैं, इसीलिए साधक 'द्रष्टा' कहलाता है। देव-उपासना वस्तुतः आत्म-शक्ति को जाग्रत करने की पद्धति मात्र है, शक्ति केन्द्रित होकर संकल्प मात्र से सृष्टि करने में साधक को समर्थ कर देती है। बौद्ध तंत्रों की यह देव-उत्पत्ति अत्यधिक मनोवैज्ञानिक है।

द्रष्टव्य (निष्पन्न योगावली की भूमिका—
डॉ० बी भट्टाचार्य)

(१) साधन माला की भूमिका—डॉ० बी० भट्टाचार्य

बौद्ध योगियों का कहना है कि देवता के साथ तादात्म्य करने से ही सिद्धि मिलती है, यद्यपि देवता निःस्वभाव है और स्वयं साधक के मन की उपज है। उपनिषद् में यद्यपि ब्रह्म के साथ तादात्म्य का सिद्धान्त वर्णित हैं तथापि मोहन, वशीकरण आदि के लिए देवता के साथ तादात्म्य का सिद्धान्त बौद्धों ने ही आविष्कृत किया है। बाद में हिन्दूतंत्रों ने इसे स्वीकार किया,[२] यह डॉ० भट्टाचार्य ने साधना-माला भी भूमिका में कहा है परन्तु मेरा विनम्र मत यह है कि तांत्रिक साधनाएँ वस्तुतः स्थानीय देव-उपासना, प्रेत पूजा आदि के रूप में प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित हैं, इसी सामान्य स्रोत से बौद्धों एवं हिन्दुओं ने उन्हें ग्रहण किया है, अतः लोक साधना को केवल शास्त्रीय और दार्शनिक रूप हिन्दू-बौद्धतंत्रों में दिया गया है! परन्तु स्वीकार करना पड़ता है कि सामान्य लोकविश्वासों को बौद्धों ने स्वीकार कर हिन्दू तंत्रों में वर्णित देव-उपासना से कहीं अधिक मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। उदाहरणतः देवताओं, ईश्वर, ध्यानी बुद्ध आदि की सत्ता की निःस्वभावता बौद्धों ने अधिक स्पष्ट और दृढ़ शब्दों में की है जब कि शैव-शाक्त, वैष्णव तंत्रों में 'देवतावाद' को भावात्मक भाषा में वर्णित किया गया है बौद्ध सत्ता को भाव एवं अभाव से परे बतलाते हैं अतः देवता का स्वरूप उनके यहाँ केवल एक मनोवैज्ञानिक सहायता के रूप में स्वीकार्य है जब कि हिन्दू तंत्रों में 'अभिव्यक्तिवाद' का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मान लेने से देवों को भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया गया अतएव 'देवता' का भावात्मक रूप हिन्दू तंत्रों में स्वीकृत हो गया। यह 'आस्तिकता' तथा 'शास्त्र' में विश्वास का प्रभाव था जब कि बौद्ध-साधना केवल योग एवं विवेक पर आधारित थी। साधना के निम्न स्तरों पर योग, ज्ञान, भक्ति, चर्या, आचार आदि सबका महत्त्व बौद्धों में भी स्वीकृत है।

बौद्ध-देव मण्डल में भयंकर देवता अधिक हैं, वैष्णव देवताओं के समान वे कोमल एवं कृपावान नहीं हैं, परन्तु 'साधनमाला' में कहा गया है कि देवता वस्तुतः हृदय से दयावान है, केवल उसका बाह्यरूप ही भयंकर है। यह बाह्य भयंकरता

---

(2) We have sufficient reasons to held that the Hindu tantras were introduced on the model of the Buddhist tantras and the Hindus among other things borrowed many Buddhist Customs—वही

भी साधकों को भयभीत करने के लिए नहीं है, अपितु करुणाशून्य, हिंसक, अनास्थावादियों को दण्ड देने के लिए ही देव भयंकर रूप में अवतरित होते हैं।[1] यह भी कहा गया है कि इस प्रकार धर्म, संघ और 'बुद्ध-द्रोहियों' को कच्चा चबाकर भी ये देव अगले जन्म में शुद्ध कर देते हैं। राम-चरितमानस में भी कहा गया है कि राम जिन्हें मार डालते हैं, उनकी गति हो जाती है।

यह भी कहा गया है कि जो लोग दरिद्र हैं, वे सुगत द्वारा निर्देशित धर्म को कैसे स्वीकार कर सकते हैं, ऐसे लोगों को दण्ड देने के लिए ही 'जम्भल' 'उच्छूष्म' का भयंकर रूप धारण करता है।[2] किन्तु इस व्याख्या से स्पष्ट है कि वज्रयान में 'बौद्ध-पौरोहित्य' अपनी वृत्ति चलाने के लिए देवताओं के मुख से इस प्रकार के वचन कहलाकर स्वार्थ पूरा किया करते थे। जनता के अंधविश्वास से बौद्धों ने भी लाभ उठाया जिसका गौतम बुद्ध बराबर विरोध करते रहे थे।

मूर्ति-पूजा सामान्यजन को बुराइयों से बचाने एवं सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्वों की ओर उन्मुख होने के लिए प्रारम्भिक सोपान के रूप में स्वीकृत हुई थी, परन्तु उसी ने अंध-विश्वास को सबसे अधिक आश्रय दिया। जैन धर्म में 'मूर्ति' को तीर्थंकरों के अच्छे कर्मों के स्मरण करने के लिए प्रेरक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है परन्तु वहाँ भी, स्वयं मूर्ति को ही सर्वस्व मान लिया गया।

बौद्ध-देवमंडल का हिन्दू तंत्रदेवमंडल पर पर्याप्त प्रभाव मिलता है। 'तारा-उपासना' पर बौद्ध प्रभाव है। क्योंकि तारा को 'पंचमुंडाविभूषिताम्' "मौलाव-क्षोभ्यंभूषिताम्" कहा गया है।[1] बौद्धदेवों में कुलेश देवता की मूर्ति प्रत्येक देवता के शीश पर रहती है। 'तारा' के शीश पर भी अक्षोभ्य की मूर्ति कही गई है अत: बौद्ध-प्रभाव स्पष्ट है। फिर 'तारा' को 'एकजटा' देवी का रूप माना गया है, हिन्दुओं के यहाँ 'एकजटा' देवी नहीं है, यह स्पष्टत: बौद्धों से उधार ली गई है। एकजटा के विषय में कहा गया है कि नागार्जुन इसे तिब्बत से लाये थे।

---

(१) आचार्य्ये य: सदा द्वेषी, कुपितो रत्नत्रयेऽपि य:।
अनेकसत्त्वविध्वंसी, महाकालेन खाद्यते—साधनमाला-भूमिका भाग

(२) दारिद्रयदु:खाहत मानसानां, का चित्तवृत्ति सुगतस्य कृत्ते।
अतश्चकोपादिव जम्भलोऽसौ, उच्छूष्मरूपं भयदं चकार—वही

रुद्रयामलतंत्र में कहा गया है कि वशिष्ठ ने चीनभूमि में जाकर पंचमकार साधना की शिक्षा ली थी।[1]

तारा के अतिरिक्त 'चीनमस्ता' पर भी बौद्ध प्रभाव है। युगनद्ध देव-उपासना शुद्ध बौद्ध है, यह डॉ० बी० भट्टाचार्य का मत है। इसमें इतना सत्यांश अवश्य है कि ७वीं शताब्दी के बाद युगनद्ध उपासना का प्रभाव शैव, शाक्त एवं वैष्णवों पर पड़ा है, परन्तु अपने मूल रूप में बौद्धों को यह प्रेरणा शैव-गुह्य-साधकों से ही मिली है क्योंकि शिव-उमा का युगनद्ध रूप बौद्धों से प्राचीनतर है।[2] आगे चलकर 'काली उपासना' पर बौद्धप्रभाव अवश्य पड़ा, क्योंकि उसे 'विपरीत-रतातुरम्' कहा गया है।[3]

डॉ० भट्टाचार्य का यह भी मत है कि सर्वप्रथम बौद्ध-तंत्रों में ही सभी वर्णों को देवताओं के रूप में देखा गया था, परन्तु शब्द-साधना प्राचीनतर है।

श्री वैडेल का विचार है कि सुखावती-स्थित बुद्ध की कल्पना पर-इंडो यूरोपियन 'सूर्य देव' का प्रभाव है। अवलोकितेश्वर पर उनके अनुसार प्राचीन भागवत मत का प्रभाव है। 'तारादेवी' वस्तुत: सुमेरियन सम्राट की पत्नी 'तर' का ही नवीन रूप है। ध्यानी बुद्धों पर शैव प्रभाव है।[4] श्री वैडेल के सुझाव विचारणीय हैं, श्री डॉ० बी० भट्टाचार्य निश्चितरूप से बौद्धतंत्रों को मात्रा से अधिक महत्त्व देने के लिए तत्पर दिखाई पड़ते हैं। श्री वैडेल का स्पष्ट मत है कि गौतमबुद्ध स्वयं हिन्दू थे और हिन्दुओं के ही शिक्षक थे अतएव उन्होंने हिन्दू देवमण्डल व सृष्टि सम्बन्धी विचारों को कुछ हेरफेर करके अपना लिया था।[2] बौद्धतंत्र तृतीय शताब्दी के बाद ही विकसित हुए, विशेष कर देवमंडल और भी बाद में विकसित हुआ, तब तक शैव एवं भागवत मत प्रबल हो गया था, शुंग-काल में ब्राह्मणधर्म का पुनर्जागरण हो चुका था। अत: बौद्धतंत्रों पर शैवों का विशेष प्रभाव है परन्तु बदले में बौद्धतंत्रों ने शैवों को भी प्रभावित किया है।

---

(१) साधनमाला—भूमिका
(2) Lamaism–L-A. Waddell-Second edition, Cambridge 1934
(३) साधनमाला—भूमिका
(4) Lamaism-Waddell, introduction
(५) वही—पृष्ठ ७३

परस्पर प्रभावित करने की यह प्रवृत्ति बराबर बढ़ती ही गई। यवनों के आक्रमणों की आहट सुनकर शैव, शाक्त, वैष्णव ही नहीं, बौद्धमत भी चौंक उठे थे। बौद्धदेवमण्डल को विस्तार देनेवाले 'कालचक्रयान' सम्प्रदाय से सम्बद्ध 'विमल-प्रभा' में एक स्थान पर महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध हिन्दुओं के साथ मिलकर विदेशियों के विरुद्ध मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाना चाहते थे और इसी कारण 'कालचक्रयान' ने जहाँ एक ओर हिन्दू देवताओं को अपमानित किया है, वहीं उनमें से अनेक को स्वीकार भी कर लिया है, अतः 'कालचक्रयान' जो तांत्रिक बौद्धमत का अंतिम रूप था, हिन्दू देवमण्डल के निकट आ रहा था। 'कालचक्र उपासना' शैव महाकालउपासना तथा प्राणानुशासन एवं कालानुशासन का ही एक विशेष रूप है। मूलतः दोनों एक हैं।

Vimal Prabha, a Commentary on the kalchakra. tantra, records that an invitation was extended to the highest Hindus to embrace the worship of Kalchakra in order to ward off the evil of Mlechha civilisation which was sure to envelop the east and corrupt the sons and daughters of the both Hindus and the Buddhists.

(निष्पत्र योगावाली—भूमिका भाग)

अभिषेक

संसार में प्राणी दो प्रकार के हैं (१) शैद्य—इन्हें कर्म विधान करना पड़ता है (२) अशैद्य—इन्हें केवल प्रणिधान वेग से—केवल ध्यान से ही, प्राणोपाय की युगनद्धता से सिद्धि मिल जाती है। ज्ञानी चिंतामणिवत् अकम्पित रहकर जगत् का कार्य करता रहता है।

आदिकर्म—'शैद्य' साधकों को दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, इन छह पारमिताओं का अभ्यास करना पड़ता है, ये ही आदिकर्म कहलाते हैं। स्वयं बुद्ध ने सम्भोग काया-प्राप्ति के पूर्व इनका अभ्यास किया था। बोधि प्राप्ति के पश्चात् इनका अभ्यास केवल जीवों पर करुणावश होता है।

शैद्य साधकों को गुरुद्वारा 'पोषधदान' दिया जाता है। संघ, बुद्ध, धर्म की शरण में जाना ही 'पोषध दान' है। वैष्णवों के यहाँ इसे ही अनुग्रह या पुष्टि

कहा गया है। प्रारम्भिक साधकों के लिए मृषा-वादन, मद्यपानादि सभी कुकर्मों से बचना अनिवार्य है। इस अवस्था में साधक 'उपासक' कहलाता है।

उपासक—बुद्ध पूजा के लिए उद्यत को उपासक कहते हैं। 'उ' से साधना के लिए 'उद्युत्त', 'पा' से पाप से अलग रहने की प्रतिज्ञा, 'स' से सम्बोधि व समाधि की प्राप्ति, और 'क' से उपकार करने का प्रयत्न, ये अर्थ 'उपासक' शब्द से संकेतित हैं।[1] उपासक गुरु की देखरेख में ही कार्य कर सकता है। परन्तु गुरु के दो रूप हैं—अभ्यंतर गुरु एवं बाह्य गुरु। इनमें प्रथम गुरु ही वास्तविक गुरु है। आत्मगुरु ही इच्छाशक्ति का केन्द्र है, बाह्यगुरु का उपदेश केवल इस आंतरिक गुरु की जागृति के लिए हैं। अतः साधना साधक की जागरूक इच्छा शक्ति के बिना फल नहीं दे सकती। परन्तु बाह्यगुरु तथा बाह्य क्रियाओं से आंतरिक जागृति में सहायता मिलती है, अतः दोनों में एकता भी अनिवार्य है।

रक्षा एवं मंडल—साधना का स्थान मंडल है। यह एक वृत्ताकार स्थल होता है, यहाँ रेखाओं द्वारा मंडल बनाकर पुष्पों से सजाकर, देवी देवताओं के चित्र खींचे जाते हैं। सर्वप्रथम 'मंडल' में गुरु शिष्य के अंग को पवित्र करता है। मंत्रों एवं जल द्वारा यह क्रिया होती है। मंडल-करण का आंतरिक अर्थ भी साथ साथ समझना पड़ता है। दान ही गोमय है जिससे मंडल-स्थल को लीपा जाता है। शील ही सम्मार्जन है, प्रज्ञा ही रेखाएँ हैं। शान्ति ही अहिंसा और वीर्य ही क्रिया है।

साधक की रक्षा के लिए शैव साधकों के समान ही गुरु 'न्यास' का प्रयोग करता है। अ, उ, ओ, र, अः आदि अक्षरों को विभिन्न अवयवों पर लिखा जाता है। इससे शुद्धि व शक्ति-जागृति होती है।

अभिषेक—अभिषेक के लिए अनेक पात्रों की आवश्यकता होती है। "ओं हम् हम् हिम् हिम् हिम् हिम् हुम हुम ह्लम् ह्लम्" इस मंत्र से पात्र शुद्धि की जाती है। तब मंडल के बीच एक 'विजय-कलश' की स्थापना करता है।

साधक के अभिषेक में प्रथम मंडल की पूजा होती है। पुनः मंडल के लिए मिट्टी का संग्रह (भूमि-संग्रह) होता है। तब साधक का मंडल-प्रवेश होता है। साधक स्नान कर श्वेत वस्त्र पहन कर मंडल में आता है। गुरु शिष्य के शीश पर

(१) अद्वयवज्रसंग्रह

पुष्प रखता है, सुगंधियों से सिंचित करता है। शिष्य पूर्व दिशा में गुरु के सम्मुख बैठता है। गुरु को दक्षिणा दी जाती है। गुरु ज्ञानचक्र (प्रज्ञा) एवं समयचक्र (उपाय) की एकता का ध्यान करता है। गुरु तब देवताओं पर चंदन छिड़कता है। ये देवता 'नामक' कहलाते हैं क्योंकि शिष्य की रक्षा करते हैं। सारी क्रिया मंत्रों द्वारा होती है।

पूजा—यह गुरु पूजा है। शिष्य गुरु के सम्मुख जगत के दुःख से मुक्त होने के लिए गुरु की शरण में आने की घोषणा करता है।

प्रणिधान—इसमें शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि वह अपने शीश पर वज्र, घंटा, मुद्रा गुरु को धारण करता है और ज्ञान प्राप्ति के लिए कटिबद्ध है। यह प्रतिज्ञा सारे बौद्ध दर्शन के सार का स्मरण कराती है। इसके पश्चात् गुरु मंत्र के साथ जल छिड़ककर साधक का अभिषेक करता है।

क्रोधावेश—साधक के अवचेतन में स्थित दुर्वासनाएँ अभिषेक से जाग्रत हो जाती हैं और उसे भूतावेश होता है। गुरु उसे शांत कर देता है।

अभिषेक क्रिया दीर्घ और रहस्यमय है। सात बार अभिषेक कर गुरु साधक को साधना के योग्य बनाता है। अभिषेक तीन प्रकार के हैं—(१) कलशसेक (२) गुह्यसेक (३) प्रज्ञासेक।[1]

सात बार 'कलशसेक' होने के बाद गुह्यसेक होता है। साधक के हाथ में वज्र और घंटा देकर गुरु 'गुह्य-शिक्षा' देता है जो प्रारम्भिक शिज्ञा के सर्वथा विपरीत होती है।

गुह्य सेकशिक्षा :—प्रारम्भिक शिक्षा में चोरी, मिथ्यावादन, दुराचार सब वर्जित, परन्तु द्वितीय अभिषेक में ये ही कार्य अनिवार्य हो जाते हैं, परन्तु इनके गुह्य अर्थ भी समझने पड़ते हैं। साधक को कुलीशकुल में चोरी करना चाहिए, इसका अर्थ यह है कि प्राण-शक्ति का निरोध करना चाहिए।

दूसरे का धन चुरा लेना पुण्य है, अर्थात् ध्यान द्वारा शून्यता की प्राप्ति पुण्यकर है। आत्म पूजा ही श्रेष्ठ पूजा है, अर्थात् यह शरीर शक्ति का स्रोत है, इसके भीतर ही सत्य का कोष है, इसे दिव्य समझकर ही दिव्यता-प्राप्ति सम्भव

(१) कहीं २ इनकी संख्या चार है, चतुर्थ सेक 'वज्राभिषेक' है।

है। डोम्बी के साथ सहवास करना सिद्धिकर है, अर्थात् सुषुम्ना का मार्ग ही सिद्धिदाता है।

इस अभिषेक में कन्याओं का होना अनिवार्य है। इन्हें 'मुद्रा' कहा जाता है। मुद्रा (स्त्री = शक्ति) द्वारा साधक अपने अंतर्निहित शक्तियों को जाग्रत करता है। किसी स्त्री के साथ साधना का अभिप्राय यह है कि साधक परमतत्व है (शिव) है। वह सृजन-क्रिया द्वारा ही आनन्द प्राप्त करके भी उससे निर्लिप्त रहता है। अतः शक्ति के बिना साधक इस अनुभूति को प्राप्त नहीं कर सकता। साधक को चाहिए कि वह भय से रहित १२ वर्ष तक की कन्या को गुरु की सेवा में समर्पित करे। तब गुरु शिष्य द्वारा उसका स्तन स्पर्श कराए, यही गुह्य 'कलशाभिषेक' है। पुनः मुद्रा के गुप्ताङ्ग के दर्शन करे, यही गुह्याभिषेक है।[1] तत्पश्चात् 'प्रज्ञाभिषेक' में ओंकार आदि बीज-मंत्रों द्वारा गुरु मुद्रा को शिष्य को सौंप दे। मुद्राओं को तंत्र में 'विद्या' भी कहा गया है, इनकी संख्या १० है। भागिनेया, दुहित्री, भगिनी, जननी, भार्या की जननी, मातुल-पत्नी, पितृव्य-पत्नी, पिता की भगिनी, स्वमातुभगिनी तथा स्वभार्या—ये दस विद्याएँ हैं। इनके अतिरिक्त शूद्री, क्षत्रिणी, ब्राह्मणी, वेश्या, डोम्बी, कैवर्ती, नटी, रजकी, चर्मकारी, चण्डाली आदि १० विद्याएँ अन्य भी हो सकती हैं।[2]

इन १० विद्याओं को गुरु को समर्पण कर गुरु की आज्ञा की याचना करे। गुरु साधक को उसकी भार्या के साथ या चण्डाली के साथ साधना की आज्ञा देता है। तारा, पाण्डरा, मामकी, लोचना, स्पर्शवज्रा, रसवज्रा, रूपवज्रा, गंधवज्रा आदि चित्रित देवियों की पूजा कराता है।

---

(१) ततस्तुष्टो गुरुर्लोकसंवृत्या स्तनस्पर्शनं कारयति, स्वमुद्रायास्तेन कलशाभिषेकः स एव। ततो गुह्यपूजां कृत्वा शिष्यायामृतं ददाति, मुद्रारविन्दं चालोकयति तेन गुह्याभिषेको भवति।—सेकोद्देश्यटीका—पृष्ठ २२-२३

(२) इन मुद्राओं के भी प्रतीकात्मक अर्थ हैं। १० मुद्राएँ १० भूमियों की प्रतीक हैं। १० भूमियाँ ये हैं—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिषमती, सदुर्जया, अभिमुखी, दुरंगका, अचला और धर्ममेघ्या। परन्तु प्रतीकात्मक अर्थ के साथ-साथ स्त्रियों के साथ सहवास को अनिवार्य माना गया है। क्योंकि स्त्री प्रज्ञापारमिता रूपिणी है, अद्वयवज्र ने स्पष्ट कहा है कि गुह्य-क्रिया (सहवास) से प्रज्ञा व उपाय दीप्त हो उठते है—

प्रज्ञोपायगुह्याभ्यां दीप्यत—अद्वयवज्रसंग्रह

इसके पश्चात् गुरु यदि चाहे तो शिष्य से पूर्व 'मुद्रा-साधना' करे अथवा शिष्य की आँखें बाँधकर गुरु उसकी भार्या उसे सौंप दे। अर्धरात्रि से सूर्योदय के दो घड़ी पूर्व तक इस गुह्यसाधना का समय है।

गुह्यसाधना के लिए ज्ञानशक्ति का जागरण आवश्यक है। वज्र एवं घंटा को धारण कर लेने के पश्चात् जगत को केवल मन की भ्रान्ति समझे, अतः इन भ्रान्तियों से परे प्रभास्वर निर्मल चेतना को पहचानने का प्रयत्न करे, तब यह 'गुह्याभिषेक' सफल और क्षिप्रसिद्धिकर होता है।[1] प्रज्ञोपाय ज्ञानोन्मुख साधक केसरीवत् मुक्त भ्रमण करता है। लोकधर्म को छोड़ देता है, जगत को स्वप्नवत् होने के कारण केवल भोग के लिए है, ऐसा विश्वास करता है।[2] अभक्ष्यभक्षण करता है। इसे 'पंचामृतभक्षण' कहते हैं। नर, अश्व, उष्ट्र, मातंग, श्वान की विष्टा तथा मूत्र का भक्षण ही पंचामृत कहलाता है। इससे मार एवं विनायक (गणेश) विघ्न नहीं डाल पाते !![3]

ऐसा प्रतीत होता है कि गुह्यसाधना में अभक्ष्यभक्षण कुछ विशेष सम्प्रदायों में ही होता था, परन्तु पंचमकार-सेवन सभी करते थे। 'पंचामृत' जैसे घृणित पदार्थ सेवन से साधक 'घृणा' पर विजय करते थे और पंचमकार से 'वासना' पर। श्मशान-सेवन एवं व्याघ्रादि के मुंडों पर बैठकर साधना भय-विजय के लिए की जाती थी। इसके अतिरिक्त पंचामृत भक्षणादि प्रतीकात्मकभी हैं जिनका तात्पर्य 'नाड़ीयोग' है, जो सभी तांत्रिकों में स्वीकृत है।

---

(१) क्षिप्रसिद्धिकरा दिव्या हृद्या सर्वगुणोदया—
प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि।

(२) ततःस्वच्छन्दमाभूय सर्वासङ्गबहिर्मुखः
विचरेत् तत्वयुक्तात्मा केसरीव समन्ततः। - वही
स्वप्नमायोपमं सर्वं स्कन्धधात्वादिलक्षणम्।
तथाष्टलोकधर्मं च सर्वं त्यक्त्वातिदूरतः।
सम्भोगार्थं मिदं सर्वं त्रैधातुम शेषतः।
निर्मितं वज्रनाथेन साधकानां द्वितीय च

(३) विघ्नमारादि शान्त्यर्थं पञ्चामृतमधिश्रयेत्।
एषा त्वनुत्तरा रक्षा, विण्मूत्रादि व्यवस्थिता—वही

आंतरिक-योग एवं आंतरिक ज्ञान की प्रधानता के कारण बाह्यअभिषेक, आचार आदि को तांत्रिक महत्त्व नहीं देते। अकस्मात् ज्ञान उत्पन्न होने की स्थिति में बाह्याचार निरर्थक हैं। शैवों में भी शाम्भव अवस्था में कोई आचार विहित नहीं है।

बौद्ध-दर्शन सांख्य से प्रभावित था; यह एक स्वीकृत तथ्य है। ज्ञान होने के पश्चात् प्रकृति का कोई प्रभाव 'पुरुष' पर नहीं पड़ता, वह प्रत्येक अवस्था में मुक्त रहता है, इसी प्रकार बौद्ध तंत्रों का विश्वास है कि सर्वरूपों को देखते हुए, सर्व शब्दों को सुनते हुए, विभिन्न रसों का सेवन करते हुए साधक स्वस्थ और अकम्पित रहता है। मैं ही हूँ, केवल यही एक भाव रहता है, चारों ओर अपने ही चित्त का प्रतिबिम्ब देखता है।[1]

सिद्धि का कारण स्वसंवित्ति (चेतना) है, अतः इस गुह्ययोग में हठयोग स्वीकृत नहीं है। वह प्रथम सोपान के रूप में स्वीकृत हो सकता है, इसमें में तो जो आनन्द जिस क्षण में मिलता है, वही क्षण ध्येय है। अतः शिव-शक्ति के समायोग से चुम्बन आलिङ्गनादि जन्य आनन्द को ही ध्येय बनाया जाता है।[2]

मुद्रा आनन्द और क्षण—उपर्युक्त आनन्द-क्षण-साधना को मुद्रा एवं आनन्द के सिद्धान्तों के साथ समझना चाहिए। तंत्रों में चार मुद्राएँ मानी गई हैं। कर्ममुद्रा, धर्म मुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा। कर्म मुद्रा में 'आदि अभिषेक' की क्रियाएँ आती हैं, इसमें विधि-निषेध का पालन करना पड़ता हैं। इसमें कर्म

---

(१) अहमेत्येष सङ्कल्पस्तस्मादेतद् द्वयं त्यजेत्।
निर्विकारो, निरासङ्गो, निष्कांक्षो, गतकल्मषः
पश्यतां सर्वरूपाणि, श्रृण्वतां शब्दमेव च।
जल्पतां हसतां वापि, प्राश्नतां विविधान् रसान्—प्रज्ञोपाय
विनिश्चयसिद्ध

(२) स्वसंवित्तेर्भवेत् सिद्धि.............।
एवंकारं नमस्कुर्मो यः सत्त्वक्षणकारणम्।
आनन्द यत्र जायन्ते, भेदतो बोधिसिद्धये।
चित्त ततो विपाकः स्यात्-तृतीये तु विलक्षणाम्
विमर्दश्च ततो ज्ञेयो, हठयोग निराकृतेः—
अद्वयवज्रसंग्रह

विपाक रहता है, वैचित्र्य और विविधता है। धर्म मुद्रा में ज्ञान की प्रधानता होती है अतः उसमें विलक्षणता और स्थिरता आती है, महामुद्रावस्था में जगत के सभी पदार्थों की अप्रतिष्ठा होती है और शुद्ध अद्वय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतः बिना महामुद्रा के कर्ममुद्रा फल नहीं देती। अन्तमें समय या सहजमुद्रावस्था है। इसमें योग पूर्ण हो जाता है और योगी स्वरूपस्थिति को प्राप्त कर लेता है।

ये मुद्राएँ बाह्य शारीरिक चेष्टाएँ नहीं अपितु चित्त की आंतरिक अवस्थाएँ हैं।[1] ये अवस्थाएँ चार प्रकार के आन्दों से सम्बन्धित हैं। चार प्रकार के ही क्षण है, जिनमें इन आनन्दों की उत्पत्ति होती है।

क्षण-विचित्र, विपाक, विलक्षण, विमर्द

आनन्द-आनन्द-परमानन्द, सहजानन्द, विरमानन्द

मुद्रा-कर्ममुद्रा धर्ममुद्रा महामुद्रा समयमुद्रा

'रति-क्रिया' द्वारा ही इन मुद्रा, क्षण व आनन्द को समझा जा सकता है। मुद्रा का अर्थ बाह्य अर्थ में साधना के योग्य 'स्त्री' (शक्ति) भी होता है। रति क्रिया में अंतिम क्षण विमर्द (घर्षण) है। इससे वीर्यस्खलन होता है, इसी को 'विरमानन्द' कहा गया है। क्योंकि इसी अवस्था में पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। विकल्प का कारण मन है, मन के कार्य समाप्त हो जाने से यह अवस्था 'अमनस्कारावस्था' भी कही गई है। सर्वविकल्पआक्रान्त हो कर साधक को 'स्वस्थ' कर देते हैं।

---

(१) कर्ममुद्रा—कर्म्म या काय् वाक् चित्तचिन्ता तत्प्रधाना मुद्रा कल्पना-स्वरूपा तस्यां कर्म्ममुद्रायां आनन्दा जायन्ते।—अद्वयवज्रसंग्रह

धर्ममुद्रा—निष्प्रपञ्चा, निर्विकल्पा, अकृत्रिमा, उत्पादरहिता, करुणा-स्वभावा, परमानन्दैक सुन्दरोपायभूता। किसी किसी विचारक ने इसे "निस्तरंग शून्यता करुणाभिन्न" भी कहा है।—वही

महामुद्रा—इसमें ज्ञेय-ज्ञाता आदि आवरण नष्ट हो जाते हैं। यह निर्वाण स्वरूपिणी है।

अविकल्पित सङ्कल्प अप्रतिष्ठित मानस।
अस्मृत्य मनसिकार, निरालम्ब नमोऽस्तु ते।—वही

नारोपा की सेकोद्देश टीका में उपर्युक्त आनन्दों के १६ भेद किये हैं और चार चार आनन्दों की एक कोटि तैयार की है।[1] सेकोद्देश टीका में वर्णित आनन्दक्रम में भी अंतर है—उदाहरणत: आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द यह क्रम दिया गया है। नारोपा ने स्पष्ट रूप से कहा है 'रति-क्रिया' में प्राप्त उपर्युक्त आनन्द वस्तुत: आध्यात्मिक आनन्दों के ही रूप हैं, अतएव रतिक्रिया द्वारा ही आध्यात्मिक आनन्दों की अनुभूति को ओर बढ़ा जा सकता है। किसी स्त्री को देखकर पुरुष को आनन्द होता है, यह प्रथम अवस्था है, सहवास होने पर चुम्बन-आलिंगनादि से उत्पन्न आनन्द 'परमानन्द' है, यह द्वितीय अवस्था है, घर्षण से उत्पन्न आनन्द 'विरमानन्द' है और वीर्य-क्षरण से उत्पन्न आनन्द 'सहजानन्द' है।[2] रतिक्रिया के इन आनन्द क्षणों को स्थायी बनाना ही

---

(१) समयमुद्रा—सम्यकसम्बोधि की प्राप्ति-अवस्था यही है। इस अवस्था में मंत्र, जप, तप, होम, मंडल, आदि की आवश्यकता नहीं रहती।
न मंत्रजापो न तपो, न होमो, न माण्डलेयं न च मण्डलं च
स मंत्रजाप: स तप: स होम:, तन्माण्डलेयं तन्मण्डलं च
—वही

(२) कामानन्दं करोति प्रथमं नृणां चक्षुरालोकनेन।
पश्चात्पूर्णाप्रसङ्गे पुनरपि परमानन्दमेव स्वकीये।
ज्वालाबिन्दुं स्रवन्ती, रमती च बिरमानन्दवज्रेण पद्मे।
ओंण्ट्रा बिन्दुत्रयान्ते क्षरगत सहजानन्दवज्रं करोति—सेकोद्देश टीका–
पृष्ठ २६

'हेवज्रतंत्र' में कहा गया है कि 'सहजानन्द' के लिए बोधिचित् (वीर्य) के प्रवाह को रोकना आवश्यक है। बोधिचित् जब तक स्खलित नहीं होगा तब तक आनन्द प्राप्त होता रहेगा यद्यपि स्थूल और बाह्य रति में स्खलन में भी आनन्द मिलता है, परन्तु वह स्थूल और क्षणिक आनन्द है अतएब गुह्याभिषेक में गुरु साधक को वीर्य-स्खलन को रोक कर अधिक समय तक सम्भोग का आनन्द लेने की शिक्षा देता है, और इस क्रिया के समय वह बोधिचित् के प्रवाह को रोकना भी सिखाता है, इस प्रकार बाह्य एवं आंतरिक स्खलन से बचने की एक साथ शिक्षा देना ही इस गुह्याभिषेक तथा प्रज्ञाभिषेक की विशेषता है। स्खलन से वैराग्य, वैराग्य से दु:ख, दु:ख से प्राण-शक्ति का नाश और प्राण-शक्ति के ह्रास से मृत्यु होती है।

सहजसाधना है, यह कार्य चित्तको वश में करके ही हो सकता है, दुर्बल चित्त साधकों का अधःपतन होता है। जगत का भोग तथा जगत पर विजय क्षोभ रहित होकर ही हो सकती है, अतः ज्ञानी भोग द्वारा भी मुक्ति प्राप्त करता है और दुर्बलचित्त संन्यास लेने पर भी बन्धन में पड़ता है। इसीलिए यह सहजमार्ग क्षुरी की धार पर चलने के समान है। इसमें काया और मन को दुःख देने का अवकाश नहीं है। सर्वसुखों से समायुक्त होकर भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है।[२] परन्तु यह सिद्धि ज्ञानवान के लिए सरल है, मूर्खों के लिए कठिन।

आनन्द, क्षण एवं मुद्रा की उपर्युक्त सभी अवस्थाएँ नाड़ी योग पर भी आधारित की गई हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'सहजावस्था' में हठयोग आवश्यक है। बोधि प्राप्त हो जाने पर हठयोग व्यर्थ हो जाता है, परन्तु मंदबुद्धि के साधकों के लिए भोग एवं योग साथ-साथ करना पड़ता है, अथवा हठयोग करने के पश्चात् पुनः भोग द्वारा शिक्षा दी जाती है, अधिकारी भेद बौद्ध भी मानते हैं। अतएव नारोपा के अनुसार उपर्युक्त चारों आनन्दों का अर्थ नाड़ी-योग के अनुसार इस प्रकार होगा—

कामनाओं से विलगकर चित्त को स्व में प्रतिष्ठित करना तथा प्राण तथा अपान के बीच मध्यम मार्ग का ध्यान करने से ललाट में बोधिचित् प्रज्ञापूर्ण होने पर और उपायआलिंगन से परमानन्द प्राप्त होता है। तत्पश्चात् इस आलिंगन से

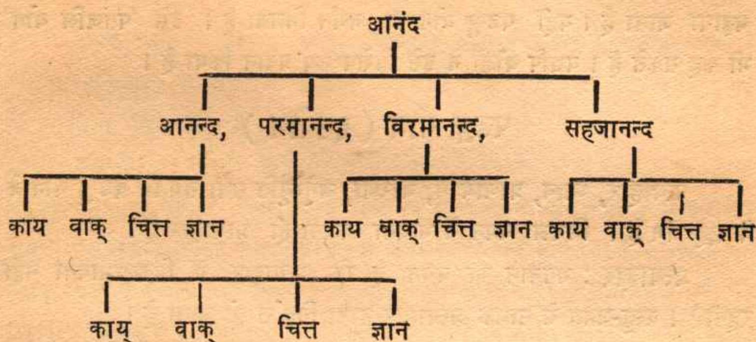
There is no greater sin than discharge and no greater merit than bliss (arising from the motionless Bodhichit). Discharge is the progenitor of detachment and from ditachment (विराग) arises Sorrow and from Sorrow is the loss of Vital element and from the loss of Vital element Comes death.

Anintroduction to Tantric Buddhism—S. B. Das Gupta.

इस तथ्य से स्पष्ट है कि गुह्य-साधना में साधक अधिक से अधिक समय तक अस्खलित अवस्था में युगनद्ध रहकर, आंतरिक चित्तवृत्ति को क्षोभ रहित रखने का प्रयत्न करते थे। इसमें सफलता प्राप्ति के लिए ज्ञान एवं हठयोग दोनों की आवश्यकता है।

(२) कायिकं मानसं दुःख नावकाशं प्रदापयेत्।
सर्वसौख्यसमायुक्तः सिध्यते नात्रसंशयः—ज्ञानसिद्धिः—इन्द्रभूति

ज्वलित होकर चन्द्रनाड़ी स्रवित होती है, यही विरमानन्द है। तत्पश्चात् काय वाक्, चित्त और बिन्दु के अवसारन के समय—ज्ञाता-ज्ञेय भेद नष्ट होने पर 'सहजानन्द' प्राप्त होता है। कबीर आदि इसी को 'रामनाम का रस' कहते हैं। उपर्युक्त आनन्दों में प्रत्येक चार प्रकार का है।



इसी प्रकार ये आनन्द, चार काया, चार योग, चार अवस्थाएँ (जागृत, स्वप्न-सुषुप्ति, तुरीय) चार मुक्तियों आदि से भी सम्बद्ध हैं।

इन सोलह आनन्दों को सृजन का आनन्द कहा गया है। मैथुन जन्य आनन्द में इनकी प्रतीति होती है।[1] इनमें 'सहजानन्द' प्रथम और अंतिम है। अभिव्यक्ति के पूर्व यह विषय एवं विषयी के रूप में विभक्त हो जाता है। यही सारे गुणों का कोष है। यह स्वतः अभिव्यक्त होकर अपना आनन्द लेता है। शैवों का 'परमशिव तत्व' यही है।

दूसरी दृष्टि से 'सहजानन्द' योग-साधना का प्रथम सोपान है। अभिषेक के समय शिष्य को प्रज्ञा (स्त्री) के पास गुरु ले जाता है और शिष्य मैथुन में रत होता है। 'सहजानन्द' बिन्दु के रूप में मस्तक में स्थित रहता है, वह द्रवित होकर निम्नगामी बनकर वज्रमणि (लिङ्ग) तक आ जाता है। योगी इसी क्षरण-काल में बिन्दु (वीर्य) की पुनः उष्णीश (मस्तक) तक पहुँचाता है।

(1) Sixteen Anandas, which are creative joys appearing as pleasures of intercourse in common individuals :—

द्रष्टव्य—सेकोद्देशटीका की भूमिका

हिन्दुओं के नारोपा द्वारा वर्णित यह योग 'ऊर्ध्व-रेतस्-योग' कहलाता है। यह अत्यधिक रहस्यमय है।

'बिन्दु' ध्यान से ऊपर चढ़ता है। कलश-गुह्य एवं प्रज्ञा अभिषेक के बाद इस योग को 'अनुत्तर अभिषेक' कहा जाता है। ध्यान द्वारा 'बिन्दु' को ऊपर चढ़ाया जाता है। यहीं षडङ्ग योग का वर्णन मिलता है। इसे 'पतंजलि योग' भी कह सकते हैं। यद्यपि बौद्धों ने इसे विशेष रूप प्रदान किया है।

षडङ्ग योग (हठयोग)

प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि षडङ्ग योग के ये छह अंग हैं। निरभ्र गगन में भावना करना ही प्रत्याहार है।

प्रत्याहार : भगवान का वचन है कि प्रत्याहार में विकल्पभावना नहीं रहती[1]। वस्तु-जगत से साधक प्रत्याहार द्वारा निवृ॑त्त हो जाता है।

ध्यान : वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता का अभ्यास ध्यान द्वारा होता है। वितर्क का यहाँ विशेष अर्थ है, चित्त में किसी सामान्य आदर्श आभास का अवतरण वितर्क है। वस्तु विशेष पर इस प्रकार विचार करना मानो वह पूर्ण प्रकाशमय हो, यह विचार है। प्रीति चित्त की प्रसन्न अवस्था है। विचार जन्य आनन्द का अनुभव ही सुख है। शून्यता पर ध्यान केन्द्रित करना एकाग्रता है।

प्राणायाम में अमृत कुण्डलीबिम्ब नाम से संध्याभाषा द्वारा 'वायु' का वर्णन किया गया है। यह पाँच प्रकार की है। पाँच प्रकार की है। पाँच स्कन्धों, पंचभूतों तथा पाँच ध्यानी बुद्धों से क्रमशः इनका सम्बंध है।[2]

I ललना (इड़ा, वाम नाड़ी)	अमिताभ	(जलतत्व)
II रसना (पिंगला, दक्षिण नाड़ी)	रत्नसम्भव	(अग्नि तत्व)
III मलत्याग कारिणी नाड़ी	वैरोचन	(पृथ्वी तत्व)

---

(१) अतो विकल्पभावना नोपलभ्यते प्रत्याहारभावनायामिति भगवतो वाक्यम्-रूपादि विषय ग्रहण का त्याग ही प्रत्याहार है—
सेकोद्देशटीका—पृष्ठ ४१-४३

(2) An Introduction to Tantric Buddhism — S. B. Das Gupta.

IV मूत्रत्यागकारिणी नाड़ी अमोघसिद्धि (वायुतत्व)
V मध्यनाड़ी (अवधूती या सुषुम्णा) अक्षोभ (शून्यतत्व)
VI वीर्य-नाड़ी (ज्ञानवाहिनी) वज्रसत्व

रेचक, पूरक, कुम्भक आदि योग से चन्द्र (ललना) सूर्य (रसना) नाड़ियों की शुद्धि के बाद इन्हें छोड़कर मध्यमार्ग (अवधूती) का अवलम्बन करने से प्राणयोग सिद्ध होता है । इस नाड़ी योग में चार चक्रों को पार करना पड़ता है । नाभिस्थान में निर्माण चक्र है, हृदय स्थान में सम्भोग चक्र, कंठ में धर्म और शीश में उष्णीश चक्र है । इस प्रकार बौद्ध तंत्र षट्चक्रों में चार चक्र ही मानते हैं । सेकोद्देश टीका में ललाट एवं उष्णीश में अलग-अलग चक्र माने गए हैं । उष्णीश ही बिन्दु स्थान है । यहीं मध्यमार्ग द्वारा प्राण को चढ़ाकर रोका जाता है । इसी को 'धारणा' कहते हैं । प्रत्याहार एवं प्राणायाम दोनों में ध्यान सम्मिलित है । ध्यान से ही 'धारणा' प्राप्त होती है । 'जप' भी साथ-साथ चलता है, इसी को 'वज्रजप' कहा है । 'वज्रजप' की अवस्था में प्राण वायु का ललना एवं रसना में संचरण निषिद्ध है । प्राणायाम धारणा का उपसाधन है । धारणा के बल से नाभिस्थल में ज्वलित 'चण्डाली' (शक्ति-देवी) को देखता हुआ योगी बार-बार इस महामुद्रा का 'अनुस्मरण' करता है ।[1] यही अनुस्मृति है अर्थात् धारणा के अन्त में चण्डाली की भावना की जाती है । इस अवस्था में ज्ञान की अग्नि से स्कन्ध, धातु, आयतन आदि दग्ध हो जाते हैं । चण्डाली की ज्ञान-शिखा से ललाट में चन्द्रस्थान में स्थित बोधिचित् बिन्दुरूप में द्रवित होकर कण्ठ, हृदय, नाभि और गुह्यकमल (लिंग) तक आ जाता है । इसी बिन्दुपात अनुभूति कराने के लिए मैथुनान्त में वीर्य-क्षरण का दृष्टान्त दिया गया है । मैथुन जन्य आनन्द से यह योगजन्य 'बिन्दुपात' का आनन्द करोड़ों गुना अधिक होता है ।

जिस प्रकार तत्वज्ञानी मैथुन रत होकर वीर्य को इच्छानुसार रोक सकता है, उसी प्रकार प्राण-योग द्वारा 'बिन्दु' को पुनः उष्णीश तक पहुँचा कर योगी 'अक्षर' हो जाता है । मैथुन सुख से योगज सहजानन्द महत्तर है । योगज आनन्द

(१) प्रारम्भिक अनुभूत सोपानों का स्मरण भी अनुस्मृति कहलाता है ।

भी 'सहजानन्द' कहलाता है, क्योंकि इन्द्रियों का आनन्द तो इसी का एक रूप मात्र है।[1]

शून्यता का नाम ही समाधि है। ग्राह्य-ग्राहक भाव विरहित, सभी आवरणों से अतीत अवस्था ही शून्यतावस्था है। चित्त की एकता के कारण यह अक्षयसुखावस्था है। अक्षरसुख का नाम ही समाधि है।[2]

इस हठयोग में प्रत्याहार आदि से नाद के अभ्यास से प्राण को मध्यमार्ग में प्रवाहित कर उष्णीश में बोधिचित्त बिन्दु को निरुद्ध कर अक्षर क्षण की साधना की जाती है।

हिन्दूतंत्रों में कुंडलिनी शक्ति मूलाधार चक्र में स्थित मानी गई है, परन्तु यहाँ शक्ति नाभि में स्थित मानी जाती है, प्राणायाम द्वारा यहीं से यह दण्डरूप में ऊपर उठती है। मध्यनाड़ी में होकर यह शक्ति चक्रों को पार करती हुई है, मृदु ललित गति से ऊर्ध्व-गमन करती हुई उष्णीश तक जाती है।

खसमावस्था : उष्णीश को भेदकर 'खेचरत्व' प्राप्त होता है, गगनवत् चेतना निर्मल होकर स्वरूप में स्थित हो जाती है, द्वन्द्व मिट जाते हैं। कल्मष बादलों के समान नष्ट हो जाते हैं, निरभ्र आकाशवत् 'चेतना' अक्षय शांति को प्राप्त होती है। बाह्य विश्व इस अवस्था में स्वप्नवत् प्रतीत होता है, भूत, वर्तमान भविष्य का ज्ञान अकस्मात् होता है। स्वर्गादि लोक स्पष्ट दीखते हैं। संकल्पमात्र से सृष्टि करने की शक्ति उत्पन्न होती है। 'महासुख' प्राप्त होता है। इसी ज्ञान को 'ताथागत' ज्ञान कहा गया है। अप्रकम्प्यस्वभावी होने से यही ज्ञान, अक्षोभ्य, ज्ञान सत्वार्थ होने से, रत्न सम्भव, अलिप्त एवं असंख्य गुण संयोगी होने से अमिताभ, बन्धन

(१) ततश्चण्डाल्या ज्ञानार्चिषा चन्दे द्रुते सति यद्बोधिचित्तं बिन्दुरूपेणाधोगतं कण्ठे हृदि नाभौ गुह्यकमल आनन्दपरमविरमस्वभावेन। ततो वज्र-मणि यावत्सहजानन्द स्वभावेनेति। अथवा विचित्र विपाक विमर्द विलक्षण स्वभावेनेत्येवं षोडशकलापूर्णं मण्यन्तर्गतं यदा सुखं ददाति भावनाबलेन............सदृशमिति दृष्टान्तमात्रं स्वरूपतो द्वीन्द्रियजं.........कोटीसहस्रतमीमपि कला नार्हति परमाक्षर सुखस्येति। (सेकोद्देशटीका, पृष्ठ ४२)

(२) इह ग्राह्यग्राहक चित्तयोरेकत्वेन यदक्षर सुखं भवति तत्सुखं समाधि-रुच्यते—वही, पृष्ठ ४५

रहित होने से अमोघ सिद्धि कहलाता है। इसी प्रकार सर्वक्षेत्रस्थ होने से 'लोचना' व्यापक होने से 'मामकी'; सर्वतारणदक्ष होने 'तारा' सम्यक होने से 'प्रज्ञान्तक'; नानोपायविचित्र होने से 'श्यामवर्ण', सभी सृष्टि का कारण होने से षड्भुज, तथा सर्वबुद्धमय होने से इसी ज्ञान को विभ्रांतक कहते हैं।[1] इस अवस्था में न उच्छेद-वाद, है न शाश्वतवाद, आदि, मध्य, एवं अन्त से वर्जित यह सर्वातीत अवस्था है।[2]

चक्र-सिद्धान्त : नाड़ी-योगमें चक्रों पर अलग से प्रकाश डालने की आवश्यकता है। सारा ब्रह्माण्ड इस पिण्ड में लघु रूप में अवस्थित है, अत: नाड़ियों के अतिरिक्त पर्वत, नदियों, वृक्ष आदि सभी बाह्य प्रकृति शरीर के भीतर विद्यमान है। बौद्ध योग में चार चक्र हैं, इनमें प्रत्येक का सम्बंध एक एक काया से है।[3]

नाभि—निर्माण काया	हृदय—धर्म काया
कंठ—सम्भोग काया	उष्णीश—सहज काया

डॉ० शशि भूषण दास गुप्त ने लिखा है कि न जाने क्यों काया का क्रम यहाँ अव्यवस्थित है। निर्माण के पश्चात् सम्भोग काया और उसके बाद धर्म काया होनी चाहिए थी। वस्तुत: जैसा कि नारोपा ने 'सेकोद्देश टीका' में कहा है कि निर्माण काया आदि काया भी है और अंतिम भी, अत: क्रम वस्तुत: समझाने के लिए है, क्रम का साधना में पारमार्थिक महत्व नहीं है। 'सेकोद्देश टीका' में निर्माण सम्भोग, धर्म एवं सहज यही क्रम स्वीकार किया गया है।

उष्णीश चक्र में ४ दल हैं, यही बोधि-मंडल है। इसके बाहर एक ३२ दल का कमल है। 'ह' वर्ण यहाँ स्थित है। इस कमल में १६ चन्द्रकलाएँ स्थित हैं। इस कमल के दोनों ओर ललना एवं रसना नाड़ियाँ हैं जो स्वर तथा व्यंजनों की प्रतिनिधि हैं इनके बीच में परमेश्वरी या अवधूतिका है।

कंठ के पास सम्भोग चक्र है। इसका वर्ण श्वेत, 'हं' बीज मंत्र है। इसके ऊपर ही अमृत प्रवाहित होता है। सम्भोग चक्र के कमल में १६ दल हैं।

हृदय के पास धर्म चक्र है, इसमें ८ दल का कमल है। यह दुहरा है, इसका एक भाग ऊपर को तथा एक नीचे को खुलता है। 'हं' बीज है।

---

(१) ज्ञान सिद्धि—इन्द्रभूति

(२) खसमं असमं शान्तमादिमध्यान्त वर्जितम्—अद्वयवज्र

(3) An introduction to Tantric Buddhism, Dr S. B. Das Gupta.

नाभि चक्र ६४ दल के कमल से युक्त है। 'अ' बीज है। यह मोती के समान प्रभावान है। इसके जरा नीचे के भाग में ७२ हजार नाड़ियों का केन्द्र है।[1]

चक्रों, अधिष्ठात्री देवियों, कायाओं, आनन्दों, सिद्धान्तों, आर्यसत्यों, मुद्राओं, महाभूतों, गुणों, क्षणों, अंगों का परस्पर सम्बंध इस प्रकार देखा जा सकता है।[2]

चक्र	नाभि-चक्र	हृदय-चक्र	कंठ-चक्र	उष्णीष-चक्र
देवी	लोचना	मामकी	पाण्ड्रा	तारा
गुण	करुणा	मैमा	मुदिता	उपेक्षा
भूत	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु
वर्ण	इ	वम्	म	य
मुद्रा	कर्ममुद्रा	धर्ममुद्रा	महामुद्रा	समय मुद्रा
काया	निर्माण	धर्म	सम्भोग	सहज
क्षण	विचित्र	विपाक	विमर्द	विलक्षण
अंग	सेवा	उपसेवा	साधना	महासाधना
सत्य	दु:ख	दु:ख का कारण	दु:ख का विनाश	दु:खनाशका उपाय
आनन्द	आनन्द	परमानन्द	विरमानन्द	सहजानन्द
निकाय	स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद	संवित्वाद	महासांघिक
प्रहर	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ

इसी प्रकार १६ (४×४) संक्रान्तियाँ हैं। ६४ दण्ड हैं (४×४×४) ३२ नाड़ियाँ हैं (४×४×२)।

(१) हेरुकतंत्र के आधार पर वर्णित—**An Introduction to Tantric Buddhism.**

(2) **An Introduction to Tantric Buddhism—S. B. Das Gupta.**

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वज्रयान में सभी बौद्ध सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए तंत्र को धर्म का सार कहा गया है। शैवधर्म में काश्मीर सम्प्रदाय जिस प्रकार प्रत्येक कार्य त्रिक सिद्धान्तानुसार तीन तत्वों से निकालता है उसी प्रकार वज्रयान चार तत्वों द्वारा साधना-पद्धति को समझाता है।

'हेवज्रतंत्र' में चक्रों के स्थानों में कुछ अंतर दिखाया गया है। निर्माणचक्र योनि या लिङ्ग के निकट, धर्मकाया हृदय एवं सम्भोग काया चक्र कंठ के पास बतलाया गया है।[1]

वज्रजप : प्राणवायु के शासन के द्वारा, वायु को मध्यममार्ग में प्रविष्ट कर चक्रों का भेदन किया जाता है और उष्णीश चक्र में वायु पहुँचाकर योगी 'खसमावस्था' को प्राप्त होता है। प्राणवायु के इस शासन को ही 'वज्रजप' कहा गया है, शब्दों का उच्चारण वास्तविक जप नहीं है। ओ३म् के तीन भाग पूरक, कुम्भक एवं रेचक हैं। प्राणवायु के अनुशासन की क्रिया साथ-साथ जो जप किया जाता है। वही फल देता है।

प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, अनुस्मृति एवं समाधि द्वारा यह षडङ्ग योग पूर्ण होता है। मुद्रा, बन्ध तथा आसन भी इसी में सम्मिलित हैं। आसनों में वज्रोली, सहजोली तथा अमरोली आदि हैं। मुद्राओं में खेचरी, महामुद्रा आश्विनमुद्रा आदि हैं। बन्धों में मूलबन्ध, महाबन्ध, जालंधर बन्ध आदि हैं, नाड़ियों व मांसपेशियों का आंकुचन, विकोचन ही बध है। खड़्ङ्गयोग में कुशल हो जानेपर वीर्य का स्खलन नहीं होता और बोधिचित के निम्न प्रवाह को योगी इच्छानुसार उलट कर ऊपर चढ़ा सकता है, यही अर्ध्व रेतस् योग है।

बौद्ध तंत्रानुसार भुक्ति एवं मुक्ति दोनों एक साथ प्राप्त होती हैं। योग द्वारा शक्ति जाग्रत हो जाने पर योगी नाना चमत्कार कर सकता है।

सिद्धि-प्राप्ति : प्रज्ञोपाय द्वारा सम्बुद्धि प्राप्ति के अतिरिक्त चमत्कारक सिद्धियों की प्राप्ति भी बौद्ध-योग से होती है। वस्तुत: इन लौकिक सिद्धियों के कारण बौद्ध योगी 'सिद्ध' कहलाये। तांत्रिकों में भुक्ति एवं मुक्ति को एक साथ प्राप्त करने के

(1) An Introduction to Tantric Buddhism. Dr S. B. Das Gupta.

प्रयत्न के कारण इन सिद्धियों की प्राप्ति भी चल पड़ी। 'सिद्ध' उसे कहा जाने लगा जो क्रिया के बिना संकल्पमात्र से प्रत्येक इच्छा पूर्ण कर दे। अत: बौद्ध 'तंत्रों' में 'सिद्ध' देवताओं के साथ रह सकते हैं, अमर हो सकते हैं। शंकर की पत्नी पार्वती को शिव से छीनकर उस पर बलात्कार कर सकते हैं। नारायण का अतिक्रमण कर लक्ष्मी का भोग कर सकते हैं।[1]

अष्ट सिद्धियों के अतिरिक्त बौद्धों ने जन्मजा, औषधिज, मंत्रज, तपज तथा समाधिज इन सिद्धियों का आविष्कार किया। इन सिद्धियों के द्वारा बौद्ध निम्न जनता को अधिक-आकर्षित कर सके। रोग, सर्प-विष, बिना पढ़े ही शास्त्र-ज्ञान, बोधि-प्राप्ति, अष्ट महासिद्धियाँ:अणिमा, महिमा आदि, सर्वज्ञता-प्राप्ति हिन्दू देवताओं से सेवा कराने की इच्छा, रक्षा, वाद-विवाद में शत्रु को हराने की इच्छा, शत्रुनाश, गौरव वृद्धि के लिए चमत्कार की इच्छा, मृत्यु के बाद अप्सरा-प्राप्ति की इच्छा, खड्ग, अंजन, पदलेप, अंतर्धान, रसायन, खेचर (आकाशगमन) भूचर (क्षण भर में कहीं भी जा सकना), पाताल-प्रवेश, शांति (रोग नाश) वशीकरण, स्तंम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, मारण, आदि सभी चमत्कारों का प्रदर्शन बौद्ध सिद्ध करते थे।

इन चमत्कारों की प्राप्ति 'देव-उपासना' द्वारा होती थी। काल, नक्षत्र, देव तथा मंत्र द्वारा सब कुछ प्राप्त हो सकता है, यह विश्वास आज तक चला आ रहा है। इस कार्य के लिए छह प्रकार के मंत्रों का प्रयोग होता था—ग्रथन मंत्र, विदर्भ, सम्पुट, रोधन, योग और पल्लव।

ग्रथन मंत्र : रक्षात्मक मंत्रों में साध्य के नाम के प्रत्येक अक्षर पर मंत्र का जाप किया जाता है।

विदर्भ-मंत्र : इसमें मंत्र के अक्षरों के बीच, वशीकरण के लिए किसी का नाम डाल देते हैं।

सम्पुट : इसमें 'व्यक्ति' जिस पर प्रयोग होता है, का नाम आदि एव अंत में रखा जाता है।

---

(१) परमेशं समाक्रम्य, प्रसह्य बलवानधः।
उमादेवीं समाकृष्य, चोपभोगैर्भुनक्त्यसौ ।
नारायणं समाक्रम्य, प्रसह्य बलवानधः।
रूपिणीं तु समाकृष्यं, उपभोगैर्भुनक्त्यसौ—ज्ञानसिद्धि

रोधन : इसमें 'व्यक्ति' का नाम आदि, मध्य एव अंत में होता है।

योग : 'उच्चाटन' के लिए इसमें 'व्यक्ति' का नाम अंत में रखते हैं।

पल्लव : इसमें मंत्र 'व्यक्ति' के नाम के अन्त में बोला जाता है। इसका प्रयोग 'मारण' में होता है।[1]

सिद्धि कार्य में जिस प्रकार की इच्छा हो उसी प्रकार का देवता चुन लेना चाहिए और उसी प्रकार की मानसिक-स्थिति बना लेनी चाहिए यथा क्रोध में क्रोधी देवता तथा क्रोधमय मानसिक स्थिति से ही शत्रु-नाश हो सकता है, क्योंकि फल अपनी साधक की 'भावना' देती है न कि बाहर भी कोई अन्य शक्ति, बाहर किसी को कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती।[2]

कथन-पद्धति

तंत्रमार्ग रहस्यमार्ग है। रहस्यतत्त्व को प्रतीकों द्वारा ही व्यंजित किया जा सकता है। क्योंकि सत्य भाव एवं अभाव से परे है अतः भाषा द्वारा उसका वर्णन सम्भव नहीं है। भाषा या तो भावात्मक हो सकती है या अभावात्मक। इसीलिए तंत्र प्रतीकों का उपयोग करते है। 'शुक्र' को 'वैरोचन', 'मूत्र' को 'वज्रोदक', स्त्रीन्द्रिय को 'पद्म', लिङ्ग को वज्र आदि प्रतीकों द्वारा वर्णित किया जाता है।[3]

साधक सामान्य जनों द्वारा गुह्यसाधना को दुरुपयोग से बचाने के लिए 'संध्या-भाषा' का प्रयोग करते थे। गुह्यमंडलियों में इस प्रकार की कथन-पद्धति प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है। एक उदाहरण लीजिए—

सप्तमस्य द्वितीयस्थमष्टमस्य चतुर्थकम्।
प्रथमस्य चतुर्थेन, भूषितं तत् सबिन्दुकम्।

सप्तम् वर्ग (अन्तस्थ) का द्वितीय वर्ण है 'र'। अष्टम का चतुर्थ वर्ण है 'ह' (ऊष्म), प्रथम का चतुर्थ वर्ण है (स्वर) 'ई'। बिन्दु का अर्थ है 'म', अतः सरस्वती का बीजमंत्र हुआ 'ह्रीं'।[4]

---

(१) द्रष्टव्य—साधनमाला—भूमिका भाग
(२) द्रष्टव्य—साधनमाला—३६४ पृष्ठ
(३) स्वभावाद् देवताकायं तस्माद् वक्त्रं न शक्यते—ज्ञानसिद्धि-इन्द्रभूति
(४) साधनमाला—भूमिका भाग

सिद्ध योग-प्रक्रिया को इसी संध्याभाषा में कहते थे। भासुकपाद ने 'प्राणवायु' को चुहिया कहा है। इसी को मारने से 'ज्ञान' की रक्षा होती है। कन्हुपाद ने लिखा है कि मैंने सास को मार डाला है, माता को मार कर मैं कपाली हो गया हूँ। यहाँ सास प्राणवायु है, माता माया है।

अन्यत्र कहा है कि सास के सो जाने पर बधू जागृत होती है। सास प्राणवायु है और वधू अवधूतिका है।[3]

लामावाद में अविद्या को 'अंधी ऊँटिनी' कहा गया है। चेतनरहित इच्छा को 'योनि' (Sex), पाप को काला घोंघा, पुण्य को श्वेत 'घोंघा' विज्ञान को बन्दर, नामरूप को 'नाड़ी देखते हुए वैद्य, षडायतन को 'मुखावरण' स्पर्श को 'चुम्बन', वेदना को 'बाण', तृष्ण को 'सुरा', उपादान को 'फलों का संग्रह' भाव को 'विवाहित स्त्री', जाति को 'शिशुसहित स्त्री' कहा गया है। जरामरण को 'शव' कहा गया है।[४]

श्री 'वैडेल' का मत है कि धर्म के लिए प्रतीकवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि इस्लाम में चित्र एवं मूर्ति के बिना भी कार्य चल जाता है, अतः प्रतीक-कल्पना के पीछे धार्मिकों की कला-प्रियता है। जो भी हो, यह मानना पड़ता है कि बौद्ध-प्रतीक-प्रियता ने न केवल रहस्यवादी सिद्ध-संत साहित्य को जन्म दिया है, अपितु स्थापत्य एव मूर्ति निर्माणकला को अत्यधिक प्रभावित किया है।

तिब्बतीमत के कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं—

कमल—पवित्रता का प्रतीक	रत्न—संघ, बुद्ध, धर्म
स्वस्तिक—जगत प्रवाह	चक्र—धर्म की पूर्णता
स्त्रीरत्न—स्त्री की सेवा-भावना	श्वेत हाथी—सार्वभौमिक शक्ति
अश्व—सूर्यरथ का अश्व	
प्रसाद, राजसीवेशभूषा, पदत्राण, हाथी की सूँड़ राजा के कर्णफूल, राजा के रत्न	वैभवपूर्ण जीवन एवं सुरक्षा

(3) An Introduction to Tantric Buddhism. S. B. Das Gupta
(4) Lamaism—Waddell, II Edition 1934.

तलवार—विजय	दर्पण—मंगल
गजमुक्ता—मंगल	दधि—मंगल
द्रर्वा—मंगल	बिल्वदल—मंगल
शंख—मंगल	गरुड़—ब्राह्मण्ड
संखाएँ—३. काम, रूप, अरूप, तीन गुण	४. समुद्र
५. स्कन्ध	७. सप्तर्षि
८. सर्प	९. कुबेर के कोष
१०. दिशा	

वज्रयान-सहजयान का महत्व : उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्धतंत्र मार्ग अत्यधिक रहस्यमय और गम्भीर है। मनुष्य के मन में अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, मन एवं प्राणवायु के शासन से सब कुछ प्राप्त हो सकता है, तंत्रों का यही संदेश है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध तंत्र भाग एवं योग की एक साथ शिक्षा देते हैं, शैव-शाक्तों में भी यही क्रम है। देवताओं की भक्ति तथा पूजा भी तंत्रों से ही विकसित हुई है, यह भी इस अध्ययन से स्पष्ट हैं। परन्तु तंत्रों में संभोग द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की पद्धति विचित्र है। बाह्यनैतिकता की चिन्ता न करके साहसी सिद्धों ने इसका अभ्यास किया था। भोग को उपाय के रूप में स्वीकार कर बौद्धतंत्रों ने यद्यपि बौद्धधर्म के पतन के लिए मार्ग खोल दिया था, परन्तु सहज जीवन को भी तांत्रिकों ने ही पुनर्प्रतिष्ठित किया संन्यासियों के विरुद्ध इन राग मार्गियों ने 'राग' को ही मुक्तिका साधन घोषित किया। संभोग द्वारा विश्व की रचना का पता लगाने का कार्य अद्भुत है। केवल चित्र को ही स्वीकार कर तांत्रिकों ने बाह्य जगत की सत्ता का निषेध कर दिया, अतः सिद्ध घोर आदर्शवादी हैं। परन्तु साथ ही जीवन एवं जगत के आनन्दों को वे 'उपाय' के रूप में स्वीकार करते हैं। मन किस प्रकार स्थिर हो इसके लिए मन को आकर्षक लगने वाली वस्तुओं को ही उपाय के रूप में सिद्धों ने स्वीकार किया। जिससे बंधन है, उसी से मुक्ति होनी चाहिए क्योंकि विष से विष का नाश होता है, यह उनका तर्क है। मैल से ही मैल छूटता है, जो लोहा समुद्र में डूब जाता है, उसी से नावबनाकर पार हो जाते हैं, अतः ज्ञान द्वार भोग मुक्तिदायी है, यह तंत्रों की उपलब्धि है। तंत्र कहते हैं कि क्रिया या वस्तु न अपने में हानिकर है न गुणकारक, उसका वैज्ञानिक प्रयोग

गुणकारक होता है और गलत प्रयोग नाशक होता है। आँवला खट्टा है, परन्तु दूध में मिला देने पर मीठा हो जाता है रूप एवं द्रव्यों की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है अत: वे न नाशकर हैं न लाभकर, हमारा कल्याण उनके विशिष्ट प्रयोग पर निर्भर है। अत: वासना मनुष्य को ऊपर भी उठा सकती है, यदि प्रज्ञा एवं उपाय से वह संयुक्त हो जाय। पारमार्थिक दृष्टिकोण से रूप, द्रव्य, वासनादि सब मिथ्या हैं, परन्तु जैसे सर्प दंशन जादूगर की मिथ्या क्रिया द्वारा ठीक हो जाता है, तथैव क्रिया मिथ्या होने पर भी मुक्तिदायिनी है। जगत को शून्य समझकर उसे सहायक बनाया जा सकता है। उसे वास्तविक मानकर हम उसी में उलझे रहते हैं।

शैव-शाक्त-बौद्ध-तंत्रों के इस 'रागमार्ग' का इस देश के अन्य सभी धर्मों पर प्रभाव पड़ा है।

तान्त्रिक-बौद्धमत का रूपान्तरण

आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से बंगाल पर मुसलमानी आक्रमण के पूर्व तक तांत्रिक-बौद्धमत का प्रचार अधिकाधिक बढ़ता गया है। तुलनात्मक दृष्टि से बंगाल बिहार प्रान्त में इस मत के अधिक प्रबल केन्द्र थे जहाँ से वे सारे भारतीय मानस को प्रभावित करते थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय का यद्यपि फ़ाहियान (३९४-४१४ ई०) के यात्रा-विवरण में उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु वसुवन्ध नालन्दा में अध्यापक था, वसुवन्ध का समय श्री कर्न के अनुसार पाँचवी शताब्दी है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि नालन्दा का फ़ाहियान में भले ही उल्लेख न मिलता हो, परन्तु नालन्दा विश्व-विद्यालय का निर्माण गुप्त-सम्राटों के समय हो चुका था।

दक्षिण के धान्यकूट के पश्चात् 'नालन्दा' तांत्रिक बौद्धमत के आचार्यों का केन्द्र रहा है। शांतिदेव (७ वीं शताब्दी) तथा सरहपाद (७ वीं शताब्दी) भी नालन्दा में आचार्य पद पर रहे थे। बंगाल के पालवंश के राजा धर्मपाल प्रथम (८ वीं शताब्दी ने विक्रमशील विश्वविद्यालय की स्थापना की। महीपाल प्रथम तथा न्यायपाल (दशम शताब्दी के अंतिमभाग से ११ वीं शताब्दी के मध्यभाग

(1) Manual of Indian Buddhism—Part I, H. Kern

तक) के समय में बौद्धतांत्रिकमत अपनी चरम उन्नति पर पहुँच गया। दीपंकर (विक्रमशील का प्रधानाचार्य) अद्वयवज्र, तथा नारोपा जैसे प्रसिद्ध तंत्राचार्य इसी युग में उत्पन्न हुए। सहजयान एवं कालचक्रयान की गम्भीर विचारधारा तथा तांत्रिक-बौद्ध-देवमंडल का विकास अपने चरम शिखर पर इसी युग में पहुँचा। नालन्दा विक्रमशील तथा ओदन्तपुरी तंत्र-साधना के प्रकाश-स्तम्भ थे।

ह्वानच्वाङ्ग के अनुसार सप्तम शताब्दी में बंगाल में १० सहस्र संघाराम थे। श्री हरिप्रसाद शास्त्री के अनुसार १० लाख बौद्ध परिवार बंगाल में रहते थे। १२ वीं शताब्दी तक ब्राह्मण एवं जैन प्रभाव बंगाल में बहुत कम था, बौद्धप्रभाव अधिक था। बौद्ध संघ दृढ़ तथा शक्तिशाली थे। बौद्ध पुरोहितों का प्रभाव अखंड था। ये धारणी रचते,बोधिसत्वोंकी पूजा करते और मृत्यु एव विवाहादि में कृत्य कराते थे। प्रत्येक कृत्य मंत्र सेसम्पन्न होता था,मंत्रयान तथा वज्रयान का प्रभाव था। १२वीं शताब्दी में बल्लाल-सेन ने जनगणना करायी थी, इसमें केवल ८०० परिवार ब्राह्मणों के मिले थे। इस प्रकार मुसलमानों के आने के पूर्व पूर्वी भारत में बौद्ध प्रभाव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। बंगाल-की तीन चौथाई आबादी बौद्ध हो चुकी थी, बौद्धों ने तांत्रिक बौद्धमत को इतने सरल रूप में प्रस्तुत किया था कि बिना ज्ञान के ही धारणी मंत्रों के जाप से, अथवा बोधिसत्वों की पूजा तथा ध्यान से सब कुछ प्राप्त हो सकता था। धनीवर्ग के लिए बौद्ध पुरोहित धन लेकर मंत्र जपते थे और फल धनदाता को होता था। सारा समाज अत्यधिक सरल और अंधविश्वास से पूर्ण धर्म आचारों के द्वारा इस जीवन में भुक्ति और मृत्यु के बाद 'मुक्ति' की प्राप्ति सम्भव समझता था। ११वीं १२वीं शताब्दी को बौद्धमत का वाह्यरूप केवल आचार-प्रधान (sacramental) रह गया था, शिक्षित बौद्ध इस आचार की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि से परिचित होने के लिए नालन्दा, विक्रमशील तथा ओदन्तपुरी में जाते थे। परन्तु सामान्य जनता मंत्रजप, देवमूर्ति पूजा, गुरु सेवा, ध्यान, तथा धार्मिक कृत्यों तक ही सीमित थी। गुह्यसाधकों में, जिनकी संख्या पर्याप्त थी, वामाचार का प्रचार था। स्वयं विश्वविद्यालयों में भी वामाचारप्रधान बौद्ध-साधना का अभ्यास आचार्य एवं शिष्य विधिवत् करते थे। नाना देवताओं तथा देवियों का अविष्कार और अनेकानेक

---

(1) Modern Buddhism and its followers in 1896, Strassburg
Orrisa—N. N. Vasu, Calcutta 1911

रहस्यमय अनुभवों एवं उपलब्धियों काविस्तार इन विश्वविद्यालयों द्वारा हुआ है। स्वतंत्र साधक भी इस तांत्रिक-साधना में रत रहते थे। संघों में भिक्षु अविवाहित रहते थे, परन्तु ववज्रयान के प्रभावस्वरूप जो संघ के बाहर साधक विवाह नहीं करते थे। वे उसे विवाह 'नहीं करते थे शक्ति ले रहा हूँ' विवाह में स्त्री के लिए ये शब्द कहे जाते थे।

वज्रयान-सहजयान द्वारा मंत्र, शक्ति-साधना के प्रचार के साथ-साथ 'कालचक्रयान' द्वारा भूत-प्रेत-राक्षस पूजा को अधिक बल मिला। इस मत के अनुसार 'गौतम बुद्ध' को एक भयंकर-देव demon के रूप में स्वीकार किया गया। भयंकर देवों की उपासना भयंकर कृत्यों द्वारा होने लगी, परिणामत: अन्ध-विश्वास एवं कुकृत्यों को खुली छूट मिल गई। कालचक्रयान का आचार्य १२ वीं शताब्दी में 'जगत्तला' नामक विहार में था, इसके पर्याप्त प्रमाण है।[1]

शैवों तथा बौद्धों से प्रभावित 'नाथपंथ' का भी १० वीं शताब्दी के आस पास विशेष प्रचार हुआ। मछंदरनाथ नैपाल में अवलोकितेश्वर के समान पूजित हैं, परन्तु नाथपंथ वज्रयानी सहजयानी 'संभोग साधना' के विरुद्ध शुद्ध हठयोगी थे, अत: बौद्ध 'नाथों' को उन्हें अपने सम्प्रदाय से बाहर मानते थे। परन्तु 'नाथ' मत बौद्धों से प्रभावित था। उनके मत में वज्रयान-सहजयान शब्दावली का प्रयोग है, पर अर्थ कुछ भिन्न हैं।

इस प्रकार बंगाल में १२ वीं शताब्दी में धार्मिक दृष्टि से यह परिस्थिति थी—

१. ब्राह्मणधर्म—केवल ८०० परिवार (लगभग)

२. महायानधर्म—उच्चस्तर के भिक्षुओं में प्रचचित।

३. वज्रयान—मध्यवर्ग का धर्म + विवाहित बौद्धों का धर्म

४. नाथमत—नाथपंथी तथा कुछ बौद्ध-जनता।

५. सहजिया—निम्नवर्ग द्वारा स्वीकृत धर्म।

६. कालचक्रयान—निम्नतम वर्ग में प्रचलित था।

---

(1) Preface to Modern Buddhism and its Followers in Orissa—H. P. Sastri

बंगाल में जब धर्मों की यह स्थिति थी तभी मुसलमानों का आक्रमण हुआ। ये भारतीयों को हिन्दू या ब्राह्मण कहते थे। अत: ब्राह्मणों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्धों का अनस्तित्व प्रमाणित किया, फलत: संघ छिन्न-भिन्न होने पर या तो मुसलमान हो गए अथवा निम्न हिन्दूजातियोंमें मिल गए, परन्तु इनके विचारों तथा आचारों में बौद्ध प्रभाव सर्वदा रहा, नाथपंथियों का भी यही हाल हुआ। चूँकि मुसलमानों के पूर्व बौद्धअपने को स्वतंत्र धर्म एवं जाति के रूप में मानते थे अत: मुसलमान या निम्न हिन्दू जातियों को स्वीकार कर लेने पर भी इन्होंने अपने को कबीर की तरह 'ना हिन्दू ना मुसलमान' ही कहा। 'नाथ' भी अपने को अलग मानते रहे, चूँकि बौद्ध परंपरा द्वारा इन्हें 'योग' एवं 'रहस्य साधनाएँ' प्राप्त हुई थीं तथा आचारवाद वर्ण व्यवस्था--आदि का ये खंडन करते चले आरहे थे, अतएव ये सब प्रवृत्तियाँ यवन-आक्रमण के पश्चात् भारतीय निम्न-जातियों के संतों एवं नाथों में अब तक मिलती हैं, यद्यपि इन संतों पर हिन्दू पतंजलि योग तथा वेदान्त का भी प्रभाव मिलता है, परन्तु बौद्ध-प्रवृत्तियाँ उनमें बिल्कुल स्पष्ट हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध धर्म का भारत से नाश हो गया है; यह कहना अधिक समीचीन होगा कि बौद्ध मत-तांत्रिक-बौद्धमत-नाथमत-संतमत वैष्णवमत इस क्रम से भारतीय समाज को एक विशिष्ट रूप देकर रूपान्तिरित होगया, आज जिन्हें हम शुद्ध वैदिक या स्मार्त आचार या उपासना समझते हैं उनमें तांत्रिक-उपासना के अनेक तत्त्व रूप बदल कर आगए हैं।

बंगाल में कैवर्त (माहीष्य) ब्राह्मण-योगी, धर्मघरिया योगी, धर्मदेवता के उपाशक उपासक, कर; अनाचरणीय कहलाने वाली जातियाँ, सुनार, बढ़ई, चित्रकार, वैश्य, कायस्थ, आदि जातियां प्रथम बौद्ध थीं। नेपाल के वैश्य, सुनार, बढ़ई, चित्रकार आदि विवाहित बौद्धों की संताने हैं। यवनों के आगमन के पूर्व ब्राह्मण एवं बौद्ध दोही जाति वर्ग थे। परन्तु यवनों के बाद बौद्धों को भी ब्राह्मणों द्वारा निर्मित वर्ण-व्यवस्था में सम्मिलित होना पड़ा, अत: बहुत सी जातियों ने ब्राह्मणों के 'वर्णसंकर' को सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, वे अपने मूल उद्गम को भूल गई, अत: ब्राह्मण, जातियाँ क्षत्रिय बनने का प्रयत्न करने लगीं।

---

1 **Preface to Modern Buddhism. H. P. Sastri.**

नेपालमें सारे धर्म दो भागों बाँटे जाते है (१) बौद्ध गुरु पूजक हैं (२) ब्राह्मण देवता पूजक। किन्तु नेपाल से कहीं अधिक मिश्रण मैदानी भागों में हुआ अतः यवनों के पश्चात् के हिन्दू धर्म में गुरुवाद एवं देवतावाद घुल मिल गया, संतों में वह गुरुवाद स्पष्ट दिखायी पड़ जाता हैं, क्योंकि उन पर बौद्ध प्रभाव सबसे अधिक है। वैष्णवों में भी 'गुरुवाद' कम नहीं है। यह स्पष्ट तांत्रिक प्रभाव है। उच्च-वेदवादी ब्राह्मणवर्ग तांत्रिक परंपरा से कम प्रभावित है, परन्तु चैतन्यमत के गोस्वा-मियों तथा भक्तों को भी हर प्रसाद शास्त्री स्पष्टतः गुरुवादी मानते हैं।

अक्षयकुमार दत्त ने लिखा है कि महाराष्ट्र का 'बिठोवा' बौद्ध देव मण्डल का अवशेष है।[1] जगन्नाथ, धर्मठाकुर, सहजिया वैष्णव, नाथमत, बंगाल के 'सराकी तांतिस' बौद्धों से प्रभावित हैं। 'सराकी' स्पष्टतः 'श्रवक' का अपभ्रंश है।

श्रीयुत नगेन्द्रनाथ वसु ने लिखा है कि ११ वीं शताब्दी में बौद्ध मार्ग प्रवृत्तिमार्ग तथा निवृत्रिमार्ग दो भागों में विभाजित हो गया था। प्रवृत्तिमार्ग में सहजिया साधना प्रचलित थी, अतः यवनों के शासनकाल में भी सहजिया सम्प्रदाय प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थों को प्रभाति करता रहा।[2] वैष्णवधर्म के रूप में यह अबतक जीवित है।

निवृत्तिमार्गीय साहित्य में रामाई पंडित ने 'शून्यपुराण' लिखा। धर्म-सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामाई थे। 'शून्य पुराण' को महायानमत स्वीकृत है। 'शून्य' को एक निराकार ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है।

शून्यरूपं निराकारं सहस्रविघ्ननाशनम्।
सर्वपरः परोदेव, तस्मात्त्वं वरदाभव।

रामाई के अनुसार 'शून्यमूर्ति' का न आदि है, न अन्त वह कर चरणादि से रहित है। वह निराकार है, जरामरण से रहित है सर्वलोकों का स्वामी यह शून्य ज्ञानगम्य है। भक्तों की कामनाएँ इसी मूर्ति के ध्यान से पूरी होती हैं।[3]

---

(1) Preface to Modern Buddhism—H. P. Sastri

(2) Modern Buddhism—N. N. Vasu

(३) यस्यान्तोनादिमध्यो न च कर चरणौ नान्ति कायो निनादं।
नाकारो नैवरूपं न च भयमरणे, नास्ति जन्मनि यस्य।
योगीन्द्रै र्ज्ञानगम्यं, सकलदलगतं सर्वलोकैक नाथं
भक्तानां कामपूरं सुरनरवरन्दं, चिन्तयेद् शून्यमूर्तिम्—वही

निराकार शून्य (ब्रह्म) को भक्ति का विषय रामाई पंडित ने किस प्रकार बनाया है, यह स्पष्ट है। 'निर्गुण भक्ति' के विकास में 'शून्यपुराण' एक महत्त्व-पूर्ण शृंखला है।

यवन आक्रमण के पश्चात् बौद्धों ने दक्षिणी भारत में—विजयनगर, कलिंग, कोंकण में अपने केन्द्र स्थापित किये। उड़ीसा में आज भी बौद्धधर्म जीवित है। उड़ीसा में 'बाथुरी' जाति का विश्वास है कि प्रारम्भ में 'शून्य' था, इस 'शून्य' की भुजा से बादुरी या बाथुरी (भुजा से उत्पन्न) जाति की उत्पत्ति हुई हैं।

नेपाल के 'स्वयंभूपुराण' में आदि बुद्ध या स्वयंभू को 'शून्यमहाप्रभु' कहा गया है। वेदमाता, आदिमाता तथा प्रज्ञा भी इसी के नाम हैं। सिद्धान्तडम्बर [1] में बीजमंत्र इस प्रकार हैं—

'ओं शून्य ब्रह्मणे नमः'

इस ग्रन्थ की गायत्री विचित्र है—

ओं-सिद्धदेवः सिद्ध धर्म्मः, वरेण्यमस्य धीमही।
भर्गदेवी धीयो यो, नः सिद्धध्रुवो प्रचोदयात्।

'बुद्धं शरणं गच्छामि' आदि के स्थान पर इस गायत्री का पाठ होता है। इसमें 'सिद्ध' शब्द सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) के लिए, सिद्धधर्म, प्रज्ञापारमिता के लिए, तथा सिद्धध्रुव, सिद्धसंघ के लिए प्रयुक्त हुआ है।

'सिद्धान्तडम्बर' में वक्ता शिव हैं। कौलावली निर्णय में एक 'वातुलतंत्र' का उल्लेख है, 'मदनपारिजात' में भी इस तंत्र का उल्लेख है। इस तंत्र में भी वक्ता शिव हैं, अतः इस तंत्र का सम्बंध सम्भवतः 'बाथुरी' जाति के साथ रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

उड़ीसा में १६ वीं शताब्दी में अच्युतानन्ददास, जगन्नाथदास, यशवन्तदास तथा चैतन्यदास नामक महान वैष्णाव कवि हुए हैं। अच्युतानन्ददास की रचना है 'शून्य -संहिता' इसमें चैतन्यसम्प्रदाय के सिद्धान्तों के साथ-साथ शून्य उपासना एवं स्तवन भी मिलता है। इसके 'विराटगीता' में कहा गया है कि शून्य ही ब्रह्म है,

(१) सिद्धान्तडम्बर—१६ वीं शताब्दी में उड़ीसा में बलरामदास द्वारा रचित, यह 'गंगेशविभूति' नामक ग्रन्थ की टीका है—द्रष्टव्य—
Modern Buddhism—N. N. Vasu

उसमें 'निरंजन' हुआ, [२] इस प्रकार एक परम अवतार हुआ। महाशून्य, शून्यपुरुष तथा नाम एक ही ब्रह्म की संज्ञा कही गई है। शून्य पुरुष ही जीव के रूप में बदल जाता है। वह शून्य पुरुष बड़ा नटखट है। २५ कारण, ५ मन, ६ चक्र, ५० अक्षर एवं ७२ नाड़ियाँ उस 'शून्य' की रक्षक हैं, वही शून्य तटस्थ होकर संसार का भोग करता है।

बाथुरी जाति आजकल उड़ीसा में अस्पश्यं है, परन्तु 'सिद्धान्तडम्बर' में उसकी भी यह कारण दिया गया है कि कलियुग में बाथुरी अस्पश्यं रहेंगे, परन्तु उनके शरीर के स्पर्श से सारे पाप धुल सकते हैं, विष्णु ने मायाशक्ति से उन्हें गुप्त कर रखा है। लोग इस रहस्य से अपरिचित हैं, अन्यथा बाथुरियों को स्पर्श कर पापों से मुक्त न हो जाते।

बाथुरी जाति बाह्याचार का कबीर की तरह ही खंडन करती है। अंतर्मुख होकर शून्यमंत्र जप से, त्रिकुटी में ध्यान लगाने से मुक्ति होती है।

उड़ीसा का राधा-कृष्ण सम्प्रदाय भी शून्यवाद से प्रभावित है। वृन्दावन, मथुरा एवं अन्यतीर्थ महाशून्य में स्थित हैं। गुप्त वृन्दावन को कोई नहीं जानता। कृष्ण शून्य पुरुष है। वस्तुतः यह बौद्धमत है। ब्राह्मणों को धोखा देने के लिए केवल कृष्ण, वृन्दावन का नाम शून्य के साथ जोड़ दिया गया है। गीताभागवत का घोर खंडन किया गया है।[१]

बलरामदास ने एक 'गुप्तगीता' की रचना की है। इसमें लिखा है कि कृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध, उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र के समय बलरामदास के रूप में अवतार

---

(१) **अर्जुन**—तोहर रूप रवि नाहीं, शून्य पुरुष देही।
कृष्ण—श्रीहरि बोइले हो शुण पाण्डुसुत।
ब्रह्ममहिमा तोते कहिवा वेदान्त
महाशून्यकु जो ब्रह्म बोलि कहि
से ब्रह्म रूप होइला निरंजन देही।
निरञ्जन ढारू-हेला परम अवतार
परम ढावरु जीव, होइला बाहार

(२) गीताभागवत पुराण पढ़िबा, कहिबा चातुरी थिव।
तत्त्व अनाकार नाम, ब्रह्मभेद न पाई व्यर्थहेव—
अनाकार संहिता-अच्युतानंददास

लेगा। कृष्ण जगन्नाथ जी में 'दारुब्रह्म' बनेंगे। बलराम के 'प्रणवगीता' में एक मनोरंजक कहानी है। राजाप्रतापरुद्र को पता चला कि बलराम ने गीता की रचना की है। ब्राह्मणों ने कहा कि शूद्र शास्त्र लिखता है, अतः वह दंडनीय है। तब बलराम ने कहा कि श्रीपति भगवान पर किसी का एकाधिकार नहीं है। ईश्वर भक्त का है, चाहे वह ब्राह्मण हो या चाण्डाल।[1] बलराम ने तब सिद्ध किया कि वह ज्ञान के अधिकारी हैं, उन्होंने ब्राह्मणों को यह वेदान्त (वस्तुतः शून्यवाद) सुनाया, ब्राह्मण पराजित हो गए।

इस कथा से स्पष्ट है कि निम्न जातियों को अपने अधिकार के लिए शास्त्र लिखते-पढ़ते थे और छद्म रूप में अपनी परंपराओं की रक्षा करनी पड़ती थी। वर्णाश्रमधर्म एवं बाह्य आचारवाद के विरोधी मर्मी संत और भक्त शताब्दियों तक ब्राह्मणवर्ग से लड़ते रहे। भारतीय वर्ग संघर्ष के लिए इस 'वैष्णव-बौद्ध' सम्प्रदाय का अनुशीलन आवश्यक है।

चैतन्यदास ने 'विष्णुगर्भ' में लिखा है कि विष्णु एक नहीं पाँच हैं। 'अलेख' (अलख) ही शून्य है, अलेख का माया से उत्पन्न रूप है 'निराकार'। निराकार से धर्म का विकास हुआ है।

तब अलेख से ६ रंग उत्पन्न हुए, ६ रंगों से ६ विष्णु उत्पन्न हुए। अलख ने ही ब्रह्मा की रचना की। चार निराकारों से से चार ब्रह्मा बने। नेपाल में अलख को ही 'महाविष्णु' माना गया है। चूँकि 'वज्रयान' में अक्षोभादि ध्यानी बुद्धों के पाँचरंग वर्णित हैं, अतः ५ रंगों से ५ विष्णु तथा अलख इस प्रकार ६ विष्णु उत्पन्न हुए, यह मान लिया गया।

उड़िया वैष्णव-बौद्धों में दो सम्प्रदाय हैं १. धर्म यही निरंजन है। यह शून्य-रूप है, सृष्टि का करण है। २. धर्म स्त्रीतत्त्व है। नेपाल में भी धर्म को स्त्री कहा गया है, उसकी मूर्ति भी एक देवी के रूप में है।

---

(१) प्रतापरुद्र महाराजा, कोपे बोइले बड़पर्य्यां।
प्रणव वेदवादभान, कि अधिकारे शूद्र ज्ञान।
शुण हे नृप गजपति, काहारि नोहन्ति श्रीपति।
भक्तजनकर से हरि, विप्र चाण्डाल से आदि करि—

प्रणवगीता—बलरामदास

१८वीं शताब्दी में बुद्धगुप्त तथागत नाथ नामक बृद्धभिक्षु तिब्बत से भारत-यात्रा करने आया था, वह उड़ीसा के 'हरिभंज' चैत्य में ठहरा था, अतः बौद्धधर्म उड़ीसा में मृत नहीं हुआ था।

वैष्णव मुक्ति की जगह बैकुंठ को मानते हैं, वैष्णव-बौद्ध भी महाशून्य या निर्वाण को ही बैकुंठ कहते हैं।

इनमें हठयोग का भी प्रचार था। बलरामदास के अनुसार गोरखनाथ हठयोग के प्रवर्तक थे। योग अतिरिक्त भक्ति भी इनके यहाँ स्वीकृत है। उड़ीसा के बौद्धों ने प्रतापरुद्र राजा के दमन से विवश होकर वैष्णवधर्म को स्वीकार कर लिया था, परन्तु गुप्तरूप से वे अपने को 'गुप्त बौद्ध' कहते थे, उनका विश्वास था कि कलियुग में बौद्धरूप गुप्त रहता है। अतः बुद्ध का बाह्यरूप ही जगन्नाथ, है गुप्त रूप 'बुद्ध' है। इसका क्या कारण है? इसका उत्तर ये बौद्ध देते हैं कि ज्ञान में भ्रम उत्पन्न करने के लिए, वैदिक पूजा का नाश करने के लिए तथा निर्गुण ब्रह्म की आराधना के लिए ही बुद्ध का अवतार होगा।[१] भागवत में इसके विरुद्ध यह कहा गया है कि असुरों को मोहित करने के लिए ब्रह्म बुद्ध का रूप कीकर देश में (उत्कल ?) अवतार लेंगे[२] इस प्रकार श्रीमद्भागवत ने बौद्ध-प्रभाव से विवश होकर ही बुद्ध को दशावतार में सम्मिलित किया था और साथ ही बौद्धमत के विरुद्ध घृणा भी प्रकट की थी। इसके बिपरीत अच्युतानन्द ने लिखा है कि तीन सहस्र बौद्ध अपने को गुप्त रखकर समय काट रहे हैं और बुद्ध के अवतार की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

उड़ीसा में अभी हाल में 'चन्द्रसेन' नामक एक चैत्य खोज में मिला है। शीतला एवं धर्मदेवी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ एक योगी जाति है जो अभी तक 'धर्मदेवी' के गीत गाती है।

उड़ीसा में १६वीं शताब्दी से प्रचलित 'महिमा-धर्म' भी बौद्धमत का ही एक रूप है। इसे 'सद्धर्म' भी कहते हैं।

---

(१) वेदर धर्म छुड़ाइबे, निर्गुणधर्म प्रचारिबे।
सकलवर्ण इक ढारे, बसि भुंजिब सुगत रे।

(२) ततः कलौ संप्रवृत्त, संमोहाय सुरद्विषाम्
बुद्ध नाम्नाञ्जनसुत, कीकरेषु भविष्यति—श्रीमदभागवत

भीमभोइ अरक्षितदास ने महिमाधर्म का प्रचार किया । 'कलिभागवत' इसकी प्रसिद्ध रचना है। स्वयं 'अलेख' (बुद्ध) ने भीम को बुद्धधर्म के प्रचार के लिए प्रेरित किया था । यद्यपि भीमभोइ नीच जाति का था, परन्तु भक्ति द्वारा इसने जाति-पाँति के बन्धन तोड़ने में बड़ा योगदान दिया है । उच्चजाति के लोग भी इसके शिष्य बने ।

उड़ीसा में बौद्धधर्म का यह रूपान्तर भारतीय धर्मसाधना का अत्यधिक मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद उदाहरण है । यवनों के आक्रमण के पश्चात् बौद्धधर्म किस प्रकार आज तक इस देश में नाना रूप बदल कर जीवित रहा है, उत्कल का वैष्णव धर्म इसका साक्षी है । उड़ीसा तथा बंगाल के अतिरिक्त मध्यदेश के वैष्णव धर्म एवं संत मत की पृष्ठभूमि में बौद्धमत का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है । तांत्रिक बौद्धमत से प्रभावित बंगाली वैष्णवों ने बल्लभ, हरिदास, हितहरिवंश आदि की विचारधारा और साधना-पद्धति को दूर तक प्रभावित किया है । संतमत तो बौद्ध सिद्धों की परंपरा की ही एक श्रृंखला है ।

वैष्णव तथा संतमत के अतिरिक्त अनेक स्थानीय देवी-देवताओं, उनकी उपासना-पद्धतियों, तथा लोकाचारों में तांत्रिक बौद्धमत अब भी जीवित है ।

संत-वैष्णव सम्प्रदाय तक पहुँचने वाले तत्त्व

संत काव्य

(१) पारमार्थिक 'सत्ता' भाव, अभाव से परे है । कबीर-दादू आदि के 'ब्रह्म' पर प्रभाव ।

(२) आत्मा या चेतना निष्प्रपंच है, जगत् प्रपंच है ।

(३) कुंडलिनीयोग

(४) महासुख

(५) सहज, उन्मन, खसम आदि विशेष अनुभव

(६) भक्तिभाव

(७) बाह्याचार का खंडन

(८) शास्त्र निरपेक्षता, स्वानुभव पर बल

(९) विपरीत कथन–पद्धति तथा प्रतीक-पद्धति

(१०) वैराग्यमूलकता

वैष्णव सम्प्रदायों पर प्रभाव

(१) संसार (जगत नहीं) दुःखमय है (वल्लभ)—इस धारणा पर बौद्ध प्रभाव।

(२) जगत प्रपंच है, दुःखमय है—तुलसीदास

(३) सत्ता अवाङ्मनसगोचर

(४) सुखावती स्वर्गवाद का कृष्णभक्तों के गोलोकवाद पर प्रभाव।

(५) युगनद्ध—शक्तिसंयुक्त देवता का ध्यान

(६) रागद्वारा साधना

(७) काया-सिद्धान्त

(८) मुक्ति की आनंदवादी कल्पना

(९) राम एवं कृष्ण के जगत उद्धारक रूप पर बुद्ध का प्रभाव।

पाञ्चरात्र-मत

यद्वा भगवते तस्मै, स्वकीयात्मसमर्पणम् ।
वियुक्तं प्रकृतेः शुद्धं, दद्यादात्मदृविः स्वयम् ।
अहिर्बुध्न्यसंहिता ।

इष्टदेव को आत्मसमर्पण कर देना ही आत्महविष् अथवा आत्मयज्ञ है, यह तभी सम्भव है, जब जीव प्रकृति के आकर्षणों से अपने को मुक्त कर ले !

पाञ्चरात्र-मत

तांत्रिक दर्शन एवम् साधना के इतिहास में पाञ्चरात्र मत का स्थान महत्व-पूर्ण है । पाञ्चरात्र-संहिताओं अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार तांत्रिक शैव एवं शाक्त मत, वैष्णव या भागवतधर्म के साथ मिश्रित रूप में प्राप्त होते हैं और फिर किस प्रकार इसी मिश्रित रूप से तांत्रिक तथा वैष्णव साधनाएँ और दर्शन भिन्न-भिन्न मार्ग ग्रहण करते हैं यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार ये भिन्न-भिन्न रूप परस्पर विरोधी मत नहीं हैं, अपितु इनमें आधार भूत एकता सर्वत्र दिखायी पड़ती है ।

श्रेडर के अनुसार पांचरात्र संहिताओं की संख्या २१० है जिनके नाम श्री श्रेडर ने दिये हैं । इनमें पौष्कर, सात्त्वत एवं जयाख्य संहिताएँ सबसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीन मानी जाती हैं । दार्शनिक सामग्री की दृष्टि से अहिर्बुध्न्य संहिता को अधिक महत्व दिया जाता है [२] अन्य महत्वपूर्ण संहिताओं में वराह, ब्रह्म, पारमेश्वर, सनत्कुमार, परम पद्मोद्भव, माहेन्द्र, काण्व, पद्म तथा ईश्वर संहिता के नाम उल्लेखनीय हैं ।

उपर्युक्त संहिताएँ ८ वीं शताब्दी तक अवश्य निर्मित हो गई होंगी, किन्तु उपर्युक्त संहिताओं के अतिरिक्त अन्य संहिताओं का समय अनिश्चित है, प्राय: वे ८ वीं शताब्दी के बाद लिखी जाती रहीं । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'नारद-पाञ्चरात्र' से प्रचलित संहिता को श्री श्रेडर अपेक्षाकृत नवीन रचना मानते हैं और उसे पाञ्चरात्र प्रामाणिक नहीं मानते (३) डॉ० भंडारकर एवं डॉ० शशिभूषण दास गुप्त भी उनके साथ सहमत हैं ।

---

(1) Introduction to the Panchratra and the Ahirbudhnga Samhita Tr. O. Schrader Adyar Library, Madras 1916

(२) श्री राधा का क्रम विकास-दर्शन और साहित्य—पृष्ठ २३ डॉ० शशिभूषण दास गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् २०००

(3) Itroduction to Panchratra—Page 3

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'अहिर्बुध्न्य संहिता' की रचना कश्मीर में हुई थी। उत्पल वैष्णव ने इस संहिता का भी अन्य संहिताओं के साथ उल्लेख किया है।[१] आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार कश्मीरी शैव-दर्शन एवं पाञ्चरात्र दर्शन में आधारभूत एकता दिखायी पड़ती है।

स्रोत—पाञ्चरात्र मत प्राचीनमत है। डॉ० एस०एन० दास गुप्त के अनुसार पाञ्चरात्र का स्रोत ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि नारायण पाञ्चरात्र नामक यज्ञ को सम्पन्न कर सर्वोपरि प्रतिष्ठित हुए थे।[२] शतपथ में 'पाञ्चरात्र' शब्द यज्ञ विशेष के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के शांतिपर्व में श्वेतद्वीप की कथा है, जहाँ जाकर नारद को भक्ति का उपदेश नारायण से मिला। यह श्वेतद्वीप कहाँ है, इस पर विद्वानों में विवाद रहा है, श्री श्रेडर का अनुमान है कि श्वेतद्वीप की कथा से भारतवर्ष के उत्तरीय पर्वत-प्रदेश संकेतित है। यह अनुमान संगत प्रतीत होता है, क्योंकि पाञ्चरात्र संहिताओं का निर्माण सर्वप्रथम उत्तरी भारत में हुआ है। तत्पश्चात् उनका निर्माण दक्षिण में भी होने लगा।[3]

महाभारत को यदि पाञ्चरात्र मत का आदि स्रोत माना जाय तो यह कहना होगा कि महाभारत के समय में ही पाञ्चरात्र-साधना प्रचलित थी। यद्यपि उसका वह रूप जो प्राप्त संहिताओं में मिलता है, महाभारत से पर्याप्त भिन्न है। उदाहरण के लिए महाभारत के शांति पर्व में तांत्रिक तत्त्वों का प्राय: अभाव है[४] जबकि पाञ्चरात्र संहिताओं में तांत्रिक तत्त्वों का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त महाभारत में पाञ्चरात्र मत में वर्णित पूजाविधि एवं आचार (Rituals) नहीं मिलता।

डॉ० एस० एन० दास गुप्त ने बताया है कि हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि पाञ्चरात्र मत वैदिक है या अवैदिक। यदि वैदिक माना जाय तो स्मृतियों में इसकी निन्दा क्यों की गई है?[५] पाञ्चरात्र या भागवतों को उच्च

---

(१) वही, पृष्ठ ६६

(२) शतपथ ब्राह्मण (१३, ६-१)

(3) Introduction to Panchratra, Page 16

(४) श्रेडर के अनुसार महाभारत में भी तांत्रिक तत्वों की छाप यत्रतत्र मिलती है, यद्यपि शांतिपर्व में उनका अभाव है—वही, पृष्ठ १५

(5) History of Indian Philosophy Dr S. N. Das Gupta Vol. III (1940) Page 15, Cambridge.

ब्राह्मणों के साथ भोजन में नहीं बैठने दिया जाता था। डॉ० दास गुप्ता के अनुसार 'सात्वत' का अर्थ ही 'निम्न जाति' है[1] व्यवसाय की दृष्टि से सात्वत लोग मूर्ति पर चढ़ी हुई भेंट, दीक्षा एवं दान पर निर्भर रहते हैं। वे वैदिक यज्ञ नहीं करते। चूँकि पूजा को सात्वत लोग व्यवसाय बना लेते हैं, अत: उन्हें निम्न स्थान दिया गया है।[2] डॉ० दास गुप्त का अनुमान है कि वादरायण ने इसीलिए पाञ्चरात्रों का खंडन किया है।

पाञ्चरात्र-शास्त्र वैदिक कर्मकाण्ड को 'फलसिद्धि' के लिए करणीय मानता है। सांख्य, योग और पाशुपत मतों को साधना-सोपान के रूप में स्वीकार करता है, अर्थात् सांख्य, योगादि के पश्चात् क्रमशः पाञ्चरात्र मत में प्रवेश होता है।

> भर्यास्था एव सिध्यन्ति सांख्यादिष्वपि च त्रिषु।[3]
> आरोहन्तीच्छया तेऽपि सात्वतं शासनं परम्—

पाशुपत और सांख्य स्पष्टत: अवैदिक मत हैं, किन्तु पांञ्चरात्र उन्हें स्वीकार करता है। पाञ्चरात्रों में गीता की तरह कर्मकाण्ड और भगवान की उपासना में दूसरी 'रीति' को अधिक महत्व दिया है। यह भी एक कारण है कि 'वैदिक' पाञ्च- को अवैदिक कहते आए हैं[4]—द्रष्टव्य—

श्रेडर महोदय के अनुसार 'पाशुपत मत' का अर्थ पाञ्चरात्र संहिताओं के अनुसार उस बर्बर और वाममार्गी 'पाशुपत मत' से नहीं है जिसकी निन्दा वैदिक मतावलंबी करते रहे हैं। उनके अनुसार 'पाशुपत मत' का लम्ब 'आगमवादी शैव मत' से है जिस पर बाद के शैव-सम्प्रदाय (उदाहरणत: कश्मीर शैवमत) आधारित हैं। किन्तु 'आगमवादी शैवमत' को भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने में बड़ा प्रयत्न करना पड़ा है और उन्हें संकुचित अर्थ में वैदिक माना भी नहीं जाता, यद्यपि उनमें बहुत से वैदिक सिद्धान्त अपनाये गए हैं, अतएव पाशुपत शब्द का कुछ

---

(१) वही, पृष्ठ १५

(२) वही

(३) अहि० संहिता, द्वितीय जिल्द, पृष्ठ १३२

(४) Introduction to Panchratra, Page 17

भी अर्थ क्यों न लें, पाञ्चरात्र को पूर्णतया वैदिक मानने का कोई कारण नहीं है।[1] 'पञ्चतंत्र' में जो अपेक्षाकृत नवीन संहिता है, शिव को कापालिक, शुद्ध शैव तथा पाशुपत इन मतों का प्रवर्तक स्वीकार किया गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता के आधार पर 'पाशुपतों' को बर्बर और वाममार्गी न मानते हुए भी 'उग्रव्रतधर' कहा जा सकता है।[2] अहि० जिल्द १, पृष्ठ १२८ अतः इन 'उग्रविचारकों' के साथ पाञ्चरात्रों की यह सहानुभूति स्पष्ट कर देती है कि इस मत में लोकधर्म से बहुत से तत्व सम्मिलित किए गये हैं। द्रष्टव्य; Introduction—to Panchratra, page 112)

अहिर्बुध्न्य संहिता में स्पष्ट कहा गया है कि 'पाशुपत' मत को ग्रहण कर लेने पर 'ब्राह्मण धर्म' (वैदिक कर्मकाण्ड तथा संस्कार) का अनुसरण नहीं किया जा सकता और फिर भी पाञ्चरात्र मत पाशुपत मत को स्वीकार करता है—

प्राप्ता: पाशुपतं ये हि धर्मं ब्राह्मणपूर्वका:
न धर्ममनुष्ठिन्ति त्रयीस्थं ते पुनर्मुने।
पञ्चरात्रं प्रविश्येव, नान्यं धर्मं वितन्वते'—

पाञ्चरात्र मत की प्रामाणिकता का प्रयत्न जिस उत्साह से किया गया है, उससे लगता है कि इस मत में अवैदिक तत्त्व मिल गए हैं। यामुनाचार्य ने 'आगम प्रामाण्य' में पाञ्चरात्र मत को वैदिक सिद्ध करने का घोर प्रयत्न किया है और कहा है कि पाञ्चरात्र मत के प्रवर्तक नारायण हैं। उपनिषादों में भी नारायण का ही वर्णन हैं। यामुनाचार्य के अनुसार कापालिक, कालामुख तथा पाशुपत अवैदिक मत है[1] जब कि पाञ्चरात्र मत वैदिक है। यह मत उन भक्तों के लिए है जो वैदिक यज्ञों के झगड़ों से दूर रहना चाहते थे[4]।

परन्तु यामुनाचार्य के सारे तर्कों के बावजूद पाञ्चरात्र मत को वैदिक सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें वही शैव एवं शाक्त-तत्त्व मिश्रित हैं जिन्हें यामुनाचार्य अवैदिक मानते हैं।

---

(१) द्रष्टव्य—Introduction fo panchratra, page 111-112

(२) (३) अहि० जिल्द १, पृष्ठ १३२

(3) A History of Indian Philosophy. Dr Das Gupta Vol III Page (17)

(४) वही

पाञ्चरात्र पूजा-पद्धति भी अवैदिक है । डॉ० दास गुप्ता के अनुसार यह अवैदिक पूजा-पद्धति छठी शताब्दी (ईसापूर्व) में प्रचलित थी, परन्तु इसका प्रमाण डॉ० दास गुप्ता ने नहीं दिया है[3]। परन्तु बेसनगर के स्तम्भ से यह प्रमाणित अवश्य होता है कि पाञ्चरात्र मत अथवा भागवतमत ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में अच्छी दशा में था[४]।

यद्यपि पुराणों में पाञ्चरात्रमत के अनेक सिद्धान्त मिलते हैं, परन्तु फिर भी पाञ्चरात्रों की कई स्थानों पर निन्दा की गई है ।

कापालम्, गारुड़म् शाक्तम्, भैरवम् पूर्वं पश्चिमम् ।
पाञ्चरात्रम्, पाशुपतम्, तथान्यानि सहस्रशः ।

'कूर्मपुराण' के उक्त पद्य में उपर्युक्त मतों की निन्दा की गई है । कहा गया है कि पूर्वजन्म में गोबध के पाप के कारण इस जन्म में मनुष्य 'पाञ्चरात्री' होता है ![५] 'स्कन्दपुराण' में भी कहा गया हैं—

पाञ्चरात्रे च कापाले, तथा कालमुखेऽपि च ।
शाक्ते च दीक्षिता व्यूहम्, भवेत् ब्राह्मणाधमः ।।
द्वितीयम् पाञ्चरात्रे च, तंत्रे भागवते तथा ।
दीक्षिताः च द्विजा नित्यम्, भवेयुर्गर्हिता हरेः । [६]

साम्बसंहिता, सूतसंहिता, आस्वलायन स्मति, वृहत् नारदीयपुराण वायुपुराण लिङ्ग पुराण, विष्णुसंहिता, हारीति, बोधायन तथा यमसंहिता में भी पांचरात्रों की यत्र तत्र निन्दा की गई है[१] किन्तु श्रीमद्भागवत, महाभारत व विष्णुपुराण में पांचरात्रों की प्रशंशा है । जिन्हें 'सात्त्विक पुराण' कहा जाता है, उनमें पांच-रात्रों की प्रशंसा है । उदाहरण के लिए नारदीय, गरुड़, पद्म, वाराह, भागवत पुराणों में प्रशंसा है ।[२]

---

(१) वही, पृष्ठ १६ (२) वही, पृष्ठ १६
(३) कूर्मपुराण अध्याय १६ (B. J. series)
(४) 'तत्त्वकौस्तुभ' में भट्टोजि दीक्षित द्वारा उद्धृत—द्रस्टव्य A History of India Philosophy III, Page 19
(5) A History of Indian Philosophy. Vol. III, Dr Das Gupta, page 20
(६) वही

पाञ्चरात्रमत की 'ईश्वरसंहिता' में कहा गया है कि पाञ्चरात्रमत का नाम 'एकायन वेद' है। यह वेद से भी प्राचीनतर माना गया है, किन्तु वासुदेव ने सन, सनक, सनत्सुजाति, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल तथा सनातन के सम्मुख इस गुह्य मत का उद्‌घाटन किया। यह मत इसलिए उद्‌घाटित हुआ कि वेदों के पाठक परमार्थ तत्त्व को विस्मृत कर भौतिक भोगविलास में मग्न हो गए थे। इस धारणा का अर्थ है कि 'ईश्वरसंहिता' पाञ्चरात्रमत को वेद से भी प्राचीनतर मानती है और वेद को उसी की एक शाखा मानती है।[१] इसी संहिता में यह भी कहा गया है कि मूल 'एकायन वेद' ही सात्विक शास्त्र है, किन्तु आगे चलकर इस सात्विक पाञ्चरात्र शास्त्र में कुछ ऋषियों ने अपने नये सिद्धान्त मिलाये तब यह 'राजसशास्त्र' हुआ और जब 'मनुष्यों' ने इसमें मिश्रण किया तब यह शास्त्र 'तसशास्त्र' हुआ।[२] इस धारणा से भी यही पुष्ट होता है कि पांचरात्र मत शुद्ध वैदिकमत नहीं है, इसमें अवैदिक स्रोतों से बहुत सी सामग्री आयी है।[3]

वैदिक पद्धति पर यज्ञ-याग करना ही आर्यों का प्राचीनतम धर्म है, क्रमशः इस वैदिक धर्म में अन्य जातियों के विश्वास एवं साधनाएँ अंतर्भुक्त होती गईं। 'अथर्ववेद' इस विराट समन्वय का प्रबल प्रमाण है। उपनिषत्, गीता तथा महाभारत में वैदिक यज्ञवाद के अतिरिक्त अनेक सम्प्रदायों एवं साधनाओं को वैदिक धर्म के क्रोड़ में समेट लिया गया है जिन्हें आर्य समाजी आजतक वैदिक नहीं मानते। इसी प्रकार महाभारत के समय प्रचलित भागवत या पाञ्चरात्रमत ने अवैदिक विश्वासों को स्वीकार कर लिया है। भक्ति, मूर्त्तिपूजा, गुह्ययोग, शक्तिवाद आदि तत्व जो पाञ्चरात्र में मिलते हैं, बाहर से आये हैं। बाद में इन्हें वैदिक सिद्ध करने की चेष्टा की गई है जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है।

भारतवर्ष के विचारक एवं साधक की यह विशेषता रही है कि वह गृहणीय वस्तु को ग्रहण कर उसे किसी न किसी रूप में वेद के साथ अवश्य जोड़ने का प्रयत्न करता है, इससे उसके मत को स्वीकृति मिला जाती है। पाञ्चरात्र मत भी इसका

---

(१) वही, पृष्ठ २१

(२) वही, पृष्ठ २१. ऋषियों द्वारा निर्मित राजस शास्त्र में दो भेद किये गए हैं—वैखानस और पाञ्चरात्र।

(3) The general trend of the panchratra is cleasly non—Vedic—Schrader, page—91

अपवाद नहीं है, किन्तु इतिहास के प्रकाश में यह स्पष्ट है कि भारतीय भागवत मत द्रविड़ अथवा अन्य अनार्थ जातियों से आर्य जातियों में स्वीकृत हुआ है और एकबार स्वीकृत होने के पश्चात् उसे वेद के अनुकूल ढालने का अधिकाधिक प्रयत्न होता गया है। श्रेयर महोदय ने भी स्वीकार किया है कि सामान्यत पाञ्चरात्र मत अवैदिक है।

पाञ्चरात्र शब्द का अर्थ—तत्त्व, मुक्तिप्रद, भक्तिप्रद, यौगिक तथा वैशेषिक इन पाँच' प्रकार के ज्ञान वर्णित होने के कारण 'पाञ्चरात्र' शब्द व्यवहृत होता है। 'राम' शब्द का अर्थ ज्ञान किया गया है। 'तत्त्व' का अर्थ सृष्टि की उत्पत्ति है। मुक्ति खण्ड में आवागमन से मुक्ति प्राप्त करने के उपाय बताये गए हैं। भक्ति एवं योग ऐसे ही उपाय हैं। वैशेषिक में इन्द्रियों के विषयों का वर्णन है।

नारद पाञ्चरात्र में 'राम' शब्द का अर्थ है 'किस प्रकार, हमें ज्ञात नहीं' 'शतपथ' में 'राम' शब्द का अर्थ 'सत्र' है जो पाँच दिन तक होता रहता था। ऐसा चतीत होता है कि शतपथ में 'रात्र' शब्द को स्वीकार कर पाञ्चरात्र शब्द स्वीकार किया गया है और 'राम' का अर्थ 'ज्ञान' कर लिया गया है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार पाञ्चरात्र यज्ञ के कर्त्ता नारायण देवताओं में श्रेष्ठ हो गए, उसी प्रकार पाञ्चरात्र शास्त्र का अभ्यासी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है। इसके साथ-साथ व्यूह मी पाँच हैं जिन पर इस शास्त्र में बहुत जोर दिया गया है। आजकल 'पाञ्चरात्र' शब्द से 'वैष्णव सम्प्रदाय' यह अर्थ लिया जाता है।

विषय—पाञ्चरात्र शास्त्र में १० विषय है, दर्शन, मंत्र, यंत्र, माया, योग मंदिर-निर्माण, प्रतिष्ठाविधि, संस्कार, वर्णाश्रम धर्म और उत्सव।

इस सूची से स्पष्ट है कि इस शास्त्र में केवल भक्ति का विवेचन नहीं है, अपितु योग, मंत्र, यंत्र की भी विस्तृत चर्चा है और इसी से हमने इसे शैव-शाक्त तत्वों से मिश्रित शास्त्र माना है।

दर्शन—शास्त्रावतार—अहिर्बुध्न्य संहिता में दुर्वासा से भारद्वाज प्रश्न पूछते हैं और दुर्वासा उत्तर देते हैं। दुर्वासा कहते हैं कि यह शास्त्र सर्वप्रथम नारद को अहिर्बुध्न्य से प्राप्त हुआ था, अतः नारद और अहिर्बुध्न्य के संवाद द्वारा दुवासा भारद्वाज के सम्मुख इस शास्त्र का आख्यान करते हैं। अहिर्बुध्न्य ११ रुद्रों में से एक रुद्र हैं। शिव का सात्त्विक रूप ही अहिर्बुध्न्य कहलाता है। इससे यह स्पष्ट है कि

अन्य आगमों की तरह पाञ्चरात्र भी एक आगम है जो शिवोद्भूत है, इस तथ्य से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि शैव, शाक्त एवं वैष्णव मतों में आधारभूत एकता होनी चाहिए, क्योंकि तीनों मत शिव द्वारा ही उद्भूत हुए हैं। साथ ही यह भी पता चल जाता है कि शिव के मुख से उत्पन्न शास्त्रों में आगमेतर तत्वों की अंतर्भुक्ति सबसे अधिक हुई है।[१]

ब्रह्म—ब्रह्म अनादि, अनन्त, अक्षर, अव्यय, अनाम, अरूप एवं अवाङ्मनसगोचर है। किन्तु इतने विशेषणों द्वारा निराकार ब्रह्म के वर्णन के पश्चात् पुनः अहिर्बुध्न्य ब्रह्म के सगुण रूप का भी वर्णन करते हैं। अतएव वह ब्रह्म सर्वशक्तिमान है, षट्गुणों से युक्त है। अपनी अनन्त शक्तियों के द्वारा ब्रह्म व्यक्त भी है और अव्यक्त भी, साकार भी है ओर निराकार भी है। गुणों के योग से वही ब्रह्म भगवान कहलाता है, समस्तभूतवासी होने से उसे 'वासुदेव' कहते हैं। हित एवं रमणीयता के गर्भ होने से उसे ही 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। कल्याणकारक होने से उसे 'शिव' कहा जाता है।[२] ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज इन छह गुणों से युक्त ब्रह्म इस बात की रचना में समर्थ होता है यद्यपि वह द्वन्द्वातीत है, तथापि अपनी शक्तियों से सृजन करता है। गुणों की व्याख्या से ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञान का अर्थ है 'चेतनतत्त्व' अर्थात् ब्रह्म का प्रथम गुण चेतनता है। शक्ति का अर्थ है जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय करने की सामर्थ्य। ऐश्वर्य का अर्थ है स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने की शक्ति[३] बल का अर्थ है, जगत-रचना करते हुए भी

---

(१) अहिर्बुध्न्यसंहिता—एम०डी० रामानुजाचार्य द्वारा सम्पादित, जिल्द, १, पृष्ठ १२
अडयार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१६ ई० (प्रथम संस्करण)

(२) वही, पृष्ठ १५-१६

(३) अजडं स्वात्मसंबोधि नित्यं सर्वावगहनम्
ज्ञानं नाम गुणं प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः
जगत्प्रकृतिभावो यः सा शक्तिः परिकीर्त्तिता
कर्तृत्वं नाम यत्तस्य स्वातन्त्र्य परिबृंहितम्
ऐश्वर्यं नाम तत्प्रोक्तं..............वही, पृष्ठ १८

श्रान्त न होना। इसे 'श्रमहानि' कहा गया है। उपादान होने पर भी विकार से रहित रहना यह 'वीर्य' है। तेज का अर्थ है 'सहकार्यनपेक्षा'। किसी की सहायता के बिना ही ब्रह्म सृष्टि रचने में समर्थ है।[1] इस प्रकार ब्रह्म अपने गुणों द्वारा जगत का उपादान होकर भी विकार से रहित होताहै। कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता है, चेतना होकर भी जड़ तत्व की सृष्टि करता है, वह परम स्वच्छन्द और स्वामी है वही भोक्ता है और अभोक्ता भी है। परस्पर विरुद्ध गुणों का आश्रय है।

दर्शन में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ब्रह्म यदि 'उपादन' नहीं है तो ब्रह्म के अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ को उपादान कारण मानना पड़ता है, जैसा कि सांख्य ने किया है वहाँ प्रकृति एवं पुरुष अलग-अलग हैं किन्तु इससे 'द्वैत' का समर्थन होता है जो अन्य अनेक कठिनाइयाँ लाता है परन्तु यदि ब्रह्म को ही उपादान कारण माना जाय तो उसमें 'विकार' आने का भय रहता है, क्योंकि चेतन तत्व में विकार आये बिना जड़ की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसीलिए आचार्य शंकर ने विवर्त-वाद का सिद्धान्त खोज निकाला था और जगत की सत्ता को अनिवर्चनीय माना था किन्तु भागवत मत को यह भी इष्ट नहीं था। जगत भी रहे और ब्रह्म भी, दोनों की सत्ता की रक्षा 'शक्ति-सिद्धान्त' से इसीलिए की गई है। ब्रह्म तो सर्वशक्ति-मान है, अतः वह उपादान कारण होकर भी अविकारी रहता है, ऐसा यदि मान लिया जाय तो अद्वैत की भी रक्षा हो जाती है और जगत की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। शक्ति एवं शक्तिमान की एकता स्वयं सिद्ध है और जगत ब्रह्म का नहीं उसकी शक्ति का कार्य है, अतः जिस प्रकार शैव एवं शक्तों ने शक्ति के सिद्धान्त द्वारा अद्वैत की रक्षा की है उसी प्रकार पाञ्चरात्र मत भी जगत के अस्तित्व तथा ब्रह्म के अविकारत्त्व दोनों की रक्षा कर लेता है, अतः सिद्धान्तः शैव, शाक्त एवं वैष्णव मत एक हैं।

शक्तिवाद : जिस शक्ति से पाञ्चरात्र मत ब्रह्म को सारे कार्यों का कर्त्ता बनाकर भी उसे अविकारी रखता है, उसका स्वरूप क्या है?

---

१ श्रमहानिस्तु या तस्य सततं कृर्वतो जगत्।
बलं नाम गुणस्तस्य, कथितो गुणचिन्तकैः। अहिर्बुध्न्य संहिता, पृष्ठ १८
तस्योपादान भावेऽपि विकार विरहो हि यः
वीर्य नाम गुणः.............................। पृष्ठ १९
सहकार्यनपेक्षा या तत्तेजः समुदाहृतम्—पृष्ठ १९

शक्ति अवर्णनीय है, अचिन्त्या है, ब्रह्म से उसकी अप्रथक स्थिति है। उसे स्वरूपतः नहीं देखा जा सकता, किन्तु शक्ति जब कार्य रत होती है, तब उसको जाना जा सकता है। वह सूक्ष्मा है, सारे पदार्थों में व्याप्त है। वह 'यह है', 'यह नहीं है' ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता।[1] वह ब्रह्म के साथ उसी प्रकार एकाकार है जिस प्रकार चन्द्रमा में ज्योत्स्ना।[2]

'जयाख्यसंहिता' में बुध को सूर्य और शक्ति को रश्मि तथा ब्रह्म को अग्नि एवं शक्ति को स्फुल्लिङ्ग और ब्रह्म को अम्बुधि और शक्ति को ऊर्म्मि कहा गया है।[3]

यह शक्ति 'स्वच्छन्द शक्ति' है, इसका प्रस्फुरण ही जगत है। यह उदित और अस्त होने वाली तथा निषेध और उन्मेषशालिनी है।[4] यह शक्ति निरपेक्ष है, आनन्दमयी है, नित्यपूर्ण है, आत्मभित्ति पर अपना ही उन्मीलन कर यह शक्ति जगत के रूप में परिणत होती है और उससे परे भी रहती है। काल से स्वतंत्र होने से यह नित्या, आकार न होने से पूर्ण, देशों में विभाजित होने से वह व्यापिनी है, यह रिक्त भी है और पूर्ण भी है। जगत को देखकर शक्ति लक्षित होती है, अतः वह 'लक्ष्मी' है विष्णुभाव का आश्रय लेने के कारण यह श्री है। काम (इच्छा) पूर्ण करने के कारण 'कमला' काल से परे होने से 'पद्मा' है। विष्णु की सामर्थ्य रूपिणी होने से वह 'विष्णुशक्ति' है और अपने कार्यों से पति को प्रसन्न करती है, अतः वह विष्णु 'पत्नी' है। जगत को अपने भीतर संकुचित करती है, अतः 'कुंडलिनी' है। मन एवं वचन से वह अदृष्ट है, अतः वह 'अनाहता' है। शुद्ध सत्वाश्रया होने से वह 'गौरी' है। स्वसंवित्ति से जगत को प्राण देती है, अतः वह जगत्प्राणा है। गायकों की रक्षिका है, अतः गायत्री है। जगत का सृजन करती है,

---

(१) शक्तय: सर्वभावानामचिन्त्या अप्रथक्स्थिताः।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते, दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः।
सूक्ष्मावस्था हि सा तेषां सर्वभावानुगामिनी।
इदन्तया विधातुं सा न निषेद्धुं च शक्यते—अहि० संहिता, जिल्द १, पृष्ठ २०

(२) सर्वभावानुगा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधतेः वही, पृष्ठ २०

(३) जयाख्य संहिता—६—७८ एक्स् १३—१०५—०६

(४) स्वातन्त्र्यरूपा सा विष्णोः प्रस्फुरत्ता जगन्मयी।
उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषरूपिणी—अहि० संहिता, पृष्ठ २१

अत: वह 'प्रकृति' कहलाती है। माता, शिवा, तरुणी, तारा, मोहिनी, इड़ा, रति, सरस्वती, महाभासा वैष्णवी उसी के नाम हैं [1]

शक्ति के इस स्वरूप को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि पाञ्चरात्र में शक्ति एवं शक्तिमान ब्रह्म की एकता शैवों की ही तरह धर्म तथा धर्मी की एकता के सिद्धांत पर प्रतिष्ठित है।[2] जिस अर्थ में चन्द्र-चन्द्रिका, समुद्र-उर्मि, सूर्य-रश्मि की एकता है अथवा गुणी एवं गुणों की एकता है, उसी अर्थ में ब्रह्म (विष्णु) तथा शक्ति (लक्ष्मी) की एकता है। स्वतंत्रता ही शक्ति का स्वभाव है। इसीलिए वह जड़ रूप धारण-कर भी ब्रह्म से अभिन्न रहती है। शैवों शाक्तों की तरह पाञ्चरात्रों ने "स एकाकी न रमते" श्रुति को आधार मानकर बताया है कि यह ब्रह्म में सृष्टि-इच्छा उत्पन्न होते ही ब्रह्म की स्वतंत्र शक्ति 'उन्मेष' को प्राप्त होती है, अत: यह सृष्टि ब्रह्म की इच्छा का उन्मेष मात्र है, अत: उससे अभिन्न है। ब्रह्म की सृष्टि-इच्छा ही शक्ति का प्रथम उन्मेष है। शैवों, शाक्तों ने जिस प्रकार सारा सृष्टि कार्य-शक्ति द्वारा कराया है और ब्रह्म को 'तटस्थ' रखा है, उसी प्रकार पाञ्चरात्र मत भी सारा सृष्टि-कार्य शक्ति द्वारा ही कराता है। इससे ब्रह्म में 'कर्त्तृत्व' का दोष नहीं आता है और साथ ही ब्रह्म से अभिन्न शक्ति द्वारा यह सृष्टि-कार्य होने से 'ब्रह्म' को जो श्रुतियों में कर्त्ता कहा गया है वह भी सार्थक हो जाता है। 'परस्पर विरुद्ध धर्माश्रयी' ब्रह्म की स्थिति-रक्षा शक्तिवाद द्वारा ही की गई है।

सृष्टि-विकास : ब्रह्म में सर्वप्रथम सृष्टि-संकल्प उत्पन्न होता है।[3] यदि यह पूछा जाय कि ब्रह्म तो पूर्ण है, उसमें संकल्प क्यों उत्पन्न होता है, तो इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि 'कैसे' सृष्टि-विकास होता है, यह समझाना शास्त्र का काम है न कि 'अवाङ्मनसगोचर' ब्रह्म क्यों सृष्टि रचता है, इसका उत्तर देना। फिर भी शास्त्र उत्तर देता है कि 'ब्रह्म' आनन्दस्वरूप है, अत: क्रीड़ा या आनन्द के लिए ही वह सृष्टि रचता है। यही 'क्रीड़ा' का सिद्धान्त आगे लीला के सिद्धान्त

(१) वही, पृष्ठ २१, २२, २३

(२) देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मण: परमेष्ठिन:।
एष चैषा च शास्त्रेषु, धर्म धर्मि स्वभावत:—अहि० संहिता, जिल्द, १—पृष्ठ २३

(३) तस्य स्यामिति संकल्पो भावतोऽभावतोऽपि वा।
स्वातन्त्र्याननुयोज्येन-रूपेण परिवर्तते—अहि०—जिल्द १, पृष्ठ १२

में विकसित हो गया है। सृष्टि ब्रह्म के स्वतंत्र संकल्प का स्वत: विकास है उसमें कोई वाह्य उद्देश्य नहीं है।[१]

सुदर्शन : 'लक्ष्मी' अपने एक (Aspect) को क्रिया शक्ति के रूप में प्रकट करती है, यह 'क्रियाशक्ति' 'सुदर्शन' कहलाती है। यह 'सुदर्शन' देश एवं काल से परे हैं। 'भूति शक्ति' लक्ष्मी का दूसरा अंश है जो सुदर्शन से आगे की स्थिति है, क्रियाशक्ति 'निमित्त' कारण है और भूत शक्ति 'उपादान कारण' है, यही दोनों में अंतर है।[२] विष्णु (ब्रह्म) सर्वातीत तत्त्व है, सृष्टि प्रक्रिया में हमारा सम्बंध केवल 'शक्ति' के साथ है जो शक्तिमान के संकल्प को पूरा करती है। जो भूति शक्ति के द्वारा सृष्टि रूप धारण करती है और क्रिया शक्ति के रूप में सृष्टि की प्रेरिका बनती है और सृष्टि का शासन करती है।

शुद्ध-सृष्टि : प्रशान्त समुद्र में स्पन्दन के रूप में क्षुभित शक्ति 'अप्राकृत' गुणों की सृष्टि करती है। ये गुण सत्त्व, रज, तम से परे, अप्राकृत गुण हैं। ये गुण ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति बल, वीर्य और तेज छह हैं। इन अप्राकृत गुणों के उपादान से 'वासुदेव' के शरीर की रचना होती है और 'लक्ष्मी' का शरीर भी इन्हीं से बनता है। इन्हीं 'अप्राकृत गुणों' से निर्मित वासुदेव तथा लक्ष्मी वैकुंठ में भक्तों द्वारा प्राप्त होते हैं। भक्त कवियों के आराध्य और प्राप्य यही वासुदेव एवं लक्ष्मी हैं।

'वैकुंठ' की रचना भी अप्राकृत तत्त्वों से होती है। परन्तु 'विश्रामभूमि' और 'श्रमभूमियों' के निर्माण में अप्राकृत गुण द्वन्द्व-प्रणाली अपनाते हैं और ये अप्राकृत गुण भूतिशक्ति से भी सहायता लेते हैं—

ज्ञान, ऐश्वर्य तथा शक्ति + भूति शक्ति = विश्राम भूमि
बल, वीर्य तथा तेज + क्रिया शक्ति = श्रम भूमि

अप्राकृत गुणों द्वारा तथा अप्राकृत गुण, भूति एवं क्रिया शक्ति के संयोग द्वारा शुद्ध-सृष्टि की रचना होती है उसे स्वरूपत: 'आभासित सत्ता' कहा गया है यह आभासित सत्ता विकारों से परे हैं जैसे सूर्य से प्रकाश उत्पन्न होता है उसी प्रकार वैकुंठादि आभासित होते हैं।[3]

(१) सर्वैरनुनुयोज्यं तत्स्वातन्त्र्यं दिव्यमीशितु:।
अवाप्त विश्वकामोऽपि क्रीड़ते राजवद्वशी—अहि० जिल्द १, पृष्ठ १२४

(2) An Introduction to Panchratra, Page 31

(3) Do, Page 34

व्यूह-सृष्टि : षड्गुणों के ३ द्वन्द्वों से संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध प्रकट होते हैं, इनका क्रम इस प्रकार है—

	संकर्षण (बलराम)	प्रद्युम्न	अनिरुद्ध
	ज्ञान + बल	ऐश्वर्य + बल	शक्ति + तेज
(वासुदेव का)	अग्र-भ्राता	पुत्र	पौत्र

शक्तियाँ

संकर्षण	प्रद्युम्न	अनिरुद्ध
शान्ति	सरस्वती	रति

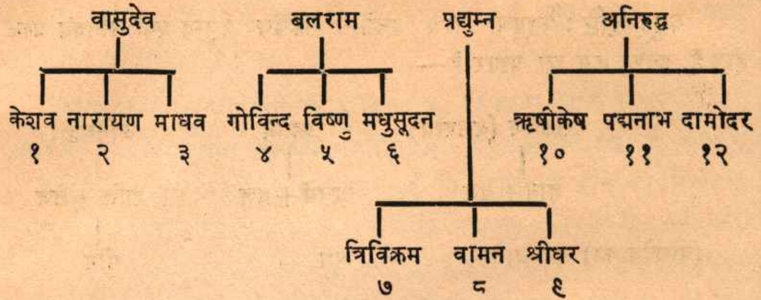
'वासुदेव' 'ब्रह्म' हैं जो शान्ति और शिव (संकर्षण) को उत्पन्न करते हैं, प्रद्युम्न, ब्रह्मा हैं और सरस्वती उनकी 'शक्ति' है, अनिरुद्ध को 'पुरुषोत्तम' कहा गया है और रति उनकी शक्ति है। यह शुद्ध सृष्टि है, अविकारी है।

'संकर्षण' के रूप में ब्रह्म 'बल' द्वारा 'अव्यक्त प्रकृति' को अस्तित्त्व में लाता है। प्रद्युम्न के द्वारा प्रकृति एवं पुरुष का द्वन्द्व व्यक्त होता है। काल, प्रकृति और आत्मा प्रकट होते हैं और अनिरुद्ध के द्वारा इस सृष्टि की रक्षा होती है। नवीन संहिताओं में कहीं-कहीं अनिरुद्ध को सृष्टिकर्त्ता, संकर्षण को संहारकर्त्ता और प्रद्युम्न को सृष्टि का रक्षक कहा गया है[1] संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध सृष्टि-कार्य के अतिरिक्त 'नैतिक' कार्य भी करते हैं। बलराम (संकर्षण) एकांतिक मार्ग (पाञ्चरात्रमत) की शिक्षा देते हैं। प्रद्युम्न इन सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करते हैं और अनिरुद्ध इस 'साधना' का फल देते हैं।[2] इन तीनों महा-शक्तियों की ब्रह्म के साथ अभिन्नता दिखाने तथा आगे सृष्टि विकास के लिए वासुदेव कृष्ण के १२ नाम चुन लिये गए हैं, जिनसे १२ मास उत्पन्न होते हैं—

---

(1) An Introduction to Panchratra, Page—37-38

(२) वही, पृष्ठ ४०



उपर्युक्त देवता बारहमासों के 'अधिदेवता' के रूप में स्वीकृत हैं। इन देवताओं (शक्तियों) के वेश, प्रभा, वस्त्र, अस्त्र आदि का अन्य तंत्रों की तरह वर्णन किया गया है। मस्तक पर वैष्णव लोग जो चंदन आदि से खड़ी रेखाएँ खींचते हैं, वे इन्हीं देवताओं की प्रतीक हैं। 'तिलक' का यही रहस्य है।[1]

अवतार : शुद्ध सृष्टि में 'अवतार' या "विभव" (Manifestation) की भी गणना होती है। अहिर्बुध्न्य संहिता में ३९ विभवों की गणना है।[2] इनमें कपिल, लोकनाथ, दत्तात्रेय, परशुराम, राम और 'कल्कि' भी सम्मिलित हैं। इस प्रथम सूची में 'बुद्ध' या 'ऋषभ' को स्वीकृत नहीं किया गया है, जैसा कि बाद के वैष्णव पुराणों (श्रीमद्भागवत) में किया गया है। परन्तु 'अभेद बुद्धि' की दृष्टि से बौद्ध एवं जैनधर्म प्रवर्तक भी स्वीकृत हैं।[3]

अवतार सिद्धान्त में दीपशिखा का सिद्धान्त स्वीकृत है। जिस प्रकार दीप-शिखा से ज्योति का प्रवाह उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अवतार-परंपरा विष्णु-ज्योति की प्रवाह-परंपरा है। इन ज्योतियों में से किसी एक की साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। उपर्युक्त ३९ अवतार मुख्यावतार कहे गए हैं, परन्तु कुछ गौण या 'आवेशावतार' भी होते हैं। जब विष्णु-शक्ति से प्रेरित होकर कोई 'जीवात्मा'

---

(१) वहीं, पृष्ठ ४१-४२

(२) अहि०, जिल्द १, पृष्ठ ४६-४७

(३) बुद्धात्मना च बौद्धानां स एव जगति स्थितः ।
स एव शाम्बराणां च निवारणरूपधृक्—अहि० जिल्द २, पृष्ठ ३१२

किसी विशिष्ट कार्य के लिए अवतरित होती है, तो उसे 'आवेशावतार' कहते हैं। इच्छा-पूर्ति के लिए ये द्वितीय प्रकार के अवतार पूज्य हैं।[1]

अपेक्षाकृत नवीन संहिताओं में इन वैष्णवी शक्ति से 'आविष्ट' अवतारों में ब्रह्मा, शिव, बुद्ध, व्यास, अर्जुन, परशुराम, वसु तथा कुबेर की गणना की गई है।[2] इसका अर्थ यह है कि मुख्य तथा गौण अवतारों के विभाजन में संहिताओं में मतभेद दिखायी पड़ता है। गौण अवतारों में पशु, मानव, पादप, पक्षी भी अवतार हो सकते हैं। देवताओं की और अवतारों की मूर्त्तियाँ भी पाञ्चरात्र विधि से पूजित होने पर 'अवतार' हो जाती है, क्योंकि उनमें विष्णु-शक्ति अवतरित होती है।[3] इन मूर्त्तियों को इसीलिए 'अर्चावतार' कहा जाता है। मूर्त्ति पूजा वस्तुतः 'शक्तिपूजा' है, प्रस्तर पूजा नहीं, क्योंकि साधक अपनी रुचि और संकल्प के अनुसार किसी भी मूर्त्ति को चुन लेता है और वह मूर्त्ति वैष्णवी शक्ति से आविष्ट होने के कारण फल देती है, शक्ति द्वारा (आत्मशक्ति) शक्ति की उपासना ही मूर्त्तिपूजा का रहस्य है।

एक और अवतार 'अंतर्यामी अवतार' के नाम से स्वीकृत है। अनिरुद्ध सब आत्माओं का शासक है, अतः वह सब में व्याप्त रहता है। यह अंतर्यामी अवतार धूम्ररहित ज्योति के रूप में हृदयदेश में प्रतिष्ठित रहता है। योग-प्रक्रिया द्वारा इस अंतर्यामी रहस्यात्मक शक्ति को जागृत किया जाता है।[4]

स्वर्ग-सिद्धान्त : शुद्ध सृष्टि में अवतारों के अतिरिक्त वैकुंण्ठ का भी वर्णन है। इसे 'परमव्योम' कहा गया है। आनन्द, भोग, वैभव सब कुछ यहाँ

---

(१) वही, पृष्ठ ४७-४८

(2) An Introduction to Panchratra. Page 48

(३) वही, पृष्ठ ४८

(४) श्रेडर, पृष्ठ ४१

प्राप्त है, परन्तु यह सब अप्राकृत और विकार रहित है।[१] यह 'परम व्योम' विष्णु की तीन चौथाई शक्ति से रचित है। यह 'परम व्योम' ब्रह्माण्ड से परे है, ब्रह्माण्ड के स्वर्ग अनेक हैं जो विष्णु की एक चौथाई शक्ति से बनते हैं। परमव्योम या वैकुंठ में पदार्थ एवं मुक्त प्राणी दोनों रहते हैं, परन्तु जिस भूततत्त्व से वैकुंठ के पुष्प, माला, चंदन, मोती, जवाहर, वस्त्रादि की रचना होती है, वह भूततत्त्व 'अप्राकृत' है, यह विशेषता है। इस 'परमव्योम' में वासुदेव, व्यूह, अवतार और मुक्त जीव नित्य के आनन्द, क्रीड़ा और सुखभोग में तल्लीन रहते हैं।[२]

इस परम व्योम में मुक्त जीव लक्ष्मी मुक्त भगवान के दर्शन का लाभ उठाते हैं। भगवान का षड्गुणधारी अप्राकृत रूप केवल मुक्तों को ही सुलभ है। वैकुंठ भगवान का नित्य विहार का स्थल है। महाप्रलय का भी इस परम व्योम पर कुछ प्रभाव नहीं होता। वैकुंठलीला अपतिहृत रूप से, सृष्टि एवं लय से अप्रभावित होकर चलती रहती है।[3] यद्यपि 'प्रकाश संहिता' के अनुसार यह 'परमव्योम' भी महाप्रलय के समय ब्रह्मा में लय हो जाता है[४] वासुदेव परम व्योमवासी कौस्तुभ, श्रीवत्स, गदा, शंख, धनुष, असि, असिकोष, चक्र, बाण, हार आदि आभूषण धारण करते हैं।[६] तांत्रिकों की तरह इन आभूषणों के पारमार्थिक अर्थ भी दिये गए हैं जिनसे लगता है कि 'परमव्योम' का वर्णन भी उच्चतम सत्ता की प्राप्ति के लिए एक प्रेरणा के रूप में ही गृहीत हुआ है—

कौस्तुभ—आत्मा	चक्र—मन
श्रीवत्स—प्रकृति	बाण—इन्द्रियाँ

---

(१) शुद्धा पूर्वोदिता सृष्टिर्या सा व्यूहादिभेदिनी।
सुदर्शनाख्यात्संकल्पात्तस्या एव प्रभोज्ज्वला।
ज्ञानानन्दमया स्याना देशभावं व्रजत्युत।
स देशः परमं व्योम निर्मलं पुरुशात्परम्
तत्रानन्दमयभोगा लोकाश्चानन्दलक्षणः
ज्ञानानन्दमया देहा, मुक्तानां भावितात्मनाम्—

अहि०, जिल्द १ पृष्ठ ५२-५३

(2) Introduction to Panchratra—Page 50-52

(३) वही, पृष्ठ ५०

(४) वही, पृष्ठ ५०

गदा—महत् हार—तत्त्व

शंख—सात्त्विक अहंकार असि —ज्ञाप

असिकोष—अज्ञान

इस परमव्योम या बैकुंठ में स्थित वासुदेव को व्यूह-वासुदेव से अलग करने के लिए 'परवासुदेव' कहा गया है।[1] शैव भी सर्वातीत तत्त्व को 'परमशिव' कहते हैं। व्यूहवासुदेव (शैवों का 'शिव') परवासुदेव से ही उत्पन्न होता है। यह 'परवासुदेव' परमव्योम में कभी 'लक्ष्मी' के साथ और कभी कभी-तीन और आठ शक्तियों के साथ विहार करता है। इनमें श्री, भूमि और नीला जैसी देवियाँ हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता में कहा गया है कि परवासुदेव के साथ-साथ अन्य देवताओं तथा शक्तियों की उपासना भी करनी चाहिए इनके अस्त्र, शस्त्र, वेष-भूषादि का ध्यान और मंत्र-साधना का विधान भी मिलता है।[2] सीतोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि श्री, भूमि एवं नीला, इच्छा, क्रिया तथा साक्षात् शक्ति के साथ सम्बद्ध की गई हैं।[3] उसी प्रकार शैवों एवं शाक्तों ने इच्छा, क्रिया, ज्ञान को शक्ति ही रूप स्वीकार किया है। श्री को सौभाग्य, भूमि को प्रभाव तथा नीला को सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि प्रतीक भी माना गया है। 'श्री' शक्ति के तीन रूप बताये गए है I योग II भोग III वीर शक्ति, इनका क्रमशः योग, गार्हस्थिक तथा मंदिर-पूजा से सम्बंध स्थापित किया गया है।[4] अतः 'परमव्योम' का सम्बंध केवल ब्रह्माण्ड के बाहर स्थित कल्पित स्वर्ग से ही नहीं है, अपितु वह आंतरिक एवं बाह्यसाधना का भी 'परमव्योम' में वर्णित आठ शक्तियों में कीर्त्ति, श्री, विजया, श्रद्धा, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा की गणना की गई है।[4] स्पष्ट है कि ये

---

(1) An Introduction to Panchratra—Page-53

(२) तथाऽस्य परिवाराणां देवानां शक्तियोषिताम्।
मन्त्राणामस्त्रशस्त्राणां स्वैः स्वैर्नामभिरर्चनम्। अहि० संहिता, जिल्द १, पृष्ठ २६८

(3) An Introduction to Panchratra Page 54

(४) वही, पृष्ठ ५५

देवियाँ पिण्ड-स्थित भी हैं और स्वर्गस्थित भी अतः स्वर्ग भीतर भी है और बाहर भी।[1]

इस 'परमव्योम' में जो जीव रहते हैं उनका भी विभाजन किया गया है। नित्य या सूरि जीव परवासुदेव द्वारा आदेशित कुछ विशेष कार्य करते हैं। इनके कार्य रहस्यमय हैं, चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र आदि ऐसे ही नित्य जीव हैं। इनमें वासुदेव के 'पारिषद' भी हैं यथा 'अनन्त' (सर्पराज) भगवान की शैया का काम करते हैं और 'गरुड़' वाहन हैं। ये 'नित्य' जीव इच्छानुसार अवतार भी धारण कर सकते हैं।[2]

नित्य जीवों से कुछ हीनतर जीव 'मुक्त जीव' कहलाते हैं जो 'त्रसरेणु' के आकार के हैं। इनका शरीर आध्यात्मिक है, ये सूक्ष्म शरीर धारण कर सकते हैं और जगत में विचार सकते हैं, परन्तु जगत के विधान में हस्तक्षेप नहीं कर सकते जैसा कि 'नित्य-जीव' करते हैं। वासुदेव की सेवा एवं क्रीड़ा में ये जीवभाग ले सकते हैं।[3] पांचरात्रों ने 'परमयोम' की कल्पना द्वारा जीवों को आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यधिक प्रेरित किया है। शैवों ने 'कैलाश' की कल्पना भी इसी प्रकार की थी।

आगे चलकर रामानुजीय वैष्णवों ने ज्ञानी जीवों की केवलावस्था के वर्णन में बताया है कि भक्ति द्वारा जो वासुदेव की उपासना करते हैं उन्हें 'परमव्योम' प्राप्त सोता है, परन्तु जो 'आत्मस्वरूप' पर विचार करते हैं वे ब्रह्माण्ड एवं स्वर्ग के बाहर कहीं किसी कोने में उस स्त्री के समान पड़े रहते हैं जिसका पति खो गया है[4] इस प्रकार भक्तों का महत्त्व ज्ञानियों से कहीं अधिक है, इस पर वैष्णवों ने हमेश जोर दिया है।

---

(१) सात्त्वत संहिता में लक्ष्मी, पुष्टि, दया, निद्रा, क्षमा, कांति, सरस्वती, धृति, मैत्री, रति, तुष्टि तथा मति ये बारह शक्तियों के नाम है— An Introduction to Panchrntra, Page 55

(२) वही, पृष्ठ ५७

(३) वही, पृष्ठ ५८

(4) An Introduction to Panchratra-Page. 58-59

शुद्धेतर सृष्टि

'भूतिशक्ति' का विकास आगे चलकर 'कूटस्थ' एवं 'माया शक्ति' के रूप में होता है। यह सृष्टि शुद्ध और अशुद्ध शक्तियों के मिश्रण से विकसित होती है।

कूटस्थ : भूति शक्ति के शुद्ध एवं अशुद्ध तत्त्वों से पुरुष या कूटस्थ की उत्पत्ति होती है। कूटस्थ या पुरुष को सभी आत्माओं की समष्टि कहा गया है। यह कूटस्थ अनादिवासना से कुंठित रहता है,[1] अतः 'कूटस्थ' से ही अनेक जीव उत्पन्न होते हैं, इन भिन्न-भिन्न व्यष्टि जीवों की समष्टि का नाम ही कूटस्थ या पुरुष है। पुरुष शुद्ध है, परन्तु वासना के कारण अशुद्ध भी होता है, व्यष्टि जीवों में भी यही विशेषता देखी जाती है। कूटस्थ या पुरुष प्रद्युम्न से उत्पन्न होता है। इसी कूटस्थ से चतुर्वर्ण,—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उत्पन्न होते हैं, 'ऋग्वेद' के पुरुषसूक्त को आधार बनाकर इन वर्णों की उत्पत्ति बतायी गई।[2] कूटस्थ की कल्पना में पाञ्चरात्रों ने अन्य तांत्रिकों की तरह यह ध्यान रखा है कि परमशिव या परवासुदेव के सर्वातीत रूप में बाधा न पड़े, अतः जीवों की समष्टि के रूप में 'कूटस्थ' की कल्पना की गई है। उपनिषदों के 'प्रजापति' से इस कूटस्थ का सादृश्य स्पष्ट है।

मायाशक्ति : इसे भगवत् शक्ति, मूलप्रकृति, शाश्वतविद्या या विद्या भी कहा गया है। यह भौतिक प्रकृति के पदार्थों का समष्टि रूप स्रोत है। पुरुष या कूटस्थ के साथ मायाशक्ति या मूलप्रकृति की उत्पत्ति होती है और इन दोनों के संयोग से भौतिक शरीर स्थित जीवों की उत्पत्ति होती है।

शक्ति से नियति एवं नियति से काल की उत्पत्ति होती है। काल से 'गुण' उत्पन्न होते हैं। नियति सूक्ष्म नियामक शक्ति है जो विष्णु के संकल्प (सुदर्शन) से

---

(१) सर्वात्मनां समष्टिर्या कोशो मधुकृतामिव।
शुद्धच शुद्धिमर्यो भावो, भूतेः स पुरुष, स्मृतः।
अनादिवासनारेणु कुण्ठित तैरात्मभिश्रितः—अहि० संहिता,
जिल्द १, पृष्ठ ५४

(२) वही, पृष्ठ ५०

उत्पन्न होती है । काल कलनात्मक शक्ति है कलना का अर्थ 'गणना' (Measure) काल पदार्थों का पाचन (Cooking) भी करता है ।[1]

काल से सत्त्व गुण, उससे रज और रण से तमस् की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार 'जीव' के भौतिक शरीर की रचना पूर्ण होती है ।

विद्या (माया) नियति एवं काल नामक शक्तियों का यह वर्णन शैवागमों से अद्‌भुत सादृश्य रखता है । शैवागमों में इन्हें 'कंचुक' कहा गया है । 'कंचुक' जीव की पूर्णता को सीमित करने वाली शक्तियाँ हैं । शैवागमों में कंचुकों की संख्या छह है—माया, कला, विद्या, राग, नियति और काल । श्री श्रेडर भी इस तथ्य से सहमत हैं कि आगे चलकर शैवों के आगमों में पाञ्चरात्रों के तीन कंचुकों या कोशों या 'संकोचों' का विस्तार किया गया है । मेरी मान्यता यह है कि कोशों को कल्पना तो उपनिषदों में भी है, और उपनिषदों के इसी 'कोश' सिद्धान्त से पाञ्चरात्रों तथा शैवों ने प्रेरणा ली है । पाञ्चरात्रमत में प्राप्त वैष्णवमत प्राचीन शैवागमों से अभिन्न मत है । किन्तु प्राचीन शैवागम हमें प्राप्त नहीं है पाञ्चरात्र आगम भी मिश्रित शैव-वैष्णव साधना का ग्रन्थ है और उत्पलाचार्य ने पाञ्चरात्र संहिताओं का अनेक बार चर्चा की है, उन्हें प्रामाणिक माना हैं ।[2] पाञ्चरात्रों की 'नियति' को नियामक माना गया है जो जीवों की प्रत्येक क्रिया, इच्छा और ज्ञान का नियामक है । शैवागमों की विद्या, राग तथा कला के कार्य भी पाञ्चरात्र केवल 'नियति' शक्ति द्वारा कराते हैं । अतः वह 'सर्वनियामक' कही गई है । 'काल' का कार्य 'कलन' है, जो शैवागमों से सादृश्य रखता है । काल प्रत्येक पदार्थ एवं जीव का परिपक्वता के लिए प्रेरित करता है, काल में ही सबको परिपक्वता प्राप्त

(१) कालस्य नियतिर्नाम सूक्ष्मः सर्वनियामकः ।
उदेति प्रथमं शाक्तेर्विष्णु संकल्पचोदितः
कालस्य पाचनं रूपं यत्रु तत्कलनात्मकम्
उदेति नियतेः सोऽथ कालः संकल्पचोदितः

अहि० संहिता, जिल्द १, पृष्ठ ५७

(२) द्रष्टव्य-स्पन्द-प्रदीपिका-उत्पलाचार्य (कश्मीर—१०वीं शताब्दी में) इसमें जयाख्य, हंसपारमेश्वर, वैभाष्य, पारमेश्वर संहिताओं की चर्चा मिलती है—Introduction to Panchratra, Page--18

होती हैं, तट में सरिताधारा के तुल्य काल में ही यह जगती का प्रवाह चल रहा है।[1]

काल के दो रूप हैं I जिसे हम 'काल' (Time) कहते हैं, भूत, भविष्य, वर्तमान इत्यादि, यह काल का स्थूलरूप है II सूक्ष्मकाल, यह काल स्थूल काल की प्रभावित करता रहता है।

प्रथम काल 'कार्यकाल' है और द्वितीय 'अखण्डकाल' है, सूक्ष्म है। एक तृतीयकाल और है जो शुद्ध सृष्टि में स्थित है, वह 'पर' काल है। यह 'परकाल' व्यूहों की चेष्टा में प्रकट होता है[2] परवासुदेव काल से अतीत तत्त्व है।

अशुद्ध सृष्टि : अशुद्ध सृष्टि के विकास में पाञ्चरात्र सांख्य से सहायता लेता है सांख्य पुरुष एवं प्रकृति से सृष्टि कार्य प्रारम्भ करता है जबकि पाञ्चरात्र पुरुष, (कूटस्थ) प्रकृति तथा काल तीन शक्तियों को स्वीकार करता है। प्रकृति एवं पुरुष का सम्बंध सांख्य के अनुसार 'परिणामवाद' के अनुसार वर्णित है, दूध से दधि का विकास जिस प्रकार होता है, वैसे मूल प्रकृति से पदार्थों का विकास होता है। पुरुष के सम्पर्क से ही प्रकृति (चुम्बक-लौह न्याय) कार्य करती है। परन्तु पुरुष एवं प्रकृति दोनों का काल शक्ति द्वारा पाचन होता रहता।[3] पाञ्चरात्र इसी 'कालशक्ति' द्वारा प्रकृति एवं पुरुष की स्वतंत्रता तथा शाश्वतता को सीमित करता है और परम-तत्त्व के संकल्प (इच्छा) को अधिक महत्त्व देता है। दूसरे सांख्य जहाँ अनेक पुरुषों की सत्ता स्वीकार करता है, वहीं पाञ्चरात्र केवल एक 'कूटस्थ' की सत्ता मानता है जो अनेक जीवों की उत्पत्ति का स्रोत है। द्वैत और अद्वैत दोनों की रक्षा का यही पाञ्चरात्रीय प्रयत्न है।

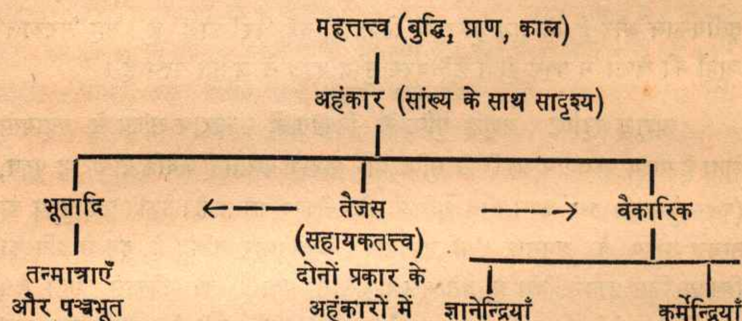
---

(१) कल्यत्यखिलं काल्मं (कार्यम्) नदीमूलं यथा रयः—अहि० संहिता, जिल्द १, पृष्ठ ५७

(२) स्थूलो लवादिमान्यकालः सूक्ष्मस्तत्त्वनिरूपकः।
व्यूहानां चेष्टितव्यापी परः कालो निरूप्यते—अहि० संहिता, जिल्द २, पृष्ठ ५५५

(३) पयोमृदादिवत्तत्र प्रकृतिः परिणामिनी।
पुमानपरिणामी सन् संनिधानेन कारणम्
कालः पचति तत्त्वे द्वे प्रकृति 'पुरुषं' च ह—अहि० संहिता, जिल्द १ पृष्ठ ६१

उपर्युक्त तीन शक्तियों पुरुष, प्रकृति एवं काल के संयोग से 'महत्तत्त्व' (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। इसे भी 'देवी' के रूप में स्वीकार किया गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता में इसके अन्य नाम हैं—विद्या, गो, अवनि, ब्राह्मी, वधू, वृद्धि, मति, मधु, अख्याति, ईश्वर तथा प्राज्ञ[1]। सांख्य में बुद्धि तथा महत् एक ही तत्त्व है, जबकि पाञ्चरात्र में महत् के सात्त्विक रूप का नाम 'बुद्धि' है। पाञ्चरात्र में 'महत्' के तीन रूप है—बुद्धि, प्राण एवं काल। इसके पश्चात् सृष्टि क्रम इस प्रकार है—



इस प्रकार पदार्थों से निर्मित भौतिक शरीर में मनु (चेतना) का अवतरण या पठन होता है। आदम और ईव की तरह ही पाञ्चरात्र में ज्ञान से रहित जीव बन्धन ग्रस्त होता है। चूंकि इस पतन या बन्धन में 'परवासुदेव' की इच्छा या संकल्प ही कारण है, अतः भगवान पर निर्भर रहकर उसकी कृपा से ही उद्धार सम्भव है।

सृष्टि और लय : ब्रह्माण्ड (Cosmic egg) के दिवस के प्रारम्भ में पदार्थों की सृष्टि उक्त क्रम से होती है। ब्रह्माण्ड का देवता ब्रह्मा का निसक है। ब्रह्माण्ड का एक दिवस चार करोड़ बत्तीस लाख मानुषी वर्षों के बराबर होता है। तब इसके पश्चात् ब्रह्मा की रात्रि प्रारम्भ होती है जिसमें सब रूप नष्ट हो जाते हैं। परन्तु पञ्चभूत एवं ब्रह्माण्ड अवशिष्ट रहते हैं। यह 'अवान्तर' प्रलय है। अनेक अवान्तर या नैमित्तिक प्रलयों के पश्चात् ब्रह्मा की आयु समाप्त हो जाती है और तब महाप्रलय होती है। इसमें पञ्चभूत, तथा ब्रह्माण्ड भी लय हो जाता है। महाप्रलय की रात्रि भी ब्रह्मा की पूरी आयु के बराबर होती हैं। तब पुनः 'पुरुष'

(१) अहिर्बुध्न्य संहिता—जिल्द १, पृष्ठ ६१

(2) Introduction to Panchratra, Page 72-73

ब्रह्मा द्वारा सृष्टि कराता है। लय का क्रम इस प्रकार है : पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु में,वायु आकाश में, आकाश अहंकार बुद्धि में, बुद्धितमसि में, तम रज में, रज सत्व में, सत्त्व गुण काल में, काल नियति में, नियति शक्ति में, शक्ति कूटस्थ में, कूटस्थ अनिरुद्ध में, अनिरुद्ध प्रद्युम्न में, प्रद्युम्न संकर्षण में, और, संकर्षण वासुदेव में लय हो जाता है।[1] केवल 'शक्ति युक्त वासुदेव, शेष रहते हैं इन्हीं शक्ति एवं शक्तिमान से पुनः सृष्टि होती है।

इस प्रकार अन्य शक्तिवादी शास्त्रों—शैवागमों तथा शाक्ततंत्रों की तरह, वाह्य विभाजन भेदों को छोड़कर, एक ही 'शक्ति-सिद्धान्त' पर पाञ्चरात्र-दर्शन प्रतिष्ठापित है। साधना में भी यह 'शक्तिवाद' ही स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य का विवर्त्तवाद 'माया' को 'आवरण-विक्षेपमय' मानता है और यह नहीं सिद्ध कर पाता कि 'माया' की स्थिति ब्रह्म के साथ क्या है, अथवा 'माया' को ब्रह्म आवरण के रूप में क्यों स्वीकार करता हैं? किन्तु पाञ्चरात्र क्रीड़ा या लीला का सिद्धान्त स्वीकार करता है—

लीला के आनन्द के लिए ही ब्रह्म अपनी शक्ति से अपने अंश रूप में 'जीव' की और दूसरे अंश से प्रकृति की रचना करता है और साथ ही यह सारा कार्य शक्ति द्वारा होने पर यह वस्तुतः 'तटस्थ' रहता है, इस प्रकार भेद और अभेद दोनों की रक्षा हो जाती हैं। माया को शंकराचार्य शक्ति नहीं मानते, किन्तु पाञ्चरात्री, शैव एवं शाक्त सभी 'शक्ति' के रूप में स्वीकार करते हैं। परिणामतः शक्तिवादी जड़जगत् को भी शक्ति के ही एक रूप में स्वीकार करते हैं जबकि शंकराचार्य जगत की केवल प्रतिभासिक सत्ता मानते हैं। पाञ्चरात्रों, शैवों एवं शाक्तों में दार्शनिक दृष्टि से आधारभूत एकता है; यह स्पष्ट है।

साधना : साधना के पूर्व जीव ब्रह्मा का सम्बंध जानना आवश्यक है। ब्रह्म-(पर वासुदेव) की सृष्टि, रक्षा एवं नाश इन तीन शक्तियों के अतिरिक्त दो शक्तियाँ और हैं—निग्रह और अनुग्रह। निग्रह शक्ति से ब्रह्म क्रीड़ार्थ अपने अंश को (जीव) बन्धन में बांधता है और अनुग्रह शक्ति से मुक्त कर देता है। अपनी शक्ति द्वारा 'जीव' को बंधन ग्रस्त करना और मुक्त कर देने के इस सिद्धान्त पर शैव प्रभाव है।[2] जीव को जो पाञ्चरात्र में 'अणु' कहा गया है, उसका अर्थ है कि

---

(१) अहिर्बुध्न्य संहिता, जिल्द १, पृष्ठ २८ से ३८ तक

(२) Introduction to Panchratra, Page 90

जीव ब्रह्म के सर्वव्यापकता सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों में उसके समान नहीं है जीव साधना द्वारा मुक्तावस्था को प्राप्त करता है तब वह परवासुदेव के साथ अभिन्न हो जाता है, परन्तु यह स्मरणीय है कि इस एकता में भी जीव का व्यक्तित्व सुरक्षित रहता है। पाञ्चरात्र मत की यह विशेषता है, परन्तु आगे के शैव, शाक्त पाञ्चरात्र या भागवत मत के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं, वे पूर्ण अद्वैत अर्थात् ब्रह्म के साथ पूर्ण अभेद चाहते हैं। 'अणु' रूप जीव को पूर्ण विभुता की प्राप्ति कराना ही साधना का लक्ष्य है, परन्तु 'विभुता' के अर्थ में भिन्नता है। पाञ्चरात्र 'विभु' का अर्थ यह लेते हैं कि जीव मुक्त हो जाने के पश्चात् 'अणुता' के स्थान पर विभुता प्राप्त कर लेने पर भी 'परवासुदेव' के समान 'पूर्णविभु' नहीं हो सकता।

जीव की अणुता का कारण है भगवान की निग्रह शक्ति। यह शक्ति ईश्वरीय गुणों का तिरोधान करती है। आकार के तिरोधान से 'अणुत्व', ऐश्वर्य के तिरोधान से अकिंचित्करता है और विज्ञान के संकोत्र से 'अज्ञता' प्राप्त होती है। भगवान की इस तिरोधान शक्ति से अत्ति जीवगणों को देखकर भगवान में 'अनुग्रह शक्ति' जागृत हो जाती है।[1] और इस अनुग्रह शक्ति से अणुत्व, अकिंचित्करता: तथा अज्ञान का नाश करने के लिए जीव उन्मुख होता है। भगवान की 'अनुग्रह शक्तिपात' के बिना जीव अनादि वासना से जन्म-मरण के बन्धन (तिरोधान-परंपरा) से मुक्त नहीं हो सकता।[2] विष्णु का जिस जीव पर

---

(१) एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणों स्वकर्मभि:

जीवे दु:खा कुले विष्णो: कृपा काऽप्युपजायते।—अहिर्बुध्न्य जिल्द १ पृष्ठ १२६

विष्णु की 'कृपा' का सिद्धान्त बौद्ध 'अवलोकितेश्वर' की करुणा से अद्भुत सादृश्य रखता है।

(२) 'शक्तिपात' का यह सिद्धान्त शैवागमों से अद्भुत सादृश्य रखता है। पाञ्चरात्र पर शैव शक्तिपात सिद्धान्त का प्रभाव स्वीकार करते हैं—श्रेडरमहोदय भी। Introduction to Panchratra, Page 115

'करुणा' उत्पन्न हो जाती है, उस पर उनका 'शक्तिपात' होता है।[1] शक्तिपात ही जीव को इस संसार से पार उतारता है।[2]

शक्तिपात की पहिचान यह है कि इसके पश्चात् जीव 'मोक्षसमीक्षा' से युक्त हो जाता है। वह वैराग्य में प्रवर्तमान तथा विवेक में अभिनिवेश प्राप्त करता है[3] वह सांख्य, योग तथा उग्रव्रत (पाशुपत मत) धारण करता हुआ क्रमशः अन्त में वैष्णवतमत की ओर अग्रसर होता है और अनाविल वैष्णवपद को प्राप्त होता है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य है, दुःखसंतति से आत्यन्तिकी मुक्ति प्राप्त करना और आत्यन्तिक आनन्द प्राप्त करना[4] आनन्द या नित्य सुख भगवन्मयता प्राप्ति से ही सम्भव है, अर्थात् ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति से ही जीव नित्य सुख का अधिकारी बनता है।[5] इस भगवन्मयता को 'ज्ञान' और 'धर्म' से प्राप्त किया जा सकता है। इनमें भी धर्म प्रथम सोपान है।

ज्ञान के दो प्रकार हैं—(१) साक्षात्कारमय ज्ञान (२) परोक्ष ज्ञान[6] परोक्ष-ज्ञान साक्षात्कारमय ज्ञान का सोपान मात्र है। धर्म के भी दो प्रकार हैं—

(१) व्यवधान धर्म (२) साक्षात् आराधना धर्म। व्यवधानधर्म में वासुदेव के किसी प्रतिनिधि देवता या अवतार की आराधना की जाती है यथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि किसी देवता की आराधना। साक्षात् आराधना का तात्पर्य है 'वासुदेव' उपासना। इसमें अन्य देवताओं की उपासना नहीं की जाती। पांचरात्र उपासना साक्षात् उपासना है जब कि वैदिक एवं पाशुपत उपासना व्यवधान

---

(१) शक्तिपात, शक्तिपाक तथा शक्तिभाव ये तीन पाठ अहिर्बुध्न्य संहिता में मिलते हैं—अहि० जिल्द १, पृष्ठ १२७

(२) शक्तिपाकः स वै जीवमुत्तारयति संसृते—वही, पृष्ठ १२७

(३) तत्पातानन्तरं जन्तुर्युक्तो मोक्षसमीक्षया।
प्रवर्तमानवैराग्यो विवेकेऽभिनिवेशवान्—वही, पृष्ठ १२७

(४) आत्यन्तिकी निवृत्तिस्तु पुंसो या दुःखसंततेः।
तयोपलक्षितं नित्यं सुखं यत्तद्धितं स्मृतम्—अहि० जिल्द १, पृष्ठ ११५

(५) वही, पृष्ठ, ११६

(६) अहि० जिल्द पृष्ठ ११६

उपासना है।[१] इसी प्रकार सांख्य परोक्ष (Indirect) ज्ञान है और 'वेदान्त' साक्षात्कारमय ज्ञान है।[२] 'योग' भी पाञ्चरात्र साक्षात्कारमय ज्ञान के लिए सोपान के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। योग दो प्रकार का वर्णित है I निरोध योग II कर्मयोग। निरोध योग में चित्त वृत्ति का निरोध ध्येय है इसके भी वाह्य एवं आभ्यंतरिक दो भाग किये गए हैं। कर्मयोग में अनेक कर्मों तथा धार्मिक क्रियाओं को स्वीकार किया गया है और इसके भी बाह्य एवं आभ्यंतर के दो भेद किए गये हैं।[3]

दीक्षा : साधना का अधिकारी कौन है, इस विषय में पाञ्चरात्र का मत वैदिक-मत से सादृश्य रखता है। पाञ्चरात्र सवर्णों को ही साधना का अधिकारी मानता है। शूद्र के लिए ब्राह्मणों की सेवा ही धर्म है।[४] वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण समर्थन पाञ्चरात्र संहिताओं में किया गया है। संन्यास-धर्म केवल ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के लिए है। संन्यासी निर्माण प्राप्त होता है, परमव्योम प्राप्त नहीं होता। निर्वाण का अर्थ है 'दीपज्योति के समान शान्त हो जाना'।[५]

पाञ्चरात्र मत के दीक्षागुरु को अन्य सभी गुणों के साथ योगस्वाध्याय तत्पर, तन्त्रान्तर विचक्षण, तन्त्र अंतरज्ञ, मंत्रज्ञ और यन्त्रविचक्षण भी कहा गया है। स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र गुरु कोरा भक्त नहीं, अपितु वह योगी तथा मंत्र-यंत्र विशेषज्ञ भी होता है।[६]

---

(१) वही, पृष्ठ ११७

(२) यहाँ वेदान्त का अर्थ 'वैष्णव अद्वैतवाद' है, न कि शंकराचार्य का मायावाद।

(३) नकुलीश पाशुपात भी योग के योग तथा कर्मयोग दो भेद करते हैं। कर्मयोग का अर्थ उनके अनुसार है ध्यान, मंत्र जाप आदि क्रियाएँ। लक्ष्मीतंत्र में योग के दो भेद किये गए हैं I संयम II समाधि।
Introduction to Panchratra, page 111

(४) शूद्रः शुश्रूषया तेषां, भगवत्कर्मसाधनात्।
अरागरोषलोभः सञ्छनैर्याति हरेः पदम्—अहि० जिल्द १, पृष्ठ १३०

(५) वही, पृष्ठ १४०

(६) वही, पृष्ठ १८४-१८५

शिष्य का 'द्विजाति' होना आवश्यक है। उसे ब्रह्मचर्य व्रतधारी, जगत के अंगारों के मध्य अपने कर्मों के दाह से दुःखी शिष्य 'मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ' ऐसी वृत्ति रखने वाला शिष्य ही पाञ्चरात्र मत का अधिकारी है[1] 'शरणागति के सिद्धान्त पर यहाँ विशेष बल दिया गया है।

दीक्षाक्रय : शिष्य को शपथ लेनी पड़ती है कि पाञ्चरात्र शास्त्र के रहस्य को वह गुप्त रखेगा।[2] अन्य तांत्रिकों की तरह प्रथम अंगन्यास किया जाता है। 'मातृका' एवं मंत्रोच्चारण द्वारा शिष्य के विभिन्न अंगों पर स्वर व्यंजनों तथा देवताओं की प्रतिष्ठा की जाती है।[3] पुनः 'सुदर्शनमंत्र' दिया जाता है। इस मंत्र के तीन ऋषि हैं। मंत्र के परारूप के ऋषि हैं परमात्मा, सूक्ष्म रूप के संकर्षण और मंत्र के स्थूल रूप के ऋषि हैं अहिर्बुध्न्य अर्थात् तांत्रिकों की ताह पाञ्चरात्र आभ्यंतरिक अर्थ पर सर्वत्र बल देता है। 'शरीर' के भी मंत्र की तरह तीन रूप बताये गए हैं; प्रत्यक्ष (Gross body) पुर्यष्टक या सूक्ष्म तथा आणव (Atomic)[4]।

मंत्रदीक्षा के समय इस बात पर बल दिया गया है कि मंत्र का प्रयोग क्षुद्र कार्यों के लिए न किया जाय। मंत्र का प्रयोग लोकरक्षा, राज्यरक्षा आदि परोपकार के लिए किया जा सकता है, दूसरों के नाश के लिए नहीं।[5] पर्वत, नदी-तीर; विष्णुमंदिर, आश्रम, सिद्धालय या ग्राममंदिर साधना के स्थान हैं। एक लक्ष वार या अधिक वार जप करने से 'मंत्रनाथ' प्रसन्न होते हैं।[6]

योग : पाञ्चरात्र मत में योग-साधना पर भक्ति से अधिक बल दिया गया है। वस्तुतः भक्ति, योग के ही एक रूप में यहाँ स्वीकृत है। शैवों एवं शाक्तों के यहाँ भी भक्ति तथा योग दोनों को 'योग' ही माना गया है। परन्तु फिर भी पाञ्चरात्रमत

---

(१) संसाराङ्गार मध्यस्थः पच्यमानः स्वकर्मभिः।
भवन्तः शरणं प्राप्त उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः—वही, पृष्ठ १८५

(२) अहि० जिल्द १, पृष्ठ १८५

(३) वही, पृष्ठ १८५

(४) वही, पृष्ठ १८८

(५) वही, पृष्ठ १९१

(६) मन्मनाथः प्रसीदति—वही, पृष्ठ १९२

में भक्ति के लिए अधिक स्थान है। यहाँ 'योग' को 'आत्महविस्' (Self-sacrifice) कहा गया है। देवता को स्वकीय आत्म-समर्पण करना ही आत्म हविष्' है। यह 'आत्माहविष्' तभी सम्भव है जब जीव अपने को प्रकृति के आकर्षणों से मुक्त कर लेता है।[1] प्रकृति के बन्धनों से रहित जीव आत्महविषावस्था में सर्वज्ञ, सर्वभृत, ज्ञानरूप, विकार रहित, सर्वभूतस्थ, अक्षर अनासक्त और शान्त हो जाता है![2] अतः योग का अर्थ जीवात्मा तथा परमात्मा के संयोग का नाम है।[3] प्रत्येक क्षण परमात्मा के साथ एकता की अनुभूति का नाम ही 'योग' है। इस एकता की अनुभूति के बिना बाह्य क्रियाएँ फल नहीं देतीं, यह तात्पर्य 'जीव-परमात्मा के संयोग' पर से स्वतः स्फुरित होता है। इस योग के आठ अंग हैं जिनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान एवं समाधि को स्वीकार कर लिया गया है। समाधि की स्थिति से सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसका भी वर्णन मिलता है।[4]

जयाख्यसंहिता में भी साधक को 'योगी' कहा गया है। अंतिम सत्ता की प्राप्ति के दो उपाय हैं I समाधि द्वारा II मंत्रों पर ध्यान के द्वारा। योग के तीन प्रकार बताए गये हैं I प्राकृत II पौरुष III ऐश्वर्य। प्रथम में मूलप्रकृति का द्वितीय में पुरुष का और तृतीय में सिद्धि प्राप्त करने के लिए देवताओं का ध्यान किया जाता है। अन्यत्र सकल, निष्कल और विष्णु इन तीन योगों का उल्लेख है। शब्द, व्योम एवं सविग्रह यह एक और विभाजन मिलता है। सविग्रह योग में 'मूत्ति' पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। पुनः वह चक्र का ध्यान करता है, फिर क्रमशः लघु वस्तुओं का ध्यान करता है, इससे अंत में साधक का 'ब्रह्मरन्ध्र' खुल जाता है। निष्कल योग में साधक 'सूक्ष्म सत्ता' पर ध्यान केन्द्रित करता है। फलतः उसकी आत्मा का ब्रह्म के रूप में उसके लिए उद्घाटन हो जाता है। योग के

---

(१) यद्वा भगवते तस्मै स्वकीयात्मसमर्पणम्।
वियुक्तं प्रकृतेः शुद्धं, दद्यादात्महविः स्वयम्—अहि०, जिल्द २, पृष्ठ २६०

(२) वही, पृष्ठ २६०-२६१

(३) संयोगो योग इत्युक्तो, जीवात्मापरमात्मनोः।—वही, पृष्ठ २६२

(४) वही, पृष्ठ ३०८

तृतीय रूप में 'मंत्र' पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। योग प्रक्रिया द्वारा ब्रह्म-रंध्र भेद कर जीवात्मा अंत में 'वासुदेव' को प्राप्त करती है।[1]

परमसंहिता में 'योग' को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[2] योग में शांतचित्त से किसी वस्तु या देवता पर ध्यान एकाग्र किया जाता है, इस योग द्वारा अथवा सांसारिक कार्य करते हुए (कर्म योग) 'विष्णु' में चित्त को लय किये रहने से वासुदेव तत्व की प्राप्ति हो जाती है।

नाड़ी योग : ध्यान की एकाग्रता के लिए 'नाड़ीयोग' अनिवार्य है। पाञ्चरात्र के नाड़ीयोग में कुछ नवीनता प्राप्त होती है। नाड़ियों का केन्द्र 'नाभि-स्थल' है। इस 'नाभिचक्र' में १२ अर (spokes) हैं।[3] कुंडलिनी इस नाभिचक्र को आवृत किए हुये स्थित है। यह कुंडलिनी अष्ठमुख वाली है और सुषुम्ना नाड़ी का रन्ध्र बन्द किए हुए हैं।[4] नाभिचक्र केन्द्र में अलम्बुषा व सुषुम्ना नाड़ियों हैं, सुषुम्ना के पार्श्वों पर कुहू वरुणा; यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखिनी, गांधारी, इड़ा हस्तिजिह्वा, तथा विश्वोदरा ये बारह नाड़ियाँ स्थित हैं। इस प्रकार नाभिचक्र में कुल मिलाकर चौदह नाड़ियाँ हैं। ये मुख्य हैं, यों सारे शरीर में ७२००० नाड़ियाँ हैं जिस प्रकार मकड़ी जाल में रहती है उसी प्रकार प्राणशक्ति के साथ जीवात्मा इस नाभि-चक्र में भ्रमण करती है।[5]

इन नाड़ियों में अन्य तांत्रिकों की तरह इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना को ही मुख्य कहा गया हैं। इड़ा एवं पिंगला को चन्द्र तथा सूर्य नाड़ी भी गहा गया है।

अन्य तांत्रिकों में नाभिचक्र का ऐसा वर्णन नहीं मिलता। अन्यत्र कुंडलिनी का स्थान मूलाधार चक्र (लिंग एवं पायु के मध्य में स्थित) में बताया गया है यही पाञ्चरात्र तथा अन्य तांत्रिकों में अंतर है। नाड़ियों के नामों में भी अंतर स्पष्ट है।

---

(1) A History of Indian Philosophy Vol. III, page 30-31

(२) वही, पृष्ठ ३३

(३) तत्रैव नाभिचक्रं तु द्वादशारं प्रतिष्ठितम् ।
शरीरं ध्रियते येन, तस्मिन्वसति कुण्डली ॥ अहि० जिल्द २, पृष्ठ २९८

(४) वही, पृष्ठ २९९

(५) प्राणारूढो भवेज्जीवश्चक्रेऽस्मिन्भ्रमते सदा ।
अर्णनाभिर्यथा, तन्तुपञ्चरान्तर्व्यवस्थित:—वही, पृष्ठ ३०१

प्राणायाम द्वारा नाड़ी शोधन-विधि प्रायः पिष्ट पेष्टित है। ध्यान योग में अन्य तांत्रिक देवताओं की तरह विष्णु रूप का वर्णन किया गया है। यह रूप अद्‌भुत अधिक है, इसमें भयंकरता, मनोहरता, बल, वीर्य, ऐश्वर्य सभी का सम्मिलन है। आगे के वैष्णवधर्म में केवल 'मृदुल' रूप का विकास हुआ है। यहाँ विष्णु पिंगकेश, दंष्ट्राकरालवदन, भीमभृकुटिवान्, अष्टभुज, आयुधवान्, अभयप्रद रूप में ध्यान के विषय हैं।[१]

मंत्रयोग : यह कहा जा चुका है कि सृष्टि ब्रह्म की संकल्प शक्ति या सुदर्शन शक्ति का परिणाम है। 'सुदर्शन' का एक रूप 'क्रिया शक्ति' भी है। शक्ति 'स्पन्दतत्त्व' है, यह 'स्पन्दतत्त्व' ही जगत का आधार तत्त्व है, इसीलिए सुदर्शनतत्त्व को 'चलनचक्र' (Wheel of Motion) कहा गया है।[२] संकल्प का यह 'चलन' ही सर्वप्रथम 'नाद' के रूप में प्रकट होता है। 'नाद' एक दीर्घ घण्टाघोष के रूप में प्रकट होता है।[३] इसे केवल योगी ही सुन सकते हैं।

ब्रह्म की क्रियाशक्ति का प्रथम प्रकट रूप जो नाप है, वही 'बिन्दु' के रूप में प्रकट होता है। जिस प्रकार प्रशान्त समुद्र में प्रथम कुछ 'उन्मेष' (स्पन्दन) होता है और कुछ बुद्‌बुद के रूपों में वह उन्मेष लक्षित भी होता है, उसी प्रकार 'नाद' बिन्दु का रूपधारण करता है।[४] यह बिन्दु 'ओ३म्' में 'अनुस्वार' के समान प्रकट होता है। यह बिन्दु दो प्रकार का होता है। I शब्द ब्रह्म II भूति। 'भूति' की स्थिति में नाम का उदय हो जाता है और तब बिन्दु स्वर एवं व्यञ्जन के रूप में क्रमशः व्यक्त होता है।[५]

---

(१) अहि० जिल्द २, पृष्ठ ३०७

(२) चलत्तापूर्वरूपं यः संकल्पस्तत्र वर्तते।
चलनं नाम तच्चक्रं, सुदर्शनममं महत्—अहि० जिल्द १, पृष्ठ ८७

(३) उद्यन्ती सा क्रियाशक्तिर्भजते नादरूपताम्।
तं नादं परमं विद्धि दीर्घघण्टानदीपमम्—वही, पृष्ठ १४७

(४) स बुद्‌बुदवदम्भोधौ क्वचिदुन्मेषमृच्छति।
अनुद्रुतगतैः सोऽथ योगिभिर्बिन्दुरुच्यते—वही, पृष्ठ १४८

(५) सा हि बिन्दुमयी शक्तिः स्वेच्छयवा नामतां गता—वही, पृष्ठ १४८

स्वरों में 'अ' को शैवों की तरह ही 'अनुत्तर' कहा गया है। अ, इ, और उ और इनके संयोग से अन्य स्वर व्यक्त होते हैं। और पुन: व्यंजन व्यक्त होते हैं।

वर्णोदय की यह प्रक्रिया अत्र तांत्रिकों की तरह परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं बैखरी के रूपों में ही पाञ्चरात्र में वर्णित है।[1] भृङ्ग के निनाद के समान मूलाधार से नाभि और नाभि से हृदय देश के पश्चात् यह लक्ष्मीरूप नादशक्ति कंठदेश से वैखरी रूप में प्रकट होती है। अतएव प्रत्येक 'ध्वनि' मूलत: शक्ति का ही स्थूल है। पद, वाक्य, प्रमाणादि से युक्त यह शब्दशक्ति वैष्णवी शक्ति का ही रूपान्तर मात्र है, अत: इस 'मातृकादेवी' को मंत्रयोनि' कहा गया है।[2] विष्णु-संकल्प का बाह्य शरीर ही 'वर्णं' है। प्रत्येक वर्णं में स्थूल, सूक्ष्म एवं पर ये तीन विष्णुरूप अवस्थित हैं।

विष्णु शक्ति, रुद्र शक्ति एवं देवी की अलग-अलग आराधना के लिए वर्णों की योजना को भी विशेष रूप देना पड़ता है। यथा 'क' वर्ण से वैष्णवमंत्र-सिद्धि में कमल, कराल आदि और रौद्री शक्ति की सिद्धि के लिए क्रोधीश तथा देवी (शाक्त) की सिद्धि के लिए उसके दक्षिणहस्त के अंगुष्ठ के साथ 'क' की एकता स्थापित करनी पड़ती है।[3] शक्तियों की भिन्नता के कारण ही मंत्रों में भिन्नता है। साधक रुचि के अनुसार विष्णु, रुद्र या शक्ति जिसकी भी सिद्धि करना चाहता है, उस देवता विशेष के ही मंत्र विशेष का प्रयोग करता है। साधना में विशिष्ट मंत्रों के आग्रह का यही कारण है। यह सम्भव नहीं कि किसी देवता के मंत्र का प्रयोग किसी अन्य देवता के लिए किया जाय तो सफलता मिलेगी। पाञ्चरात्रों का 'मंत्रसिद्धान्त' एवं 'मंत्रसाधना' अन्य तांत्रिकों के साथ पूर्णं सादृश्य रखती है।

चक्र-साधना : पाञ्चरात्र मत में चक्र वाममार्गी चक्र-साधना स्वीकृत नहीं है यद्यपि उग्रसाधनाओं का वह खंडन नहीं करता। पाञ्चरात्री चक्रसाधना का अर्थं है 'सुदर्शनचक्र' का ध्यान और जप। जिस प्रकार वाममार्गी 'चक्र' को सारे ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधि मानते हैं वैसे ही पाञ्चरात्रमत में ब्रह्माण्ड को सुदर्शनचक्र-

---

(१) मूलाधारात्समुद्यन्ती सा शान्ता सा निरञ्जना—अहि०, जिल्द १ पृष्ठ १५१

(२) मन्त्रयोनिरियं देवी मातृकाऽधिष्ठिता सदा—वही, पृष्ठ १५८

(३) An Introduction to Panchratra, Page 120

मय माना गया है। इस चक्र के 'अरों' का विस्तृत और कवित्वपूर्ण वर्णन मिलता है, इस चक्र का ध्यान एवं मंत्र जप करने से शक्तियों वश में हो सकती हैं।[१]

रक्षा या यंत्र : तंत्रों की तरह पाञ्चरात्रमत में मंत्रस्थित देवताओं का ध्यान भी स्वीकृत है। मंत्रसाधना में 'ध्यान' की ही प्रभुता है। 'रक्षा' के दो प्रकार हैं I ज्योतिर्मयीरक्षा II मन्त्रमयी। प्रथम में अक्ष, नाभि, नेमि, तथा शक्तियों के रूपों की कल्पना की प्रधानता हैं और दूसरे में मंत्रों पर विशेष बल दिया गया है।[२] यंत्र-रचना में विष्णु के 'चक्र' की रचना का विस्तृत वर्णन किया गया है, इस चक्र को किसी वस्त्रादि पर अंकित करके पूजा की जाती है, इससे विघ्नों पर विषय, शत्रुनाश, बल, वीर्यादि की वृद्धि होती है। यंत्रसाधना में सुरक्षित है। मंत्र में जिस प्रकार के देवता का ध्यान किया जाता है, वैसा ही फल मिलताहै। मंत्रों के वितरण में 'द्विज' को ही सर्वाधिकार दे दिया गया है।[3]

यंत्रसाधना में देवता के वेष, भूषा, अस्त्र आदि का विस्तार है औण 'अथर्ववेद' की परंपरा में राजाओं द्वारा विजय-प्राप्ति, शत्रुनाश आदि अभिचारों का वर्णन है, परन्तु इनमें 'विजय' पर अधिक बल दिया गया है।[४] रोगों और उनके नाश के लिए 'अथर्ववेद' की ही तरह आध्यात्मिक उपाय वर्णित हैं। सारे रोगों का केवल एक उपाय 'महाभिषेक' बताया गया है। यह एक प्रकार का 'होम' है जो ८ पुरोहितों द्वारा ६ कुम्भों की स्थापना द्वारा होता है।[५] यंत्रसाधना में प्रयुक्त मंत्रों के लिए स्पष्ट कहा गया है कि वे 'अथर्ववेद' से लिए गए हैं :—

आथर्वणान्मया वेदान्महामन्त्र परिष्कृतात्।[६]

निष्कर्ष : (१) ऐतिहासिक दृष्टि से पाञ्चरात्रमत उपनिषत्-युग के अंत में विकसित हुआ है। पाञ्चरात्रमत के प्रारम्भ के पूर्व प्राचीन उपनिषदों— छांदोग्य, बृहदारण्यक आदि का निर्माण हो चुका था।

---

(१) अहिर्बुध्न्य संहिता—जिल्द १, पृष्ठ ७३–९५
(२) अहि० जिल्द १, पृष्ठ—१९३–२०४
(३) वही, पृष्ठ २२५
(४) अहि०—जिल्द १, पृष्ठ २५७—२७१ तथा जिल्द २, पृष्ठ ४१७
(५) अहि०—जिल्द २, पृष्ठ ३८६–३९१
(६) वही, पृष्ठ ४१६

(२) पाञ्चरात्रमत ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' तथा शतपथ ब्राह्मण के 'पाञ्चरात्रसत्र' से सम्बंध जोड़ता है।

(३) अथर्ववेद की परंपरा में विकसित योग का प्रभाव पांचरात्रमत पर पर्याप्त मात्रा में दिखायी पड़ता है।

(४) सांख्य के 'गुण-सिद्धान्त' ने पाञ्चरात्रों को प्रभावित किया है। किन्तु सांख्य का प्राचीन रूप ही पाञ्चरात्रमत में प्राप्त होता है, इससे इस मत की प्राचींनता पुष्ट होती है।

(५) 'पाञ्चरात्रमत' का शैव एवं शाक्त-साधना तथा दर्शन से घनिष्ट सबंन्ध हैं। विष्णु, शिव एवं शक्ति के सम्प्रदाय प्रारम्भ में किस प्रकार, वैदिकधर्म के समानान्तर विकसित हुए होंगे, यह तथ्य पाञ्चरात्रमत से स्पष्ट होता है।

(६) दार्शनिक दृष्टि से पाञ्चरात्रमत 'शक्तिवादी' है, मायावादी या विवर्त्तवादी नहीं। जगत,जीव एवं परब्रह्म की भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों ही यहाँ स्वीकृत हैं।

(७) शैवों का आभासवाद (त्रिक-दर्शन) इस मत में व्यूहवाद के रूप में स्वीकृत है। शुद्ध एवं अशुद्ध सृष्टि का शैव सिद्धान्त भी इस मत को ग्राह्य है, शैवों को कंचुक सिद्धान्त, पाञ्चरात्रों का मायाकोष या संकोच सिद्धान्त का ही पर्याय है। पुरुष एवं प्रकृति से परे चिन्मयसत्ता से शैव तथा पाञ्चरात्र दोनों सृष्टि का विकास दिखाते हैं।

(८) यद्यपि पाञ्चरात्रमत शैवों के समान भक्ति को स्वीकार करते हैं, तथापि मंत्र, यंत्र, मुद्रा, न्यास, भूतसिद्धि, कुंडलिनी योग मंदिर तथा मूर्त्ति का निर्माण (किया) चर्या, उत्सव एवं मायायोग (व्यावहारिक योग) यहाँ शैव-दर्शन की तरह स्वीकृत है।

(९) पाञ्चरात्रमत स्त्री एवं शूद्र के प्रति उतना उदार नहीं, जितना उदर शैवमत है। वर्णाश्रमधर्म पर पाञ्चरात्रमत अधिक बल देता है। 'वामाचार' के लिए इस मत में स्थान नहीं; परन्तु तंत्रों में वर्णित 'दक्षिणाचार' को स्वीकार करता है।

(१०) पाञ्चरात्र-मत के अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वैष्णवमत एव शैवमत मूलतः एक ही मत था, कालान्तर में ये पृथक-पृथक विकसित हुए। प्रारम्भिक वैष्णवमत 'दक्षिणाचारी तांत्रिकमत' है और वैदिक कर्मकाण्ड के समानान्तर विकसित हुआ है।

परवर्ती वैष्णवों तक पहुँचने वाले तत्त्व

(१) शक्तिवाद
(२) शक्तिपात् या अनुग्रह का सिद्धान्त।
(३) अवतारवाद या व्यूह उपासना।
(४) लीलावाद।
(५) भक्तिभाव पर सर्वाधिक बल।
(६) योग, ज्ञान एवं भक्ति का अविरोध।
(७) लक्ष्मी के स्थान पर राधा, सीता आदि की उपासना की वृद्धि।
(८) वैदिक कर्मकाण्ड, वर्णव्यवस्था की स्वीकृत, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में सभी वर्णों की स्वीकृत।
(९) नाम जप, गुरुभक्ति, देवताध्यान, मंत्र आदि।

शाक्त-मत

अयं तु परमः कौल मार्गः, सम्यङ् महेश्वरि
असिधाराव्रतसमो, मनोनिग्रहहेतुकः।
स्थिरचित्तस्य सुलभः, सफलस्तूर्णसिद्धिदः।

—परशुराम तंत्र

यही श्रेष्ठ कौल मार्ग है! इसकी साधना, तलवार पर चलने के समान दुष्कर है। यह साधना मन को वश में करने के लिए है। यह स्थिरचित्त वालों के लिए सुलभ और अस्थिर चित्रवालों के लिए दुर्लभ है। इसमें सफल होने पर शीघ्र ही सिद्धि मिलती है!

शाक्त-साधना का विकास

शक्तियों की उपासना आर्यों में सामान्य जनता से ग्रहण की गई है। शक्तियों की पूजा प्रगैतिकासिक काल में भी मिलती है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार करने वाले सभी विद्वान एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि तंत्रों में निम्न जनता के विश्वास ही गृहीत हुए हैं। डॉ० कोशाम्बी ने बताया है कि तांत्रिक क्रियाओं के रूप में प्राचीन फसल पक जाने पर किये जाने वाले आचारों को आर्यों ने स्वीकार किया था। कुछ रहस्यमय या जादू की क्रियाओं द्वारा बाह्य कठोर जीवन और जगत को अधिक अनुकूल बनाने की भावना से ही, जादू, नृत्य, चित्रकला, कविता एवं संगीत का उद्भव हुआ है[१] दार्शनिकों ने इन कियाओं की सैद्धान्तिक व्याख्या करके इनका आर्यीकरण कर लिया।

स्थानीय देवियों को आर्यों ने काली का रूप मानकर स्वीकार कर लिया हैं। जापान में स्त्रियाँ अब तक दाँत काले करती हैं[२] भारतवर्ष में भी इसका प्रचार है।

असम में 'त्रिपुरबाला' की पूजा के लिए एवं कुमारी की तलाश करते हैं पञ्चमकार का प्रयोग करते हैं, 'शबरोत्सव' कहलाता हैं[3] अर्थात् शबर जाति से यह शाक्त-पद्धति ग्रहण की गई है। बेनीकांत काकाती के अनुसार यह शबरोत्सव सम्भवत: विन्ध्याचल के प्रदेश से असम में प्रचलित हुआ, इसका तात्पर्य यह हुआ कि मध्य प्रदेश में भी यह मनाया जाता होगा।

योगिनीतंत्र के अनुसार यह शाक्तपूजा किरातों से ग्रहण की गई है[४]

---

(१) D. D. Koshambi : An Introduction to the study of Indian History, Bombay, 1956, page 23-48.

(२) The Mother goddess of Kamakhya—Beni Kant Kakati, Gohati, 1948, Page 4o.

(३) वही, पृष्ठ ४८

(४) वही, पृष्ठ ५०

निम्न जातियों के मुक्तयौन सम्बंध को स्वीकार कर आर्यों ने परवर्ती पुराणों में यह स्वेच्छाचार देवताओं में भी दिखाकर 'धार्मिक आज्ञा' स्वयमेव स्वीकार कर ली है। 'कालिका पुराण' में ब्रह्मा तथा उनकी पुत्री सन्ध्या वराह, पृथ्वी, कपोत-मुनि, तारावती, काकुस्थ, उर्वशी, शिव, सावित्री आदि के यौन सम्बंध के उदाहरण देकर कपोतमुनि द्वारा कहाया गया है "पुरातन काल में भरद्वाज ने विवाहिता पद्मा को जिस प्रकार भोगा था, उसी तरह मैं भी किसी की विवाहिता 'तारावती' को चाहता हूँ" [१]

असम में प्रचलित 'त्रिपुरासम्प्रदाय' को विद्वान दक्षिण से आया हुआ मानते हैं। क्योंकि उस सम्प्रदाय में कुमारी की पूजा होती है और कुमारी पूजन काञ्चीपुर में होता हैं, अतः इस अनुमान के पुष्ट आधार हैं। 'रुद्रशिव' के लेखक एन० वेंकटरमैया का भी यही विचार है। वेंकटरमैया के अनुसार केरल के त्रावनकोर में अब भी इसके अवशेष मिलते हैं। तमिल देश में नवयुवक विवाह के पूर्व अब भी कन्या का वेष धारण करते हैं। देवदासी प्रथा भी दक्षिणी है[२]

असम में हयग्रीव, मत्स्य, माधव, वाराह एवं वासुदेव के पीठ हैं। इनमें हयग्रीव के विषय श्री में बेनीकांत का मत है कि यह देवता भिन्न उत्पत्तिका है, वैष्णवों ने इसे शुद्ध कर लिया है, इसके साथ वामाचार संयुक्त है, भूटानी लोग इसे अब भी पूजते हैं[3] बेनीकांत जी का यह भी स्पष्ट मत है कि वैष्णवों की पाञ्चरात्र संहिताओं में सर्वप्रथम शाक्ततत्वों को स्वीकार किया गया था,[४] और ये शाक्ततत्व सामान्य जनता में प्रचलित थे। वैष्णवधर्म में मातृपूजा की छाया 'नायिका' के रूप में बराबर रही है[५]

दक्षिणी भारत के द्रविण धर्म को आर्यों ने उसी प्रकार समेट लिया है, जिस प्रकार अन्य प्रदेशों के विश्वासों और क्रियाओं को। फिर भी आर्यों में इस स्वीकृति के विरुद्ध कुछ न कुछ कहा जाता रहा है। अनार्य धर्मों को शिव के साथ सम्बद्ध कर

---

(१) बेनीकांत काकती—पृष्ठ ५१

(२) वही, अध्याय २ में विस्तृत वर्णन

(३) वही   (४) वही   (५) वही

दिया गया है। गणेश एवं हनूमान सम्भवत: टाटेम थे, बाद में इन्हें शिवपुत्र बना दिया गया। हनूमान को राम का सेवक बना दिया गया जो स्पष्ट ही सामंती प्रवृत्ति के अनुकूल था।

दक्षिणी भारत में सप्तमाताओं की पूजा प्रचलित है। इन देवियों का रूप आर्यों द्वारा स्वीकृत शास्त्रीय शाक्तमत से पर्याप्त सादृश्य रखता है—ये देवियाँ कष्ट देकर अपनी पूजा के लिए विवश कर देती हैं [1] पोलरेम्मा देवी तेलगू प्रदेश में चेचक की देवी है। यह अन्य कष्ट भी देती है।

देवी को भगाने का उपाय यह है कि नागफनी की पत्तियों को द्वार पर डालना चाहिए इसमें जादू की भावना यह है कि इन पत्तियों को देखकर देवी समझ लेगी कि यह जगह बस्ती रहित है। आर्मं-शाक्त-धर्म की पूजा-पद्धति में यह जादूमिश्रित आचार सर्वत्र मिलता है।

इन देवियों की प्रसन्नता के लिए दक्षिण में 'जात्रा' निकाली जाती है, देवी की मूर्ति का उत्सव मनाया जाता है। इसमें बलि भी होती है।

शिवचन्द बोस ने शाक्त पूजा में अनेक भयंकर कृत्यों का उल्लेख किया है।[2] इन कृत्यों को द्रविड़ादि जातियों से ही लिया गया है। द्रविड़ साधक भी देवियों को 'पार्वती' का अवतार मानते हैं; तंत्रों में यही विश्वास दुहराया जाता है। [3]

शाक्त-शैव धर्म से सम्बंद्ध कथाओं में भी द्रविड़ तत्व मिलते हैं [4] द्रविड़ों में नारी मानवी और दैवी—दोनों रूपों में प्रभावशालिनी एवं प्रबल है। उसके प्रेम तथा शाप अब भी पुरुषों पर प्रभाव डालने वाले माने जाते हैं, जब मृत्यु के बाद वह प्रेत बनती है तब तो प्रलय ही कर देती है [5]

---

(१) इनके नाम ये है; Poleramma, Ankamma, Muthyalamma, Dilli Polasi, Bangaramma, Mathamma, Renuka.—Dravidian Gods in Modern Hinduism—

W. Theodore Elmore Madras 1925 Page 11

(२) वही, पृष्ठ ३७ (३) वही (४) वही,

(५), वही, अध्याय—द्रविड़ प्रेत पूजा

वृक्षों, नदी, नालों, झीलों, पर्वतों या अन्य किसी वस्तु की पूजा अब तक आर्य नारियों में प्रचलित है, यह पूजा भी अधिकांशतः अनार्यों से ग्रहण की गई है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्यों में सभी अंधविश्वास अनार्यों से ही आया है, परन्तु उनके अंधविश्वास के स्वरूप ने आर्य-अंधविश्वास को दूर तक प्रभावित किया है, यह भी सत्य है।

ईसा की छट्ठी शताब्दी तक यह आदान उस सीमा तक पहुँच चुका था जबकि उसने ब्राह्मण धर्म-साहित्य, दर्शन, कला आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था।

यह प्रभाव केवल ब्राह्मण धर्म पर ही नहीं पड़ा, उसने बौद्ध एवं जैन सम्प्रदायों को भी प्रावित किया; फलतः व्रज्रयान शैव, तथा वैष्णव साधना का शास्त्रीय रूप जनता के सामान्य धर्म से अलग करके नहीं समझा जा सकता।

शाक्त-दर्शन और साधना

फर्कुंहर ने ५०० ई० से ६०० ई०त क के युग को 'शाक्त-युग' कहा है[1] और यह नामकरण प्रमाणों से पुष्ट होता है। इसी युग में शाक्त दर्शन और साधना का रूप निश्चित होता है और उसका अन्य साधनाओं पर व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी युग में फर्कुंहर के अनुसार 'चण्डीमाहात्म्य' लिखा गया[2] आगे बाणभट्ट ने 'चण्डी शतक' लिखा। फिर तो शात्त्य-प्रभाव बढ़ता ही जाता है, । इसी युग में बौद्धमत शैवागमों एवं पुराणों में शाक्त प्रभाव का विपुल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, अतः उपर्युक्त 'युग' को हम शाक्त युग कह सकते हैं।

फर्कुंहर ने इस युग की निम्नविशेषताएँ बताई हैं—

१. देवी या शक्ति की महात्म्य-वृद्धि
२. मंत्र-प्रयोग-वृद्धि
३. कुंडलिनीयोग में विश्वास-वृद्धि
४. पाञ्चमकारोपासना की प्रभाव-वृद्धि

---

(1) The Religious Quest of India—J. N. Farquher, Page 167.

(2) Ibid—Page 190.

शाक्तों में अनेक सम्प्रदाय हैं, प्रत्येक एक-एक उपनिषद् एक-एक क्रिया-शिक्षा की पुस्तक (Manuals) को लेकर प्रचार करता है, प्रत्येक में गुरु तथा दीक्षा का अमित माहात्म्य माना जाता है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना अलग मंत्र है।

शाक्तों के धर्मग्रन्थ हैं, 'तंत्र'। इन तंत्र का निर्माण शाक्तयुग में ही अधिक हुआ है, यद्यपि 'गुह्य सम्प्रदाय के रूप में यह शाक्त सम्प्रदायों के विभिन्न रूप प्राचनीतम सम्प्रदायों में से हैं। तंत्रों की बहुत सी सामग्री पुराणों में भी पायी जाती है।

शाक्त तंत्रों के विषय में सब कुछ अनिश्चित है। फर्कुहर के अनुसार कुब्जिका तंत्र (७ वीं शताब्दी ?) परमेश्वरमततंत्र तथा महाकौल ज्ञान विनिर्णय तंत्र प्राचीन तंत्र माने जाते हैं। [1] कश्मीरी शैवदर्शन में शाक्तमत भी स्वीकृत हैं, अर्थात् कश्मीरी शैव शाक्त भी हैं और शैव भी। शाक्त दर्शन के विकास में कश्मीरी शैवों का ही मुख्य योगदान रहा है।

फर्कुहर के अनुसार ९०० से १३५० ई० के बीच 'यामल' साहित्य बहुत लिखा गया। ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, लक्ष्मीयामल, उमायामल, स्कन्दयामल, गणेशयामल आदि। इनमें देवता शक्तियों के साथ 'रति निमग्न' दिखाये गए हैं—बौद्धतंत्रों एवं शैवतंत्रों में भी इस युग में यही विशेषता दिखाई पड़ती है। इसी युग में 'कौल उपनिषद्' तथा 'परशुराम कल्पसूत्र' की रचना हुई है। परशुरामकल्पतंत्र कौलमार्ग का श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है।

त्रिपुरतापिनीय, त्रिपुरषट्चक्र, भावना तथा देवीउपनिषद् भी इसी युग की हैं। शारदातिलक मंत्रशास्त्र की दृष्टि से श्रेष्ठ तंत्र है, यह भी इसी युग का है।

इसी युग में दक्षिणपंथी शाक्तधर्म की ओर (पंचमकार का प्रयोग न करने वाले) प्रवृत्ति अधिक दिखायी पड़ती है। आज अधिकतर मंदिरों में दक्षिणपंथी शाक्त-धर्म का ही प्रभाव अधिक है। वैदिक आचारों की ओर उन्मुखता १३वीं शताब्दी के बाद बढ़ती जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि १३वीं शताब्दी के बाद शाक्तधर्म में सुधार होता जाता है, परंपरा कहती है कि शंकराचार्य ने वाममर्गा की जगह दक्षिणपंथी साधना प्रचलित की इससे भी उक्त सुधारवाद पुष्ट ही होता है। इस सुधारवाद के प्रवर्तक इसी युग में (१२६८ ई०–१३७९ ई०) सम्भवतः लक्ष्मीधर

(1) Ibid—Page (200–201)

या विद्यानाथ थे। लक्ष्मीधर ने सौन्दर्यलहरी की टीका में ६४ तंत्रों के नाम दिये हैं।[1] लक्ष्मीधर ने कौल, मिश्र तथा समय—इन तीन मार्गों का उल्लेख किया है।

समयमत के तंत्र 'शुद्धतंत्र' कहलाते हैं, इसमें केवल मुक्ति प्राप्ति का उपाय-वर्णन ही प्रमुख है। इस मत के आचार्यों के वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन तथा सनत्कुमार की गणना की जाती है।

कौलमार्ग वामाचारी तांत्रिक हैं, भोग के द्वारा मुक्तिप्राप्ति ही इनमें वर्णित है मिश्रमार्ग में भोग एवं मुक्ति दोनों का विधान है अर्थात् लौकिक सिद्धि तथा मुक्ति—दोनों पर बल देने वाले तंत्र मिश्रमार्गी हैं—इनमें चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कला-निधि, कुलाराधि, आदि अनेक आठ मार्ग हैं।

भिन्न-भिन्न आचार्यों के नाम से भी अनेक तंत्र मिलते हैं। उदाहरण के लिए परशुरामकल्परूप आचार्य दत्तात्रेय का तंत्र माना जाता है। अगस्त्य के 'शक्तिसूत्र'

---

(१) रामदास गौड़ ने आगम-तत्त्वविलास से ६४ तंत्रों के नाम दिये हैं—हिन्दुत्व—रामदास गौड़—पृष्ठ ४८५ गौड़ महाशय ने 'कुछ और तंत्र' शीर्षक से ८३ अन्य तंत्रों (६४ तंत्रों के अतिरिक्त) के नाम दिये हैं (पृष्ठ ४८५-४८६) 'महासिद्धि सारस्वत' के आधार पर गौड़ जी ने सिद्धीश्वर-नित्यतंत्र, राधातन्त्र कामाख्यातंत्र आदि का उल्लेख किया है। (पृष्ठ ४८६)। कुछ अन्य 'प्रचलिततंत्र' शीर्षक से गौड़ जी ने अनेक तंत्रों का उल्लेख किया है (पृष्ठ ४८६) तथा वाराही-तंत्र से भी एक सूची दी है जिसमें श्लोक संख्या भी दी गई है। वाराही तंत्र के मत से अन्य लोकों के तंत्रों के श्लोकों की संख्या ९ लाख है। (पृष्ठ—४८४) भारत-वर्ष में तंत्रों की श्लोक संख्या १ लाख है। (पृष्ठ ४८४)

इस प्रकार तंत्र-साहित्य एक विराट साहित्य है, इनमें से अभी बहुत कम तंत्र प्रकाशित हुए हैं। 'तांत्रिकटैक्स्ट सीरीज' कलकत्ता, तथा गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, आड्यार (मद्रास) तथा श्रीनगर से कुछ ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। 'तांत्रिक ऑर्डर' न्यूयार्क में 'तांत्रिकटैक्स्ट्स बुक्स' में प्रायः सभी तंत्रों के अँगरेजी अनुवाद प्राप्त हैं परन्तु मुझे पत्र-व्यवहार द्वारा यह पता चला है कि न्यूयार्क या अन्यत्र 'तांत्रिक आर्डर' जैसी संस्था का अब अस्तित्त्व ही शेष नहीं रह गया है। पाठकों को External issue International Journal of Tantric Order Vol. V. No.I, कलकत्ता क National Library में प्राप्त हो सकता है।

कविराज गोपीनाथ ने प्रकाशित कराये हैं। गौड़पाद के सुभगोदय तंत्र तथा श्री विद्यारत्नसूत्र तंत्र प्रसिद्ध तंत्र हैं, शंकराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी' का उल्लेख ऊपर हो चुका है (फर्कुहर इसे शंकरकृत नहीं मानते) 'सौन्दर्यलहरी' की टीका में भावनात्मक भक्ति का लक्ष्मीधर (१३वीं शताब्दी) सुन्दर विवेचन हुआ है। फर्कुहर का अनुमान है कि श्रीमद्भागवत पुराण के प्रभाव से शाक्तों में भक्ति का प्रचार बढ़ा है। उनके अनुसार 'देवीभागवत' एक उपपुराण है जो श्रीमद्भागवत के पश्चात् तथा भागवत के टीकाकार श्रीधर (१४वीं शताब्दी) के बीच कभी लिखा गया है, इस पुराण में नारद-शांडिल्य सूत्रों की तरह भक्ति का प्रभाव दिखायी पड़ता है।

श्रौत, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् साहित्य के अंतर्गत शक्तिवाद पर सायणाचार्य (१३०० ई०) भास्करराय (१७२४ ई०) उपनिषद्ब्रह्म (१७५० ई०) तथा कौलाचार्य सदानन्द के भाष्य हैं। इनमें केवल भास्करराय के भाष्य शाक्तमत के अनुकूल लिखे गए हैं। अप्पयदीक्षित (शिवाद्वैत मतावलम्बी) की 'आनन्दलहरी' तथा उसकी व्याख्या मार्मिक है। भास्करराय ने श्रीसूत्र, कौल उपनिषद्, ललितासहस्रनाम, दुर्गासप्तशती, योगिन हृदयतंत्र पर टीकाएँ लिखी हैं, उनका 'वीरवस्यारहस्य' ग्रंथ मंत्रशास्त्र एवं उपासना कांड के लिए प्रामाणिक माना जाता है।

भास्कर के शिष्यों में उमानन्द नाथ ने श्री विद्या सम्बन्धी 'नित्योत्सव' लिखा तथा उनके शिष्यों में रामेश्वर (१८३१) में परशुराम कल्प सूत्र पर वृत्ति लिखी है।

रहस्यस्तोत्रों में गौड़पादाचार्य का सुभगोदय, शंकर की सौन्दर्य-लहरी, आनन्दलहरी, अप्पयदीक्षित की आनन्दलहरी, दुर्वासा का त्रिपुरमहिम्न, ललितात्रिशती (शंकराचार्य का भाष्य) तथा आर्यपञ्चाशत आदि ग्रंथ हैं।

पौराणिक साहित्य में देवी भागवत, ब्रह्माण्डपुराण के द्वितीय भाग में 'ललितासहस्र', मार्कण्डेय पुराण में देवीमाहात्म्य तथा सप्तशती, सूतसंहिता का शक्तिस्तोत्र। कालिका पुराण शक्तिवाद का मुख्य ग्रंथ है।[1]

शाक्तों की प्रयोग-पद्धतियों का वर्णन योगिनी-तंत्र, वाराहीतंत्र, कात्यायनी तंत्र, मरीचितंत्र, डामरतंत्र, हरगौरीतंत्र, शक्ति संगमतंत्र तथा लक्ष्मीतंत्र आदि में वर्णित है।

---

(१) श्रीमद्भागवत पुराण में भी अधिकांशतः शक्ति सम्बंधी रहस्य और तत्व का ही वर्णन है—शक्ति अंक (कल्याण) पृष्ठ ६२८

देवी भागवत के टीकाकार नीलकंठ का 'शक्तितत्वविमर्शिनी' ग्रंथ विद्वत्ता-पूर्ण है।

कश्मीरी साधकों के संवित्सिद्धि, अजड़ प्रमातृसिद्धि, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, तन्त्रसुधा, तन्त्रवटधानिका, परात्रिंशिका, प्रत्यभिज्ञासूत्र, महार्थमंजरी मालिनी विजय, कामकलाविलास, स्पन्दकारिका तथा स्पन्दसंदोह आदि ग्रंथ शक्त-मत पर प्रकाश डालते हैं, इन ग्रंथों को 'त्रिपुरसुंदरी या श्रीविद्या सम्प्रदाय' का माना जाता है। दार्शनिक पक्ष इन्हीं से व्यक्त होता है।

'श्रीतत्वचिंतामणि' के प्रसिद्ध लेखक पूर्णानन्द (१४४८-१५२६) थे, इसी का षष्ठ प्रकरण 'षट्चक्रनिरूपण' नाम से अति प्रसिद्ध है।

शाक्तों ने भारतवर्ष तथा एशिया महाद्वीप को तीन भागों में विभाजित किया है—

विष्णुक्रान्ता—भारत का उत्तरपूर्वीय प्रदेश—विन्ध्याचल से लेकर चटगाँव तक।

रथक्रान्ता—उत्तर पश्चिमी भारतवर्ष—विन्ध्य से लेकर तिब्बत तक

अश्वक्रान्ता—इसके सम्बंध में मतभेद है। कुछ तंत्र इसे 'दक्षिणीभारत' तक सीमित रखते हैं और कुछ 'जावा' द्वीप तक का भाग मानते हैं।

कामाख्या, कश्मीर एवं काञ्ची शाक्त पूजा के गढ़ माने जाते हैं। इनमें कामाख्या (असम) कौलमत का तथा काश्मीर तथा काञ्ची श्रीविद्या के उपासक (दक्षिण-पंथी) माने जाते हैं। यद्यपि 'कश्मीर' में कौलमत का प्रभाव मिलता है। 'काशी' को इस त्रिकोण का 'मध्यविन्दु' माना जाता है, जहाँ उक्त तीनों स्थानों की विशेषताओं का समचित रूप मिलता है।[1] कश्मीर में त्रिपुरा, केरल में तारा तथा गौड़देश में काली की पूजा होती है।

तांत्रिक विश्वास के अनुसार प्रत्येक 'क्रान्ता' के अपने-अपने ६४ तंत्र हैं, जो दूसरी क्रान्ताओं से भिन्न हैं, इस प्रकार १८८ तंत्रों का प्रचार किसी युग में इन तीन क्रान्ताओं में रहा होगा, ऐसा कहा जाता है।

शिव के षट् मुखों से तंत्रों का जन्म माना जाता है। कुलार्णवतंत्र के अनुसार पूर्वाम्नाय सृष्टिरूप और मंत्रयोग है, दक्षिणाम्नाय स्थिति-रूप और भक्ति

(१) भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, १ अध्याय—शाक्ततंत्र, १९४८

योग, पश्चिमाम्नाय संहार रूप तथा कर्मयोग है, उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप और ज्ञानयोग है। ऊर्ध्वाम्नाय से कौलमत का प्रकाशन होता है।[१] सर जान वुडरफ के अनुसार प्रत्येक शिवमुख से भिन्न-भिन्न देवियों-देवताओं का उद्भव होता है। देवताओं में सभी वैदिक-अवैदिक देवताओं की गणना कर ली गई है।[२] पूर्वाम्नाय से भुवनेश्वरी, त्रिपुरा, ललिता, पद्मा, शूलिनी, सरस्वती, त्वरिता, नित्या, अन्न-पूर्णा, महालक्ष्मी, आदि देवियाँ प्रकट हुई हैं। दक्षिण मुख से प्रसादसदाशिव, बटुक, मंजुघोष (यह बौद्ध देवता है) भैरव आदि पश्चिममुख से—गोपाल, कृष्ण, नारायण, वासुदेव, नृसिंह, वमन, वराह, रामचन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, हनूमान आदि। उत्तर-मुख से महाकाली, गुह्यकाली, श्मशानकालिका, भद्रकाली, आदि तथा ऊर्ध्वमुख से त्रिपुरासुंदरी, भैरवी, आदि प्रकट हुई हैं।

'अधाम्नाय' से देव स्थान, आसन, माला, नैवेद्य, बलिदान, साधना, पुरश्चरण, मंत्रसिद्धि आदि प्रकट हुए हैं। परशुराम कल्पतंत्र में केवल शिव के पाँच मुखो का उल्लेख है। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान।

आम्नाय शब्द के अर्थ श्रुति, स्त्री तथा वेद किये गए हैं। यहाँ आम्नाय का अर्थ 'तंत्र' ग्रहण किया गया है। इस तंत्र में कहा गया है कि वेद न जानने वालों के लिए तंत्र प्रकट किया गया है।[3]

कुछ परंपरावादी विद्वानों का विचार है कि छांदोग्य उपनिषद् में सूर्यबिम्ब को देवमधु कहा गया है। इसकी किरणें चारों वेदों के पुष्परसों को खींचती हैं। एक सूर्य का ऊर्ध्व-मुख है। इसकी किरणें गुह्य-आदेश को खींचती हैं। इस गुह्य-आदेश को ही 'आगम' कहते हैं। आगमवादी इसे ही शिव का पंचममुख कहते हैं।[४]

यह आगमवासियों द्वारा वस्तुतः छांदोग्य उपनिषद् की अपनी व्याख्या मात्र है।

यह जो कहा गया है कि गौतम बुद्ध की मृत्यु के बाद तंत्रों का आविर्भाव हुआ है, यह सही है। इनमें पांचरात्र, सात्वत, गाणपत्य, शैव तथा शक्तों की भ

---

(१) वही, चतुर्थसंस्करण, काशी

(2) Shakti and Shaktia—Sir John Woodroff, Page 149 Edition IV 1957, Madras.

(३) परशुराम कल्पतंत्र—गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, १९२३ पृष्ठ २०

(४) 'शक्ति-अंक' (कल्याण, गोरखपुर) पृष्ठ ६२४-२५

गणना है। जैन एवं बौद्धतंत्र भी इसी समय से प्रारम्भ हुए हैं।[1] यद्यपि इनका प्रचार ई० छठी शताब्दी के बाद अधिक दिखायी पड़ता है।

परंपरा के अनुसार शाक्त-सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं—

मनु सम्प्रदाय, चन्द्र, कुवेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, अगस्त, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव तथा दुर्वासा सम्प्रदाय। इनमें लोपामुद्रा एवं मन्मथ सम्प्रदाय अब भी प्रचलित हैं, अब मन्मथ सम्प्रदाय का प्रचार ही मुख्य रह गया है। यह विश्वास है कि शंकर के द्वारा भस्म हो जाने पर कामदेव ने श्रीविद्या की उपासना से जीवन प्राप्त किया था।

युरोप में १९१३ ई० के बाद शाक्तधर्म के कतिपय ग्रंथों का प्रचार हुआ। आर्थर एवेलान या सर जान वुडरफ़ ने शाक्त तंत्रों की प्रथम बार अँगरेजी भाषा में व्याख्या की। पाइने के अनुसार ये दो भिन्न व्यक्ति हैं। परन्तु एवेलान अपना वास्तविक नाम प्रकाशित नहीं करना चाहते। अत: पाठक को इन्हें भिन्न-भिन्न दो व्यक्ति मान कर इनके ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। ये दोनों सज्जन विचारों के इतिहास में रुचि नहीं लेते, केवल वे व्याख्याएँ प्रस्तुत करना चाहते हैं, जो एक सच्चे साधक को भारतवर्ष में ज्ञात हैं।[2] जर्मन लेखकों में ग्लेस्नेप्प (Glasenapp) तथा कोनो (Konow) ने इस मत पर लिखा है। ज़िमर ने भी इस मत पर प्रकाश डाला है, किंतु इन तीनों ने आर्थर एवेलान एवं वुडरफ़ को आधार बनाया है। इस प्रकार एवेलान एवं वुडरफ़ शाक्तमत के प्रचार में सबसे महत्त्वपूर्ण लेखक हैं।

प्रत्येक धर्म के दो रूप दिखायी पड़ते हैं I दार्शनिक या सैद्धान्तिक II प्रचलित (Popular) दार्शनिक सार्वभौमिक तथा प्रचलित रूप स्थानीय होता है। दार्शनिक रूप अध्यात्मिकता प्रधान होता है जबकि प्रचलित रूप में जादू या अंध-विश्वास मिल जाते हैं। पाश्चात्य लेखकों में हापकिंस, विलियम वार्ड, विलसन, मोनियर विलियम्स, बार्थ, विलियम क्रुक आदि ने जो शाक्तमत की निन्दा की है, उसका कारण यह यह है कि इन सब पाश्चात्यों ने प्रचलित रूप पर

(१) वही, पृष्ठ वही

(2) The Saktas—Earnest A. payne, page 2-3
Calcutta, 1933

ही ध्यान दिया है।[1] धर्म के सैद्धान्तिक रूप की कम से कम उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

शाक्तमत के विषय में यह स्मरणीय है कि यह मत शैवधर्म से सम्बद्ध रहा है, काली, दुर्गा, चंडी, भैरवी, पार्वती, कुमारी उमा, गौरी, स्वतंत्र स्थानीय देवियाँ थीं, इनके नाम के साथ अनेक कथाएँ जुड़ती गईं।[2]

शाक्तमत के उद्भव के विषय में कथा यह है कि सती के शरीर को लेकर शिव विश्व भ्रमण करने लगे। विष्णु ने सती के शरीर को काट डाला जहाँ जो अंक गिरा, वहीं उसकी पूजा होने लगी—कामाख्या में योनि एवं ज्वालामुखी (पंजाब) में जीभ गिरी अतः वहाँ इन्हीं अंगों की पूजा होती है। कांगड़ा, उज्जैन, काशी, काञ्ची आदि में शक्तिपीठ हैं।

इन पीठों में शाक्तों द्वारा भयंकर कृत्य होते थे। नर-बलि तो १८३५ ई० में गैरकानूनी की गई है, उससे पूर्व नर-बलि भी दी जाती थी।

दर्शन : शाक्त-दर्शन में सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त का समुचित रूप मिलता है। उपनिषद् के अद्वैतवाद (Monism) की प्रतिक्रिया में सांख्यमत का उद्भव हुआ था। अद्वैतवाद के साथ कठिनाई यह थी कि यदि चैतन्य ही सत है तो जड़ जगत् की स्थिति उस चैतन्य के साथ कैसे स्वीकार की जा सकती है ? सांख्य इसीलिए पुरुष (चैतन्य) और प्रकृति को भिन्न-भिन्न स्वतंत्र सत्ता मानता है, किन्तु यह स्पष्टतः ही द्वैतवाद है, और सांख्य को 'सृष्टि' कैसे और क्यों प्रारम्भ होती है, यह समझाने में बड़ी उलझन हुई है, अतः शैव-शाक्त और वैष्णव दार्शनिकों ने 'शक्तिवाद' को अपना कर पुरुष और प्रकृति के मेल का सिद्धान्त स्वीकार किया है अर्थात् शक्ति और शक्तिमान एक ही सत्ता है। शक्ति शक्तिमान का ही रूप (Aspect) है, चन्द्र-चन्द्रिका जिस प्रकार अभिन्न होने पर भी भिन्न हैं और भिन्न होने पर भी अभिन्न, इसी प्रकार शक्तिमान की शक्ति ही प्रकृति का रूपधारण कर लेती है। इस प्रक्रिया में शक्तिमान को निष्क्रिय, सर्वातीत, निराकार सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है और शक्ति को उसी शक्तिमान का क्रियाशील रूप मात्र जाताहै और इसमें द्वैतवाद एवं अद्वैतवाद दोंनी की कठिनाइयों का समाधान हो जाता है।

---

1. Ibid—page 1 2. Ibid—page 7

शाक्तमत विष्णु-शिव (शक्तिमान) की शक्ति के रूप में मानवीकृत करके उपासना का विषय बनाता है। शक्ति और शक्तिमान की एकता को ही सारे रहस्यों का आधार माना गया है। शक्ति को सहायक करण प्रकृति को उपादान कारण तथा शिव को निमित्त कारण माना गया है।

शाक्तदर्शन का विकाश सर्वाधिक रूप में कश्मीरी शैवों द्वारा हुआ है। हम "कश्मीरी-शैवमत-अध्याय" में त्रिपुरारहस्य के आधार पर 'शाक्तमत' पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं, यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

शाक्त-दर्शन 'शक्ति' को अधिक महत्त्व देता है, इस शक्ति को 'पराशक्ति' कहा गया है। इसे ब्रह्म या शिव की 'स्वतंत्र शक्ति' कहा गया है। शक्ति को 'स्वतंत्र' इसलिए कहा गया है क्योंकि यह शिव की इच्छानुसार सृष्टि रचने में स्वतंत्र है।

जड़ जगत् की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि ब्रह्म या चैतन्य में कोई धर्म मानना पड़ता है, यह धर्म है 'स्वरूपस्फूर्त्ति', यह स्फूर्त्ति दो प्रकार की है—अहम् और इदम्। इदम्-इस स्फूर्त्ति में पर की अपेक्षा की आशक्ति से चेतना में अहम् की स्फूर्त्ति होती है, यही शरीराभिमान, क्रोध आदि है। इस सीमित की अनुभूति ब्रह्म द्वारा प्रेरित कला-माया आदि आवरणों या कंचुकों द्वारा होती है। अखिल कलादि साधनभूत समष्टि चिति को ही पूर्णहन्ता कहा जाता है, आवरणों से परे समष्टिरूप चैतन्य की अनुभूति में ही जब व्यष्टि जीवगत अहंता लीन हो जाती है तब 'पूर्णाहन्ता' की अनुभूति होती है। यह 'पूर्णाहन्ता' (समष्टि अहं) सृष्टि के आदि में सृष्टि की इच्छा करती है, वह सृष्टि करने में स्वतंत्र है, अतः उसे ब्रह्म की 'मायाशक्ति' भी कहते हैं। शंकरचार्य की 'माया' जड़ है, वह ब्रह्म के साथ एकीभूत (Identified) नहीं है जबकि शैव-शाक्तों के यहाँ 'शक्ति' चैतन्य का ही एक रूप है, वह शुद्धचिति है ! यही 'शुद्धचिति' सृष्टि करती है, अतः ब्रह्म की ही तरह शक्तिरूप जगत् भी सत् पदार्थ है, भ्रम नहीं।

शुद्धचिति रूप शक्ति न तो क्रियाहीन परिस्पन्दरूप है और न परिणाम रूप बल्कि यह दर्पण-प्रतिबिम्ब के अवभासवत 'अवभास-रूपा' है, अतः जगत् ब्रह्म का विवर्त नहीं है, ब्रह्म का आभास है।

यह अवभासरूपा शक्ति ज्ञान, इच्छा, क्रिया—तीन रूप धारण करती है। यह काल-देश, पात्रादि से स्वतंत्र है यह स्वतंत्र शक्ति अपने को दो रूपों में विभाजित करती है १. अपूर्ण अहंभाव २. पूर्णाहन्ता।

परिच्छिन्न अहंभाव युक्त चैतन्य का अंश सदाशिव कहलाता है। उपनिषदों में इसी को 'ईश्वर' कहा गया है इस प्रकार चैतन्य अपने ही अंश (चित् शक्ति) के आवरण से अभिमानयुक्त हो जाता है।[1]

सृष्टि : प्रलयकाल में यह जगत् शिव की कुक्षि में रहता है। जीवों का भी कुछ व्यक्तित्व शेष रहता है परन्तु उनमें आत्म चेतन। Self consciousness) नहीं रहती। सृष्टि के प्रारम्भ में परावक्शक्ति या शब्द ब्रह्म "सर्वातीत पर ब्रह्म" को व्यक्त करता है। यह परावाक् या शब्द ब्रह्म से संयुक्त रहता है जो अनन्त; अतीत एवं असीमित तत्त्व है 'परब्रह्म' की प्राप्ति का उपाय है 'परावाक्-शक्ति' का जागरण, इसीलिए 'शाक्त' शक्ति को जागृत करने में विश्वास करते है।

सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म की क्रियाशक्ति अपने को उद्घाटित (unfold) करती है और यह क्रियाशक्ति जगत् के रूप में बदल जाती है, जबकि परब्रह्म स्थिर और तटस्थ रहता है। वह इस शक्ति का साक्षी बनाता है, अतः जगत् शक्ति रूप है और ब्रह्म इस क्रिया का साक्षी है, द्रष्टा है।[2]

तंत्रों में शक्ति को विमर्श (क्रिया) शक्ति तथा शिव को 'प्रकाश' कहा गया है।

प्रकाश का संयोग होने पर ही जगत् की उत्पत्ति होती है इस संयोग को नारी एवं पुरुष के संयोग की उपमा दी गई है, जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है उसी प्रकार प्रकाश (शिव) तथा विमर्श की संयोगावस्था से 'विन्दु' का जन्म होता है जो दोनों की एकता (Union) का द्योतक होता है। विन्दु की अवस्था में शक्ति एवं शिव दोनों का सामरस्य रहता है, इसे 'स्वायंभूलिङ्ग' भी कहा जाता है। शक्ति तथा शिव के इस समागम और सामरस्य को ही 'कामरूपपीठ' कहा जाता है[3]

---

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—त्रिपुरारहस्य जिल्द ४ में गोपीनाथ कविराज की भूमिका।

2. Some Aspects of the Philosophy of Sakta Tantra—G. N. Kaviraj (princess of waee's series—Vol. II)

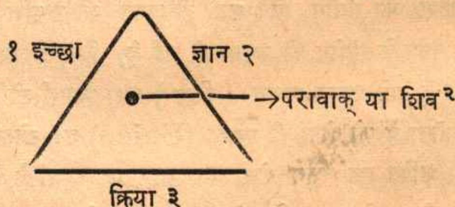
3. Some Aspects of the Philosophy of Sakta Tantra.

गोपीनाथ कविराज के अनुसार विमर्श एवं प्रकाश दोनों सर्वातीत शक्ति के ही दो रूप (Aspect) हैं, इसका तात्पर्य यह है कि शाक्त-शैव दार्शनिक परमशिव को 'परब्रह्म' के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं और इस परब्रह्म की शक्ति को 'सर्वातीत-शक्ति' कहते हैं, शिव एवं विमर्श (क्रियात्मक) शक्ति उस सर्वातीत शक्ति के ही दो रूप हैं, अतः परमशिव शिवोत्तीर्ण अवस्था है—यह स्मरणीय है।

अतः शिव (प्रकाश) रूप को 'अम्बिकाशक्ति' तथा विमर्श शक्ति को 'शान्ता' भी कहा जाता है। इनके सामरस्य के बाद इच्छा (वामा) ज्ञान (ज्येष्ठा) तथा क्रिया (रौद्री) का विकास होता है। इन्हीं को शाक्त पूर्णगिरि जालंधर तथा उड्डीयान पीठ कहते हैं। यही पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी वाणी की स्थितियाँ कहलाती हैं और इन सबके परे हैं 'परावक्' या सर्वातीत शक्ति।

इच्छाशक्ति के उत्पन्न होते ही चैतन्य में स्थित सूक्ष्म ब्रह्माण्ड के एक अंश अपने को (जो वास्तव में ब्रह्म का ही रूप है) अवभासित करने लगता है इस आभास को ही सृष्टि कहते हैं, यह आभास देश एवं काल में होता है। प्रलयकाल में यह आभास रूप सृष्टि फिर चैतन्य से समा जाती है, उसी प्रकार जिस प्रकार दर्पण से आभास उत्पन्न होता है और फिर उसी दर्पण में समा जाता है। जिस प्रकार दर्पण एवं आभास भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी एक हैं, उसी प्रकार सृष्टि शक्तिरूप ही है, और शक्ति तथा शक्तिमान की एकता हम बता ही चुके हैं।

ओंकार द्वारा इन अवस्थाओं का ही प्रकट किया जाता है।[1]



(1) Some Aspects of the Philosophy of Sakta tantra

(२) शक्ति-अंक (कल्याण) में कविराज जी ने त्रिकोंण स्थित विन्दु को 'शिव रूप' भी कहा है यद्यपि 'विन्दु' सर्वदा शक्ति सहित है। त्रिकोण योनि है और विन्दु शिव का विन्दु (वीर्य)—(द्रष्टव्य-शक्ति अंक, पृष्ठ ५८)।

सम्पूर्ण जगत् इसी त्रिकोंण और विन्दु से ही उत्पन्न होता है। पुरुष एवं स्त्री का मिलन भी इसी की पुनरावृत्ति मात्र है।

१	२	३
पश्यन्ती	मध्यमा	बैखरी
अ	इ	म् = ओइम्
सृष्टि	रक्षा	नाश
वामा	ज्येष्ठा	रौद्री
इच्छा	ज्ञान	क्रिया

शिव-शक्ति (प्रकाश विमर्श) की सामरस्यावस्था तत्वों से परे की अवस्था है। शक्ति तत्त्वों के रूप में शिव से भिन्न रूप धारण कर लेती है और साथ ही शिव से अभिन्न भी रहती है। इसी शक्ति को 'शाश्वत योनि' (सृष्टि का कारण) कहा गया है, यही शिव (या पुरुष) के आनन्द का सार है क्योंकि सृष्टि द्वारा वह 'शिव' को आनन्द देती है। शिव अपने ही अंश द्वारा अपने को आवरण में बाँधकर (जीव रूप धारण कर) सृष्टि का खेल रचता है और क्योंकि यह सृष्टि रूपी क्रीड़ा शिव के भीतर ही होती है, अत: इसे आत्मानुभूति (Self realisation) कहा गया है, जैसे दर्पण में हम अपना ही रूप देखकर आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार शक्ति जगत के रूप में शिव को अवभासित (Reflected) कर देती है और जगत् रूपी अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर शिव आनन्दित होते हैं अतएव सृष्टि शिव की आनन्दमय लीला है। जब शिव के साथ हम तादात्म्य स्थापित कर हम भी अपने को 'शिव' समझते हैं तब सारा जगत् हमारे लिए भी आनन्दमय लीला बन जाता है और हम मुक्त हो जाते हैं—कंचुक कट जाते हैं, "यह सब मैं ही हूँ" ऐसा अनुभव होने लगता है। इसीलिए आगम में शक्ति को 'दर्पण' की उपमा दी गई है। शक्ति दर्पणवत् शिव के आत्मज्ञान को आभासित करती है। इस शक्ति द्वारा ही शिव 'आत्मसाक्षात्कार' करता है, इस शक्ति के बिना शिव को इसीलिए 'शव' कहा गया है क्योंकि शक्ति के बिना शिव आत्म साक्षात्कार (Self Knowledge) या आत्मज्ञान नहीं कर सकते। इस 'आत्मज्ञान' को ही तंत्र 'अहम्' कहते हैं। अपनी शक्ति का दर्शन ही आत्म-साक्षात्कार है, अपने को जानना है। यही 'पूर्णाहन्ता चमत्कार' कहलाता है[1]।

(१) It (शक्ति) is likened in the Agam to a mirror, serving to reflect the self-knowledge of Shiva. For it is through it,

जिस प्रकार एक दर्पण किसी दृश्य को तब तक आभासित नहीं कर सकता जब तक कि दृश्य बाहर न हो, यदि कोई दृश्य बाहर हो भी और यदि प्रकाश न हो तो उस दृश्य का आभास दर्पण में प्रकट न होगा अतः 'पराशक्ति' को भी जगत् रूपी आभास के लिए 'परशिव' की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि वस्तुतः पराशक्ति एवं परशिव एक और अभिन्न हैं। इसको अन्य प्रकार से भी समझाया जा सकता है—

तत्त्वातीत पदार्थ या अनुत्तर अवस्था (परमशिव) के बोध के लिए 'अकार' का प्रयोग होता है। यह प्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था में शिव व शक्ति का सामरस्य होता है, इसमें शिव को 'अकार' या प्रकाश तथा शक्ति को 'हकार' या विमर्श कहते हैं। शिव अग्नि रूप है, शक्ति सोमरूपा है, इन दोनों का बिन्दु रूप में परिणत होना (रज+वीर्य) ही 'अहम्' है। साम्यभंग होने पर यह बिन्दु शुक्ल व रक्त बिन्दु रूप में व्यक्त होता है जैसे अग्नि के स्पर्श से घृत द्रवित होता है, वैसे ही प्रकाशात्मक शिव के सम्पर्क से विमर्श रूपा पराशक्ति द्रवित होती है और उससे परमानन्द अमृत धारा का स्राव होता है, यही धारा 'चित्कला' या ब्रह्मानन्द का स्वरूप है[२]।

जब प्रकाशबिन्दु विमर्शबिन्दु में प्रविष्ट होता है, तब बिन्दु में—उच्छूनता (Swelling) उत्पन्न होती है, तब इस बिन्दु से 'नाद' उत्पन्न होता है, इस 'नाद' में समस्त 'तत्व' रहते है, यही नाद व्यक्त होकर 'त्रिकोण' रूपधारण कर लेता है।

शाक्त-विचारक सृष्टि के विकास को समझाने समझने के लिए तथा साथ ही आध्यात्मिक अनुभूतियों की प्राप्ति के लिए अनेक त्रिकोणों (चक्रस्थित) का ज्ञान

---

that Shiva, eternally knows himself which. Self-knowledge constitutes the essence (चैतन्य) and without it Shiva is no more than a (शव), a lump of lifeless matter. This self-knowledge is is technically known as अहम्......to see one's own Sakti is to see and enjoy one's own self. This (अहम्) is in reality the supreme self revealed in and to it self as an Infinite Delight (पूर्णाहन्ता चमत्कार)

Quoted from the Some Aspects of the Philosophy of Sakta-Tantra.

(२) शक्ति अंक—(कल्याण-गोरखपुर) गोपीनाथ कविराज

प्राप्त करते है, इनकी व्याख्या अत्यधिक रहस्यमय और सांकेतिक है—उदाहरण के लिए उपर्युक्त त्रिकोण में एक विन्दु प्रकाश है, एक विमर्श है, इन दोनों के संयोग से 'काम या रवि' नामक मिश्रविन्दु व्यक्त होता है—अग्नि तथा सोम इसी 'काम' के कला रूप में माने जाते हैं। अत: 'कामकला' रहने से—प्रकाश विमर्श तथा काम या रवि—इन तीनों का बोध होता है। इसी प्रकार आगे त्रिकोणात्मक पद्धति पर सृष्टि विकास होता है, यही कारण है कि किसी भी देवता के मूल तत्व के अनुसंधान में लिङ्गयोनि का समन्वयरूप त्रिकोणस्मित 'मध्यविन्दु' ही दिखायी पड़ता हैं[1]—तात्पर्य यह कि शाक्तों को प्रत्येक देवता के अनुसंधान में योनिस्थित वीर्य-विन्दु के ही दर्शन होते हैं और इसे वह सृष्टि प्रक्रिया के रूप में समझते हैं, इसीलिए भोग तथा मोक्ष दोनों को एक ही पद्धति द्वारा यहाँ समझाया जाता है। व्यष्टि, समष्टि एवं महासमष्टि—सबमें एक ही क्रिया होती है।

प्रपंच के लय हो जाने के बाद, वृत्तिनाश हो जाने के बाद भी 'एककला' जागृत रहती है। निर्वाण के बाद यही कला जीव की 'उन्मनी' अवस्था में रहती है। इसकी भी निवृत्ति के बाद जिस निष्काम अवस्था की प्रप्ति होती है, वही शिव-शक्ति तत्व है, यही 'महावैन्दवावस्था' है, इसमें किसी का कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता [2]

इस अवस्था से स्थूल जगत् पुन: व्यक्त होता है जिस प्रकार दीप-कलिका से प्रभा-मंडल विकीर्ण होता है, उसी प्रकार यह स्थूल, जगत् ही प्रभा-मंडल के समान व्यक्त होता है और शिव-शक्तितत्व ही वह दीप-कलिका है। साधक इस स्थूलरश्मि-माला को इन्द्रियों प्रत्याहार से समेटने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार आंतरिक अंत:करण रूपी रश्मिमाला भी आत्मविन्दु में लीन हो जाती है। इस प्रकार त्रिकोणात्मक अभिव्यक्ति के बीच मध्य-बिन्दु में दिव्य-मिथुन-शिव-शक्ति का श्रृंगारादि विलास चलता रहता है। श्री गोपीनाथ कविराज के अनुसार राधा-कृष्ण का युगल मिलन, आदि बुद्ध एवं प्रज्ञा पारमिता का युगनद्धरूप यही है। यही त्रिकोण ही 'प्रणव' है। सुषुप्त कुंडलिनी-शक्ति भी यही है—कुंडलिनी जागृत होने पर शिव-शक्ति का भेद विगलित हो जाता हैं और जीवशक्ति एवं शिवशक्ति—एकाकार हो जाते हैं। विन्दु तथा त्रिकोणत्व का भेद दूर हो जाने के कारण विन्दु

(१) शक्ति अंक—कल्याण—गोपीनाथ कविराज,

(२) वही द्रष्टव्य—'शक्ति साधना' शीर्षक निबंध

का विन्दुत्व व त्रिकोणत्व कुछ भी शेष नहीं बचता, जो शेष रहता है वह आदि सत्ता है—अवाङ्मनसगोचर है।[1]

शिव शक्ति की एकता ही शाक्त-साधना का विषय है। शिव को अकुल और शक्तिको कुल भी कहा गया है, अत: अकुल एवं कुल का अनुसंधान ही शाक्तदर्शन तथा उद्देश्य है,[2] इसीलिए यह 'कौलदर्शन' कहलाता है।

तत्त्वजाल : उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि परमशिव अपनी शक्ति पराशक्ति से किस प्रकार शिव एवं शक्ति के रूप में आभासित होता है और किस प्रकार शिव-शक्ति सामरस्य या समागम से सृष्टि होती है।

(१) अत: परमशिव जब स्वेच्छा से उपाधि से आछन्न होकर ही 'शिव' कहलाता है, यह प्रथम 'तत्त्व' है।

(२) शक्ति—यह द्वितीय तत्व है—इसे पूर्वोदितासृष्टि की 'प्रपंचवासनारूपा' इच्छा कहा गया है।[3]

(३) सदाशिव—अहम् के उदय की अवस्था ही 'सदाशिवतत्त्व' है।

(४) ईश्वर—भेद विषयिणीवृत्ति से युक्त तुरीयावस्था का तत्त्व ही ईश्वर कहलाता है। इसमें 'इदम्' का बोध होता है यह तत्त्व भेद को विषय करता है।

(५) विद्या—'जगत् में ही हूँ'—यह जो सदाशिवसम्बंधिनी वृत्ति है, वही विद्या तत्त्व है।

(६) माया—यह जगत् है—ऐसी भेदबुद्धि ही माया है।

(७) अविद्या—विद्या का तिरोधान करनेवाली वृत्ति ही अविद्या है।

(८) कला—जीव में निष्ठ जो सर्वकर्त्तत्त्व है, जब वह 'किंचित्कर्त्तत्व' से संकुचित हो जाता है, तब उसे 'कला तत्त्वास्था' कहते हैं।

---

(१) शक्ति-अंक—शाक्त-साधना

(२) अकुलं शिव हत्युक्तं, कुलं शक्ति समीरितम्।
कुलानुकुलासन सन्धान निपुणा: कौलिका: प्रिये॥

—हंसविलास, पृष्ठ ११४

(३) परशुरामकल्प तंत्र से उक्त इनके अनुसार इन सभी तत्त्वों की व्याख्याएँ की गई हैं।

(९) राग—जीव में निष्ठ जो नित्यतृप्ति है, वही जब किसी विषय में अतृप्ति से संकुचित हो जाती है, तब 'रागतत्त्व' कहलाती है।

(१०) काल—आच्छादनग्रस्त चैतन्य की वृत्ति ही काल है जिसमें जन्मता है, बढ़ता है, नष्ट होता है आदि प्रयोग होते हैं।

(११) नियति—अविद्या द्वारा सर्वस्वतंत्रता के तिरोधान हो जाने पर जिसे 'कारण' रूप में माना जाता है, वही नियति है अर्थात् अविद्या के कारण स्वातंत्र्य का लोप हो जाता है, तब अज्ञ जीव असफलता सफलता, लाभ-हानि आदि अवस्थाओं में जिस कारण की खोज करता है, वह तत्त्व नियति है।[1]

उपर्युक्त ११ तत्त्वों के अतिरिक्त जीव, प्रकृति, मन, बुद्धि, अहंकार, १० इन्द्रियों, पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, रूपादि), तथा पंचभूत २५ तत्त्व और हैं, कुल मिलाकर २६ तत्त्व ही हैं, शैव-दर्शन में भी यही ३६ तत्त्व माने जाते हैं, जिनकी चर्चा कश्मीरी शैवदर्शन में दम कर चुके हैं।

किंचित् ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि सांख्य के २५ तत्त्वों को यथावत् शाक्तशैव दर्शन स्वीकार करता है, उनमें ११ तत्त्वों को और जोड़ दिया गया है और इन ११ तत्त्वों के, द्वारा प्रकृति एवं पुरुष के द्वैतभाव को समाप्त कर दिया गया है, प्रकृति को परमशिव की शक्ति मान कर सांख्य के द्वैतवाद को अस्वीकृति कर दिया गया है, इस प्रकार शाक्त एवं शैव दार्शनिक दृष्टि से ऐसे अद्वैतवादी हैं जो ब्रह्म तथा जगत्—दोनों को 'सत्' मानते हैं और फिर भी अद्वैतवादी हैं क्योंकि उनकी दृष्टि से जड़जगत् चैतन्यतत्त्व का ही एक रूप है—चैतन्य से ही चैतन्यतत्त्व जड़तत्त्व व्यक्त होता है। किन्दु शाक्त-शैव दर्शन न परिणामवादी है, न आरम्भवादी है, न विवर्तवादी है, इसे हम 'अविकार परिणामवादी' कर सकते हैं। क्योंकि शिव तटस्थ और उदासीन होकर 'सृष्टि' को देखते हैं, अतः इसे 'सृष्टिवाद' भी कह सकते हैं, पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही इस मत को यह संज्ञा दी जा सकती है।

---

(१) तस्य सर्वस्वतंत्रस्य विपिधानं पूर्वोक्ताविद्ययाकृतं, तदेव कारणान्तरापेक्षं यत्कारणामपेक्षते, तन्नियतिपदवाच्यं एकादश तत्त्वम्—परशुरामकल्पतंत्र (पृष्ठ २३) विस्तार के लिए द्रष्टव्य—'कश्मीरी शैवदर्शन'

दीक्षा : शाक्तों में भी शैवों की तरह शाक्ती, शाम्भवी एवं मांत्री दीक्षा प्रचलित है। शाक्ती दीक्षा में गुरु शिष्य में शक्ति का प्रवेश कराता है। शाम्भवी दीक्षा में कामेश्वर (शिव) कामेश्वरी (शक्ति) के रक्त शुक्ल चरणों की भावना करके दीक्षा दी जाती है।

मांत्री : दीक्षा में शिष्य के कान में गुरु मंत्र पढ़ता है।

वस्तुत: तीनों दीक्षाओं में 'ध्यान' की प्रक्रिया ही स्वीकृत है। उदाहरण के लिए शाक्ती दीक्षा में शिष्य से कहा जाता है कि वह ध्यान करे कि उसके मूलाधार चक्र से ब्रह्मविल तक अग्नि प्रज्वलित हो रही है।[1] इस प्रकार के ध्यान कराने से शिष्य की कुंडलिनी जागृत हो जाती है, ऐसा विश्वास है, परन्तु यह सब गुरु-कृपा से होता है, यह बार-बार कहा गया है।

दीक्षा में गुरु का महत्व सर्वोपरि है। गुरु और देवता और मंत्र—इन तीनों की एकता प्रतिपादित की गई है। जब शिष्य इन तीनों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

दीक्षा के बाद शिष्य का नामकरण होता है यथा आनन्दनाथ, गणनाथ आदि।

देवी रहस्य में इस दीक्षा का विस्तृत वर्णन मिलता है।[2] नवरात्रि में नदी तट पर, ईशानदिशा में वेदी बनाकर परादेवी का 'चक्र' बनाना चाहिए। मूलमंत्र का उच्चारण करते हुए सिंदूर से देवी का यंत्र बनाये, इस यंत्र में विन्दुयुक्त त्रिकोण से युक्त छता ६ त्रिकोण होते हैं, गणेश, धर्म, वरुण तथा कुबेर की स्थापना की जाती है। खटकोणों में मोहिनी की पूजा होती है, त्रिकोंण के मध्यविन्दु में परादेवी की पूजा होती है। पुनः गुरु की पूजा की जाती है। योनिरूप कुंड में होम किया जाता

(१) तस्यामूलमाब्रह्मविलं प्रज्वलन्तीं प्रकाशलहरीं ज्वलदननिभां
ध्यात्वा तद्रश्मिभिस्तस्य पापपाशान् दग्ध्वा.....(परशु० सूत्र ३६ सूत्र)

(२) देवीरहस्य रामचन्द्र काक, हरभट्ट शास्त्री
प्रथम पटल १९४१, श्रीनगर, कश्मीर

'देवीरहस्य' 'रुद्रयामल' का भाग माना जाता है, यद्यपि इसमें कुछ भाग मुसलमानी शासन में लिखे गए हैं तथापि इसमें गुरु शिष्य परंपरा से प्राप्त प्राचीन साधना का वर्णन है (द्रष्टव्य—देवीरहस्य की भूमिका)

है। न्यास द्वारा भूत शुद्धि की जाती है। प्राणयाम एवं ध्यान के बाद गुरु मंत्र देता है। देवीरहस्य में जप, होम, पुरश्चरण आदि का विस्तार से वर्णन है।

शक्तिपात : शाक्तयोग में शक्तिपात का विशेष महत्व है। शक्तिपात का विस्तृत वर्णन कश्मीर शैवदर्शन में किया गया है। शक्ति-साधना में भी शक्तिपात का अर्थ ब्रह्म या गुरु का अनुग्रह है, इससे दिव्य शक्तियाँ अकस्मात् जागृत हो जाती हैं।

कहा गया है कि शक्तिपात से शिष्य अनुग्रह प्राप्त करता है। जहाँ शक्ति अवतरित नहीं होती, वहाँ सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।[1]

दीक्षाओं के शाक्त साधना में कई भेद हैं।[1] कलावती दीक्षा 'शारदातिलक' में इसका वर्णन किया गया है। तत्त्वाध्वा, भुवनाध्वा, वर्णाध्वा, मंत्राध्वा इन पाँच दीक्षाओं का विधान है। कश्मीर शैवदर्शन में इसका विवरण दिया गया है।

हंसविलास तंत्र में एक मनोरंजक बात कही गई है कि कलयुग में तो सभी वर्णसंकर हैं, अतः कौन सी दीक्षा दी जाय? इसका समाधान यह है कि ब्रह्मचर्य से संन्यास से गायत्री-दीक्षा या वैदिकदीक्षा दी जा सकती है; किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए तुर्याश्रय में शिवदीक्षा या शाक्तदीक्षा ही विधेय है। क्योंकि श्रुति शुष्क है; अतः कर्मयोगी, भक्तियोगी तथा राजयोगी तुर्याश्रमी बनते हैं और शिवदीक्षा प्राप्त करते हैं।[2]

दीक्षा का वास्तविक तात्पर्य गुरु द्वारा ज्ञान के प्रकाश का दान है (दीयते ज्ञानम्) जिससे पापावरण का नाश हो जाय। सामान्यतः इसका अर्थ शिष्य के कान में मंत्र पढ़ना होता है।[3] ताराभक्तिसुधार्णं में क्रियावती, वर्णमयी कलावती तथा वेधमयी—दीक्षा के ये भेद किये हैं।[4]

---

(१) शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति।
यत्र शक्तिर्न पतति, तत्र सिद्धिर्न जायते। हंसविलास, पृष्ठ १०२

(२) हंसविलास, पृष्ठ ११०-१११

(३) ताराभक्तिसुधार्णव, Tantric Texts XXI, 1940, Calcuttaintroduction, Page 7

(४) वही, पृष्ठ ८

शक्ति साधना : शाक्तों के अनुसार स्वविमर्श ही पुरुषार्थ है (स्वविमर्शः पुरुषार्थः[1]) अर्थात् साधक जब यह अनुभव करे कि परशिव ही हूँ, सोऽहं, ऐसा प्रत्यभिज्ञान ही उद्देश्य है, प्राप्तव्य है। जैसे कण्ठस्थ आभूषण का विस्मरण हो जाने पर उसके अन्वेषण के लिए इधर-उधर भटकते हैं और जब उसका पुनः स्मरण हो आता है (प्रत्यभिज्ञान) उसी प्रकार जीव अवस्था में हम यह भूल जाते हैं कि हम परशिव ही हैं। यह 'ज्ञान' हमें भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता हैं।

अतः शाक्त-दर्शन में भी सर्वप्रथम शक्ति की कृपा की ही आकांक्षा की जाती है। बिना देवी की कृपा के कुछ भी प्राप्त नहीं होता। शैव एवं वैष्णव भी यही मानते हैं।

भगवत्कृपा को प्राप्त करने के लिए उपासना की आवश्यकता है।[2] योग द्वारा प्राप्त मोक्ष में पुनरावृति की—पुनः जन्मधारण की सम्भावना रहती है, अतः उपासना अनिवार्य है।

शाक्त-शैव उपर्युक्त कारण से ही योग के साथ भक्ति या उपासना को आवश्यक मानते है।

उपासना में मंत्र महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे साक्षात् पराशक्ति स्वरूप हैं, पराशक्ति बैखरी वाणी के रूप में स्फुरित होती है अतः मंत्रों द्वारा उस सूक्ष्म सर्वातीत सत्ता या परावाक् की अनुभूति सहज ही हो सकती है। इसीलिए मंत्रों में अचिन्त्यशक्ति मानी गई है[3]

मंत्र केवल किसी वर्ण के मात्र उच्चारण को नहीं कहते अपितु गुरु, मंत्र, देवता, आत्मा, मन तथा पवन (प्राणवायु)—इनकी एकता स्थापित करनी पड़ती है, इस ऐक्य की अवस्था में मंत्र का उच्चारण होता है, अतः मंत्र के साथ ध्यान मिला रहता है, यह एकता 'भावना' से सिद्ध होती है। भावनारहित मंत्र का जाप निष्फल रहता है। मंत्र एवं विद्या में शाक्त साधक अंतर बताते हैं। मंत्र का सम्बंध

---

(१) परशुराम कल्पसूत्र—सूत्र ६

(२) वही, सूत्र ६ की व्याख्या

(३) वही—मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता—सूत्र ८

पुरुष देवताओं से और विद्या सम्बंध स्त्री देवताओं से होता है। शिव-शक्ति की एकता के लिए विद्या का प्रयोग मंत्र के साथ किया जाता है।[1]

साधक की चित्तवृत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न देवियों के अनेक विद्याओं का विधान किया गया है। कालिका के यंत्र (विद्या) को तामसी षोड़शी के मंत्र को राजसी तथा परादेवी के मंत्र को सात्विक माना जाता है[2]

बालादेवी का मंत्र—ऐं क्लीं सौः बालायै नमः

काली का मंत्र—क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं दक्षिणे कालिके

क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं स्वाहा

सरस्वती—ओं ह्रीं ऐं ह्रीं ओं सरस्वत्यैनमः

षोडशाक्षरी मंत्र (१६ वर्णवाला) } श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौः ओं ह्रीं श्रीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं

सकलह्रीं सौः ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं

इसी प्रकार अन्य देवियों के अलग अलग तंत्र हैं[3]। देवीरहस्यतंत्र में शिव एवं विष्णु के भी मंत्र दिये गए हैं। इससे स्पष्ट है कि विष्णु को तांत्रिक देवता माना जाता है।[4] इन मंत्रों के तंत्रों में 'विद्या' (शुद्धज्ञान) कहा जाता है।

तंत्रों का विश्वास है कि मंत्रजप से ही सिद्धि होती है, वैष्णवों का भी यही विश्वास है। देवी रहस्य में मंत्रजप के दक्षिण मार्गी एवं वाममार्गी-दोनों-उपाय वर्णित हैं। वाममार्ग के अनुसार 'मधुपानपरायण' साधक को किसी नग्न परस्त्री के साथ समागम-अवस्था में ही मंत्र का १ लाख बार जप करना चाहिए—आशुसिद्धि का यह श्रेष्ठ उपाय है।[5]

---

(१) ललिता सहस्रनाम : ब्राह्माण्डपुराण के उत्तरखंड में प्राप्त—भास्कर राय की टीका सहित, अनंतकृष्ण शास्त्री द्वारा अँगरेजी में अनूदित, द्वितीय संस्करण ओटकमंड १९२५, भूमिका भाग

(२) देवीरहस्य : रामचन्द काक— १९४१- श्रीनगर : कश्मीर पटल १ पृष्ठ ७१-७२

(३) वही, पटल २ (४) वही, पटल ४

(५) वही, पटल १०, पृष्ठ २५

सिद्धि का अर्थ 'शक्ति-प्राप्ति' किया गया है। शक्ति का अर्थ यह है—जप के अन्त में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहारक जो 'मति' उत्पन्न होती हैं, उसी को 'शक्ति' कहते हैं।[1]

मंत्र नादात्मक हैं, इस नाद का अनुसंधान ही शाक्त-साधना का मुख्य विषय है, किन्तु दुःख की बात यह है कि सामान्य लोग बाह्य बातों पर अधिक बल देते हैं।

ललिता सहस्रनाम में कहा गया है कि देवी का ध्यान स्त्री या पुरुष—दोनों रूपों में किया जा सकता है क्योंकि देवी न स्त्री लिङ्ग है, न पुल्लिङ्ग। ललिता-सहस्रनाम में इस देवी के लिए अक्षरों की संख्या के अनुसार मंत्रों का विधान किया गया है यथा—

पिंडमंत्र : एकाक्षरी मंत्र

कर्त्तरिमंत्र : २ अक्षर के

बीज : ३ से ९ अक्षरों तक के

मंत्र : १० से २० अक्षरों तक के

माला : २० से अधिक अक्षरों की माला होती है

मंत्र या विद्या को 'कादि' या 'हादि' विद्या के नाम से पुकारा जाता है। प्रारम्भ में 'क' होने पर 'कादिविद्या' अन्यथा 'हादि विद्या' होती है।

कुंडलिनी योग : 'षट्चक्रभेद' द्वारा नादानुसंधान ही शाक्त-योग का मुख्य विषय है। आज्ञाचक्र के भेदन के बाद ज्ञान का उदय होता है। इसके बाद विन्दु-स्थान है जो योगियों का तृतीय नेत्र है। इसमें स्थित होकर द्रष्टा प्रपंच को तटस्थ होकर देख सकता है। अतः यह समझना कि हठयोग केवल सिद्धि के लिए है, ग़लत है यद्यपि बहुत से योगी हठयोग को केवल सिद्धिदाता मानते हैं।

'विन्दु के बाद अर्धचन्द चक्र है। विन्दु को चन्द्रविन्दु तथा अर्धविन्दु को अर्ध-चन्द कहते हैं इसी में अष्टकला शक्ति का विकास होता है। इसके बाद घोर अवरोधकारी अवस्था का उदय होता है, यह 'रोधिनी' कहलाती है। इसे भेदकर साधक नाद-भूमि में प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्मरन्ध्र में नाद का लय होता है। इसके बाद चित् शक्ति का उदय होता है, तत्पश्चात् त्रिकोणस्वरूपा 'व्यापिका' है, वह

(१) वही, पटल १४, पृष्ठ १३

विन्दु के विलास्वरूप वामादि शक्तित्रय से संघटित है। इसके पश्चात् 'समना' शक्ति का उदय होता है, यह शिव से संयुक्त रहती है। 'समनावस्था' में आकर मन स्पन्दन-हीन होकर समाप्त हो जाता है, इसके बाद 'चिद्रूपा' एक कला रहती है, इसे इसे 'निर्वाणकलारूप' कहा गया है, यही 'उन्मनाभूमि' है, सांख्य इसे ही 'कैवल्य' कहते हैं इसके पश्चात् विन्दु भी लय हो जाता है, महाशक्ति का आवि र्भावि हो जाता है, यही पूर्णता की अवस्था है।[1]

विन्दु का जब लय होता है, तो एक रिक्त दशा उत्पन्न होती है, इसी को योगी 'अमावस्या' कहते हैं, इसके बाद महाशक्ति के आविर्भाव के बाद 'पूर्णदशा' को हो 'पूर्णिमा' कहा जाता है। महाशक्ति की 'अमावस्या' की ओर जो स्फूर्ति है, वही 'कालीरूप'है और पूर्णिमा के रूप में षोडशी त्रिपुरा सुन्दरी या श्रीविद्या व्यक्त होती हैं भयंकर एवं कोमल देवियों के रूप का रहस्य यही है, इसी को 'कालीकुल' या 'श्रीकुल' भी कहा जाता है। इन दोनों के मध्य में तारा या तारिणी विद्या है[2] कुंडलिनी जाग्रत होने पर ही यह अवस्था प्राप्त होती है।

कविराज जी के अनुसार शक्ति-साधना में सकल निष्कल तथा मिश्र शक्ति की ये तीन अवस्थाएँ हैं। क्रम का ध्यान रखने से सकलभाव की उपासना निकृष्ट है, मिश्रभाव की उपासना मध्यम है तथा निष्कल उपासना ही श्रेष्ठ है, कविराज जी बिना गुरु कृपा के और कुंडलिनी के जागरण के किसी को शाक्ति-उपासना का अधिकारी नहीं मानते।

मूलाधार से आज्ञा चक्र पर्यन्त चक्रेश्वरी रूप में शक्ति की आराधना निकृष्ट उपासना है। परन्तु जो साधक इन्द्रिय तथा प्राण की गति का अवरोध कर कुलपथ में प्रविष्ट नहीं हो सकता उसके लिए देवी की अधम उपासना भी नहीं है[3]।

भेद-बुद्धि जब तक है, तब तक मूलाधार से सहस्रदल कमल तक, देवतादि सहित समग्र देवी-चक्र की उपासना ही कर्मात्मक अपरा पूजा है। कुंडलिनी योग के पूर्ण होने पर साधक के हृदय में नाद की अभिव्यक्ति ही आन्तर जप या मानसजप

---

(१) शक्ति अंक—'शक्ति-साधना'—कल्याण गोरखपुर
(२) वही (३) वही

है, इसमें साधक पूर्णतः अंतर्मुख होने पर ही सफल होता है। वस्तुतः यह चित्त को निरन्तर अंतर्मुखता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[1]

षट्चक्र निरुपण : ७२ हजार नाड़ियों के इस शरीर का आधार मेरुदण्ड है। शरीर या पिण्ड ब्रह्माण्ड का ही लघुरूप है।

षट्चक्र : सुषुम्णा के भीतर स्थित माने जाते हैं। ये कमल के आकार के हैं और प्रत्येक चक्र कमल के दल एवं वर्ण भिन्न हैं।

आगे का विवरण षट्चक्र निरूपण (पूर्णानन्द) के आधार पर दिया जाता है।[2] जिसे पृथक् चार्ट पर देखा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण 'षट्चक्रनिरूपण' के आधार पर 'शक्ति-अंक' से दिया गया है। अन्य ग्रंथों में कुछ भिन्नता भी पायी जाती है, जैसे 'बाला-पद्धति' में गणेश, सरस्वती, लक्ष्मी, नारायण आदि देवी-देवताओं का उल्लेख है।

कुछ योगी कंद एवं कुंडलिनी को नाभिस्थल में मानते हैं। कुछ कुंडलिनी को 'अनाहतचक्र' में मानते हैं।[3] जर्मनी के गिखितेल (१७ वीं शताब्दी) महाशय ने कुछ 'मौलिक' चक्र-चित्र बनाए हैं जो शक्ति-अंक में दिए गए हैं। गिखितेल के अनुसार चक्रों का सम्बंध सोम, बुध, शनि आदि नक्षत्रों से है।[4] ललिता सहस्र नाम में 'बैन्दव' नाम से एक नवम् चक्र का भी उल्लेख मिलता है। इसे विन्दुओं का समूह कहा गया है। यथा ह + विन्दु = ब्रह्म (हं) स + विन्दु = सं = सर्ग।[5]

कुंडलिनी योग का वर्णन शाक्ततंत्रों में स्त्री-पुरुष रति-रहस्य के माध्यम से वर्णित हुआ है। जिस प्रकार कोई स्त्री राज-मार्ग पर चलती हुई किसी गुप्त स्थान में अपने पति या प्रेमी से मिलती है और आलिङ्गन के बाद अमृत (वीर्य) गिराती

---

(१) वही
षट्चक्रों का विस्तृत विवरण शक्ति अंक, (पृष्ठ ४५१—४५६) में द्रष्टव्य।
(२) षट्चक्र निरूपण—शक्ति अंक, पृष्ठ ४५३२ से उद्धृत
(३) वही (४) वही
(५) ललिता सहस्रनाम—अँगरेजी अनुवाद, में बैन्दव शब्द की व्याख्या

षट्चक्र निरूपण ※

चक्र	स्थान	कमल दल संख्या	दलवर्ण	बीजाक्षर	तत्व तथा यंत्र	यंत्ररंग	यंत्र बीज	बीजवाहन	यंत्र-देव	शक्ति	यंत्रमध्यदेव	
मूलाधार	मेरुदंड के नीचे	४	रक्त	वँ, शँ, षँ, सँ	चतुष्कोण पृथिवी तत्व	पीत	लँ	ऐरावत हस्ती	ब्रह्मा	डाकिनी		स्वयंभूलिङ्ग को वलयित करके कुंडलिनी-शक्ति पूंछ मुख में दबाकर स्थित है।
स्वाधिष्ठान	लिङ्ग-स्थान के	६	सिन्दूर	बँ, भँ, मँ, यँ, रँ, लँ...............	जलतत्व अर्धचन्द्र	चन्द्रवत्	वँ	मकर	विष्णु	राकिनी		
मणिपूरक	नाभि-प्रदेश के सम्मुख	१०	नील	डँ, ढँ, णँ, ...फँ (तक)	अग्नि त्रिकोण	बालरवि-सदृश	रँ	मेष	वृद्धरुद्र	लाकिनी		
अनाहत	हृदय के सम्मुख	१२	अरुण	कँ.......... ....ठँ (तक)	षटकोण वायु	धूम्र	यँ	मृग	ईशानरुद्र	काकिनी	शक्ति त्रिकोण है।	इस चक्र में 'बाण' नामक एक लिङ्ग भी है, एक अष्टदलकमल है। 'हृत्पुंडरीक' यही है।
विशुद्ध	कंठ के सम्मुख	१६	धूम्र	अँ.......... ....अः (तक)	पूर्णचन्द्राकार आकाश	आकाशवत	हँ	हस्ती	पंचमुख सदाशिव	शाकिनी		
आज्ञा	भ्रूमध्य के सम्मुख	२	श्वेत	हँ क्षँ	लिङ्ग-यंत्र महततत्व	विद्युत वत्	प्रणव	विन्दु-स्थित नाद	'इतर' लिङ्ग	हाकिनी		
सहस्रार	मेरुदंड के ऊपरी सिरे पर	१०००		प्रत्येक दल पर बीस बीस बार प्रत्येक स्वर एवं व्यंजन स्थित हैं।	×	×	×	×	परमशिव			

※ देखिए पृष्ठ २१४

है उसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति सुषुम्ना-मार्ग (राजमार्ग) पर चल कर, गुप्त स्थानों में (चक्रों में) निवास करती हुई महानपति (शिव) का आलिङ्गन करती है और अमृत गिराती है। यह कुंडलिनी, सदा ही सर्प की तरह शब्द किया करती है, कान बन्द कर इस शब्द को सुना जा सकता है। 'देवी पुराण' के अनुसार इसका रूप शृंगाटक की तरह होता है। जिस प्रकार स्त्री के मिलने पर पुरुष के भीतर अग्नि जाग्रत हो जाती है, उसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति के मिलने पर अग्नि से चन्द्रमा द्रवित होता है।[1]

वाणी की अभिव्यक्ति को भी कुंडलिनी योग से समझाया गया है। बीज के समान वाणी का अव्यक्त रूप (परा शक्ति) मूलाधार में स्थित रहता है। पश्यन्ती अवस्था में यह बीज अंकुरित होने की ओर उन्मुख होता है। मध्यमा वाणी की वह अवस्था है जब दो पत्तियाँ प्रकट होती हैं किन्तु परस्पर संयुक्त रहती हैं बैखरी वाणी की वह अवस्था है जब अलग-अलग पत्तियों की तरह वाणी प्रकट होती है, किन्तु मूल में वह मूलाधार से संयुक्त रहती है। नित्यतंत्र के अनुसार वायु के द्वारा परावाणी सर्वप्रथम मूलाधार में जाग्रत होती है, तत्पश्चात् वह वायु ऊपर उठती है और स्वाधिष्ठान चक्र में व्यक्त होती है, यह अवस्था पश्यन्ती कहलाती है।

अनाहत चक्र में आकर बुद्धि के संयोग से यही वाणी मध्यमा कहलाती है और तत्पश्चात् वह विशुद्धि चक्र में व्यक्त होकर जब कंठ से प्रकट होती है तब वह बैखरी कहलाती है।[2]

शक्तियाँ : शक्तिपूजा की देवता अनेक देवियाँ हैं। इनमें दस महाविद्याएँ, दुर्गा आदि हैं।

शक्ति पूजा में इनमें से कोई एक देवी उस पूजा की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है, उसी के सम्मुख सारी क्रियाएँ की जाती हैं। इनका विवरण इस प्रकार है।

---

(१) ललिता सहस्रनाम—अँगरेजी अनुवाद में द्रष्टव्य 'कुंडलिनी' की व्याख्या।

(२) ललिता सहस्रनाम—अँग्ररेजी अनुवाद में द्रष्टव्य उपर्युक्त शब्दों की व्याख्या।

दशमहाविद्या—शक्तिपूजा में १० शक्तियाँ मुख्य हैं, यद्यपि अन्य अनेक शक्तियों के उपासना-क्रम तंत्रों में वर्णित हैं। **महाकाली**, तारा, षोडशी, **भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी,** वल्गामुखी, **मातङ्गी, कमला** एवं **धूमावती**, ये क्रमशः महाकाल, अक्षोभ्य, पञ्च मुखशिव, त्र्यम्बक शिव, कबन्ध शिव, दक्षिणामूर्ति काल भैरव, एकमुख महारुद्र, मतङ्ग शिव तथा सदाशिव पुरुष की शक्तियाँ हैं। **धूमावती** पुरुष शून्य है, अतः उसे '**विधवा**' भी कहा गया है।

यह विभाजन महाभारत में नहीं मिलता, ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्गा-सम्प्रदाय दशमहाविद्या सम्प्रदाय से प्राचीन है।

दशमहाविद्या के अतिरिक्त सात माताएँ हैं—**ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्राणी**, तथा चामुण्डा।

दशमहाविद्याओं में षोडशी को श्रीविद्या, ललिता, महा त्रिपुर सुंदरी, बाला आदि नामों से अभिहित करते हैं—इसके दस रूप माने जाते हैं—कुमारी, त्रिरूपा, गौरी, रमा, भारती, काली, चण्डिका, दुर्गा तथा ललिता। इनकी उपासनाविधि भिन्न है और इनके सम्प्रदाय भी अलग-अलग हैं।

इनके अतिरिक्त **नवदुर्गाएँ हैं**। दुर्गा का अर्थ यहाँ देवी है। **शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि महागौरी** तथा **सिद्धिदात्री**। शक्ति अंक (कल्याण) में इनके चित्र ध्यानादि दिये गए हैं।

आयु की दृष्टि से देवियों की पूजा का भी विधान किया जाता है। १ वर्ष की देवी 'सन्ध्या' २ वर्ष की 'सरस्वती' ७ वर्ष की 'चण्डिका' ८ वर्ष की 'सम्भवी' ९ वर्ष की 'दुर्गा' या 'बाला' १० वर्ष की 'गौरी' १३ की 'लक्ष्मी' तथा १६ वर्ष की देवी 'ललिता' कहलाती है[1]

शाक्त लोग 'शक्ति' से ही सृष्टि का विकास मानते हैं, अतः शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा देवी से ही उत्पन्न हुए हैं, इस विकास को यों दिखाया जाता है।[2]

---

(1) Elements of Hindu Iconography. G. N. Rao Vol. (i) Prt (ii)

(2) Ibid Vol (i) part (ii)

आदि शक्ति— सात्त्विक अंश → गौरी + विष्णु

आदि शक्ति— राजस—लक्ष्मी → महालक्ष्मी + हिरण्यगर्भ

आदि शक्ति— तामस—महाकाली → सरस्वती + रुद्र

देश की दृष्टि से देवी के १२ स्थान कहे गए हैं—कामाक्षी (कांचीपुर) कुमारी (केरल) सुंदरी (बंगाल) गुह्लकेश्वरी (नैपाल) भ्रमरी (मलाया) अम्बा (आनर्त) महालक्ष्मी (किरवीर) कालिका (मालवा) ललिता (प्रयाग) विन्ध्यवासिनी (विन्ध्याचल) विशालाक्षी (वाराणसी) तथा मंगलवती (गया)।

त्रिपुरा देवी के तीन पीठ बताये जाते हैं—कामगिरि (कामाख्या पर्वत) जालंधर तथा पूर्णगिरि। इसे ही त्रिपुरबाला, त्रिपुरसुंदरी तथा त्रिपुरभैरवी कहा गया है।

तोडलतंत्र में देवियों के-विशेषकर दस महाविद्याओं के दस भैरवों के नाम भी दिये गए हैं,[1] महाकाल (काली) अक्षोभ्य (तारा) शिव (त्रिनेत्र + पंचमुख) (षोडशी) त्र्यम्बक (भुवनेश्वरी) दक्षिणामूर्त्ति (भैरवी) कबंध (छिन्नमस्ता) एकवक्त्र के (वागला) मातंगशिव (मातंगी) विष्णु या सदाशिव (कमला)। विधवा धूमावती के भैरव का उल्लेख नहीं मिलता।

सम्मोहन तंत्र में चंडेश्वरी, लघुश्यामा, त्रिपुटा वनदुर्गा, शूलिनी, अश्वारूढ़ा, त्रिलोक्यविजया, वाराही एवं अन्नपूर्णा का भी उल्लेख है।[2]

शक्ति-पूजा : परशुराम कल्पतंत्र में ललिताक्रम, श्यामाक्रम आदि कई देवियों की उपासना का वर्णन है, साधक की चित्तवृत्ति के अनुसार ही साधनाओं का विधान किया गया है, प्रत्येक देवी का रूप मंत्र आदि अलग अलग हैं, परन्तु सभी साधनाओं का आधारभूत सिद्धान्त एक ही है, देवी के साथ तादात्म्य। यहअनुभव करना कि **मैं देवी ही हूँ**। यह स्मरणीय है कि देवी या शक्ति को स्त्रीलिङ्ग या पुल्लिङ्ग से परे माना जाता है केवल साधना को सुविधाजनक बनाने के लिए उसे 'स्त्रीरूप' माना गया है। इसका भी एक विशेष सिद्धान्त कल्पित किया गया है। **शाक्तों शैवों एवं वैष्णवों के अनुसार सार्वभौमिकसत्ता का सहसा साक्षात्कार**

(1) Gleanings from the Tantras—Gopinath Kaviraj Vol. (ii)

(२) वही

साधना की अशिक्षित चेतना सहन नहीं कर सकती, अतः उस सर्वातीत सत्ता का अंश एकदेश में अभिव्यक्त रूप ही साधना का विषय बनाया जाता है।

देवी मंत्रोच्चारण के साथ साथ ध्यान करने से स्वतः मानसिक क्षितिज पर स्फुरित होती है, बाहर की मूर्ति तो आंतरिक मूर्ति को जागृत करने का साधनमात्र है, अतः 'मूर्ति' का वास्तविक अर्थ है—'साधक की चेतना में स्फुरित दिव्य-सत्ता का रूप।[1] यही देवी का दर्शन देना है।

पूजा-पद्धित : परशुरामतंत्र कौलों का तंत्र है, अतः कौल-साधना के लिए इस तंत्र को प्रमाण माना जाता है।

इस तंत्र में देवी पूजा में पंचमकार की को आवश्यक कहा गया है। "कलियुग में केवल शुभ आसन से ही देवी की पूजा करे", ऐसा स्पष्ट कहा गया है।[2] कुलार्णव में कहा गया है कि सुरा एवं मांस के पूजन बिना निष्फल होता है।[3]

किन्तु पंचमकार सेवन के विषय में तंत्र जिस सावधानी पर बल देते हैं, उसे प्रायः भुला दिया जाता है। देशी-विदेशी विद्वान और मूर्ख-सभी यह भूल जाते हैं कि शाक्त-शैव तथा तांत्रिक बौद्धों ने समाज में फैली हुई बुराइयों को अनुशासित करने के लिए इन साधनाओं का आविष्कार कर किया था। अतः तंत्र घोषित करता है कि यह पंचमकारव्रत 'असिधाराव्रत' है, यह मनोनिग्रह के हेतु है, विलासिता को धार्मिक रूप देने के लिए नहीं है। अतः स्थिरचित्त के लिए सुलभ

---

(१) यदा जप्तो मनुर्देवि मयाभक्तितः

प्रादुर्बभूव मे सद्यो या सा प्रोक्तेति देवता—

देवीरहस्यः रामचन्द्र काक, पटल १४, पृष्ठ ६-१०

श्रीनगर, काश्मीर १६४१

(२) पूजनीया कलौ देवी—केवलैरासवैः शुभैः

(३) विनाऽलिपिपिशिताभ्यां च पूजनं निष्फलं भवेत्—कुलार्णव परशु-रामकल्प सूत्र से उद्धृत

है और दुर्बलइन्द्रिय के लिए विनाशकर है,[1] संसार के भोगों से भी दुर्बलइन्द्रिय व्यक्ति का नाश ही होता है, जबकि स्थिरचित्त भोग में रत रहकर भी क्षोभरहित रहते हैं।

त्रिपुरार्णव तंत्र ने यह स्वीकार किया है कि ऐसे समय स्थिरचित्तता दुष्कर है। परन्तु यह तंत्र स्पष्टत: कहता है कि बिना स्थिरचित्तता के सिद्धि असम्भव है। भक्ति एवं श्रद्धाविहीन व्यक्ति स्थिरचित्त नहीं हो सकता।

शाक्त सांसारिक चिंताओं को दूर करने के लिए मदिरा का विधान स्वीकार करते हैं, इसके सिवा मदिरा एन्द्रिय-आनन्द को एकदम स्फुरित कर देती है, क्योंकि एन्द्रिक आनन्द के रूप में साक्षात् आनन्दरूपिणी शक्ति का स्फुरण होता है, अत: एन्द्रिय आनन्द की पूर्णजागृतावस्था में ही, उस शक्ति के स्वरूप की एक झलक मिल सकती है, अत: रतिकाल में वीर्यक्षरण के समय जिस प्रकार अन्य कुछ अनुभव नहीं होता, चित्त तन्मय होता है, उसी प्रकार शक्ति के साथ तादात्म्य के समय को अधिकाधिक बढ़ाने के लिए ही पंचमकार सेवन का विधान हैं। इसीलिए 'परशुराम' ने कहा कि 'कामक्रोध मोहमदमात्सर्य विहित हिंसा..........लोक विद्विष्टवर्जनम्' की स्थिति में ही 'पंचमकार सेवन' फल देता हैं, लम्पटता के लिए मदिरादि पान नाशक है। कौलावली निर्णय में इसीलिए पंचमकार का तात्त्विक अर्थ कुलार्णव तंत्र केआधार पर दिया गया है। **सहस्रार चक्र से स्रवित होने वाला अमृत ही मदिरा है द्वैतभाव ही मांस है। इन्द्रिय चांचल्य ही मत्सय है,** इनका भक्षण ही योगी का ध्येय है। **मैथुन से तात्पर्य है कुंडलिनी शक्ति और परशिव की एकता** का। (कौलावली निर्णय-तांत्रिक टैक्स्ट्स, vol XIV, भूमिका, पृष्ठ ११) किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि पंचमकार सेवन केवल प्रतीक के रूप में गृहीत होता है, ऐन्द्रिक आनन्द को तंत्र आध्यात्मिक आनंद का ही एक रूप मानते हैं और पंचमकार उस आनन्द को उल्लसित करते हैं अत: मैथुन के समय ही वृत्तिलय होने से उस आनंद की झलक मिलती है, इस 'आनन्दक्षण' को ही स्थायी बनाने के लिए पंचमकार सेवन होता है, अत: प्रतीकार्थ आध्यात्मिक आनंद पर बल देने

---

(१) अयं तु परम: कौलमार्ग: सम्यङ् महेश्वरि।
असिधाराव्रसतमो मनोनिग्रहहेतुक:
स्थिरचित्तस्य सुलभ: सफलस्तूर्णसिद्धिद: ।—परमानन्दतंत्र,—
परशु राम कल्प सूत्र से उद्धृत

के लिए है, पंचमकार सेवन का निषेध उसका तात्पर्य नहीं है। (द्रष्टव्य-हंसविलास-पृष्ठ ३१८)

कृष्ण मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में विलासी और भ्रष्ट शाक्तसाधकों की निन्दा की है, स्वयं परशुरामतंत्र के टीकाकारों ने शाक्त-वचनों का मनमाना अर्थ करने वालों की भर्त्सना की है कि आजकल अजितेन्द्रिय, चपलजिह्व, शिश्नोदर-परायण, रागान्ध लोग 'पीत्वा, पीत्वा पुनः पीत्वा' 'आगलान्तं पिबेत् मद्यं' आदि वचनों का वास्तविक तात्पर्य न समझ कर अनर्थ कर रहे हैं।[१] अतएव अजितेन्द्रिय साधक को गन्ध, उदक आदि से शक्ति-पूजा करनी चाहिए, जैसा कि दक्षिण-पंथी शाक्त करते हैं।[२] फेटकारी तंत्र में भी अजितेन्द्रियों के लिए वाममार्ग को सर्वथा गोपनीय कहा गया है।[3]

कौलसाधना में विधि-निषेध का पूर्ण अभाव है, ज्ञान की अंतिम अवस्था में ही साधक इसका अभ्यास कर सकता है। इसमें 'वर्ण', पुरश्चरण (जप) न्यास आदि किसी का विधान नहीं है। देवीरहस्यतंत्र में पंचमकार की महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है, इनमें भी मदिरा एवं मैथुन का विशेष विवरण मिलता है। जिन-जिन द्रव्यों तथा कृत्यों का समाज में निषेध है, उन्हीं उन्हीं को हठपूर्वक कौलमार्गी आचरण में लाते हैं।

मदिरा के लिए कहा गया है कि समुद्रमंथन के समय सदाशिव के सुरापात्र से एक बूँद टपक पड़ी थी, वही 'गुड़लता' बन गई। इस मदिरा या सुरा के अनेक भेद बताये गए हैं और इसे संजीवनी माना गया है।[४]

मदिरापान के सन्दर्भ में सात स्थितियों का वर्णन मिलता है, जो योग की स्थिति को भी संकेतित करती हैं। मदिरापान (तथा अन्य मकारों को भी) स्वरूपानन्द का अभिव्यंजक माना गया है। स्वरूपानन्द में भावना की दृढ़ता से ही निग्रह, अनुग्रह की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, ऐसा विश्वास है।[५]

---

(१) परशुरामकल्पसूत्र—भाग १ पृष्ठ १५१
(२) वही, पृष्ठ १५२
(३) वही
(४) देवीरहस्य—पटल १६
(५) नित्योत्सव—परशुरामकल्पतंत्र (टीकाकार—उमानंद नाथ) १९२३ महादेवशास्त्री, बड़ौदा

आरम्भोल्लास : यह प्रारम्भिक साधना है, इसमें पंचमकार का अनुशासित प्रयोग किया जाता है। इसमें 'त्रैपुरसिद्धान्त' पर बल दिया गया है।

तरुणोल्लास : इसे 'गणपतिक्रम' कहते हैं, इसमें गणपति तांत्रिक देवता के रूप में पूजित होता है। इस क्रम में मदिरा की मात्रा बढ़ जाती है।

यौवनोल्लास : इसमें 'अजपाजप' (हंसस्सोऽहं) चलता है, मदिरा की मात्रा बढ़ जाती है। किंतु गुरु की देखरेख में कार्य होता है।

प्रौढ़ोल्लास : इसमें 'मानसजप' पर बल दिया गया है।

तदन्तोल्लास : वाराही मंत्र का जप होता है, इसमें समग्रयौवना, मदनविवशा शक्ति के साथ विहार होता है, मदिरा की मात्रा बढ़ जाती है।

उन्मनोल्लास : यही 'उन्मन' अवस्था है, इसमें साधक का चित्त सर्वतत्त्वों का लय हो जाता है, क्योंकि इसमें मदिरा सब कुछ भुला देती है।

अत: मदिरापान द्वारा प्राप्त मानसिक अवस्था को प्रतीकरूप में भी स्वीकार किया जाता है। १८वीं शताब्दी के एक तंत्र 'हंसविलास' में कहा गया है कि उन्मनावस्था योग की उच्चतर अवस्था है, इसमें नगाड़े आदि का भी बाह्य शब्द नहीं सुनायी पड़ता और शरीर काष्ठवत् हो जाता है।[1] ललितासहस्रनाम में 'उन्मनावस्था' को मनोन्मनी कहा गया है। यह ब्रह्मरन्ध्र से किंचित् नीचे का स्थान है, जहाँ प्राण-वायु स्थिर हो जाने पर यह अवस्था प्राप्त होती है, इसे 'रुद्रमुख' भी कहा गया है। यहाँ काल देश (Space) तत्त्व, देवतादि का अस्तित्व नहीं रह जाता, यहाँ पूर्ण-स्वातंत्र्य प्राप्त होता है। कबीर ने इसी अवस्था का वर्णन किया है। 'उन्मनी' योगशास्त्रानुसार एक मुद्रा भी है, इसमें नेत्र न बन्द होते हैं, न खुलते हैं। न साँस आती है, न रुकती है, ध्यान एवं ध्येय सब समाप्त हो जाता है।[2]

---

(१) दुन्दुभ्यादि निनादश्च, निःश्रृणोति कदाचन्।
काष्ठवज्जायते देहो—ह्युन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।
हंसविलास : सम्पादक विधुशेखरभट्टाचार्य गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, १९३७ पृष्ठ ४६

(२) ललितासहस्रनाम—अनंतकृष्ण शास्त्री द्वारा मनोन्मनी की व्याख्या।

अनवस्थोल्लास : यह अंतिम स्थिति है, इसमें मदिरा की मात्रा सबसे अधिक दी जाती है। योग की उन्मनावस्था को प्राप्त साधक ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है।[1]

परशुरामकल्पतंत्र में अन्यत्र कहा गया है आरम्भावस्था में उपासनाविषयक इच्छा होने पर भी साधक में तंत्रशास्त्र की अनभिज्ञता रहती है। तरुणावस्था में तंत्र का पठन-पाठन पूरा हो जाता है। यौवनावस्था में शास्त्रज्ञान हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में साधक शास्त्र प्रतिपादित ध्यान में लीन हो जाता है। तदन्तावस्था में ध्यान के बाद उल्लासवृद्धि होती है। उन्मनावस्था में मन शक्ति से युक्त हो जाता है और अनवस्था-स्थिति में साधक 'पूर्णारूढ़' हो जाता है उन्मनावस्था से पूर्व मदिरा चांचल्य उत्पन्न करती है, परन्तु उन्मनावस्था में यत्न बिना ही मन स्थिर हो जाता है। जब यत्न करने पर भी—अर्थात् वामाचार की अति कर देने पर भी मन चंचल नहीं होता तब उसे 'अनवस्था' की स्थिति कहते हैं, यही अंतिम स्थिति है। उल्लास का अर्थ है अपने अन्तःकरण का ज्ञान अर्थात् आत्म ज्ञान। विद्वान् साधक स्वरूप का सूक्ष्मबुद्धि से अपने आप ही शोधन करता है। इस प्रकार चेतना का शोधन करके प्रौढ़ावस्था (तुरीयावस्था) पर्यन्त 'समयाचार' का पालन करना चाहिए अर्थात् विधि-निषेध मानना चाहिए तत्पश्चात् 'यथा काम विहार' किया जा सकता है।[2]

विहार के लिए शक्ति या स्त्री की प्राप्ति के विषय में कुछ नियम बताये गए हैं, यथा जो स्त्री स्वतः आसक्त हो, उसी का भोग करना चाहिए, उदासीन को धनादि देकर आकर्षित करने का प्रयत्न शास्त्र-विरुद्ध है।[3]

वामाचार साधना का उद्देश्य है, घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति तथा शील का क्रम-क्रम से नाश कर देना, इससे चेतना को संकुचित करने वाले आवरण नष्ट हो जाते हैं और पिण्ड में स्थित शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं।

शाक्ततंत्र साधना के तीन भेद करते हैं—पशु, दिव्य एवं वीर। 'पशु' साधक मर्यादावादी होते हैं, उनके लिए दक्षिण पंथ है। दिव्य साधक मुद्रा, मंत्र

---

(१) नित्योत्सव—उमानन्दनाथ

(२) परशुराम कल्प सूत्र—भाग १, पृष्ठ ३३६-३३८

(३) वही, पृष्ठ ३३८

मंडल को नहीं छोड़ता तथा वामाचार का सेवी होता है। वीरसाधक के लिए विधि-निषेध नहीं है।

वीरसाधना ही कौलसाधना है जिसका कुछ परिचय हमने दिया है। इसमें भयंकरतम साधना 'श्मशान साधना' है। विना श्मशानसाधना के कलियुग में पूजा योगादि निष्फल रहते हैं। यह 'भैरव (भयंकर) साधना' कहलाती है।

श्मशान साधना वस्तुतः भय पर विजय प्राप्त करने के लिए है, जिस तरह पंचमकार का उद्देश्य चित्त की एकाग्रता है, उसी तरह घृणा, भय, लज्जा, आदि पर विजय प्राप्त करने के लिए श्मशानसाधना है। शाक्तसाधक जानबूझ कर अपने को उन स्थितियों में डालते हैं, जिनमें मन क्षुभित हो और ऐसे समय में ही वे अपनी चेतना को निराकुल रखने का अभ्यास करते हैं।

क्योंकि 'श्मशान' सर्वाधिक रूप से भय, लज्जा, घृणादि को उत्पन्न करने-वाला है, वहाँ शृंगाल का घोर रव होता है, चिता की दुर्गंधि उड़ती है, भूत-प्रेत-पिशाच विचरते हैं, चारों ओर विघ्न ही विघ्न उपस्थित होते है, अतः श्मशान को परम उपयुक्त स्थान माना जाता है। कायर एकाकी ऐसे स्थान पर जाने का भी साहस नहीं करते; किन्तु यहीं 'अष्ट भैरव' विचरते हैं और उनके भक्त 'वीर' साधक भी। श्मशान को इसीलिए 'वीरभूमि' कहा जाता है।

रात्रि के प्रारम्भ होते ही, श्मशान में पहुँचकर, न्यासादि द्वारा शुद्धि करके देवी का ध्यान करते हुए मंत्र का जप करना चाहिए। प्रार्थना करे कि "हे ज्वालकरालवदना देवी ! तू कल्पान्त में सृष्टिनाशिनी है, प्राणी तुझमें ही लय होते हैं, तू मुझ पर अनुग्रह कर।'[१]

श्मशान साधना में भी भक्ति, प्राणायाम, ध्यान, आदि सभी का मिश्रण दिखायी पड़ता है। श्मशान साधना से ही साधना को 'भैरव' रूप प्राप्त होता है। अघोर, कापालिक, भैरव जैसे साधक श्मशान साधक ही हैं। श्मशान-साधना में पंचमकार द्वारा 'परस्त्री' को संतुष्ट करने का विधान किया गया है और 'बलि' जैसे कर्म भी किये जाते हैं। शिव के अङ्क में लेटी हुई देवी का ध्यान किया जाता है।[२]

---

(१) देवी रहस्य—पटल १६।

(२) वही।

'कौलावली निर्णय' में श्मशान में 'शव साधना' का विस्तृत वर्णन है। यहाँ यह भी कहा गया है कि शाक्तों के अतिरिक्त वैष्णव, गाणपत्य, शैव तथा अन्य मंत्रों के साधक भी शवसाधना करते हैं [1] सम्भव है वैष्णवादि में भी प्रथम भयंकर क्रियाएँ प्रचलित रही हों, क्योंकि पांचरात्र में योग पर पर्याप्त बल दिया गया है।

किसी स्वस्थ, युवा, वीर, सुन्दर व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके शव को लेकर उसकी पीठ पर साधक बैठकर मंत्र का जाप करे। पीठ पर देवी का यंत्र बनाया जाता है और शव की शिव के समान पूजा की जाती है। इस प्रकार के मंत्र जप को 'पुरश्चरण' कहते हैं। कौलावली निर्णय के १४ वें अध्याय में इस साधना का विस्तृत वर्णन है। अनेक द्रव्यों से शव की पूजा की जाती है, उसे चंदन, पान, सुगंधि आदि से सजाया जाता है। मौन जप से साधक का आसन हिलने लगता है और नाना विघ्न आते हैं, निर्भय होकर मंत्र जाप करते रहने पर सिद्धि मिलती है। शव को सम्बोधित करके जो स्तोत्र पढ़ा जाता है, उस पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि यह साधना भी चित्त की स्थिरता की परीक्षा के लिए की जाती है, हे भीम ! भव्यलोचन ! भावुक ! शवों के अधिप ! तुम हमारी रक्षा करो।[२] इस प्रकार के भक्ति-भाव से ओतप्रोत स्तोत्रों से शव साधना की जाती है। अतः भाव ही फलदायक है, क्रिया विशेष नहीं। भक्ति से ही पूजन होता है, यह बार-बार कहा गया गया है[3] भावना की विशेषता के कारण ही इसे 'वीरभाव' कहा गया है।

शवसाधना से अवश्य शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं और सिद्धि प्राप्त होती है, तन्त्रों का यह अटल विश्वास है।

---

(१) वैष्णवे गाणपत्ये च शैवे चैवाऽन्यमन्त्रके !
शाक्ते चैव विशेषेण साधयेत् साधकोत्तम :—कौलावली निर्णय चतुर्दश उल्लास १-५ श्लोक।

(२) वही—१२५-१३० श्लोक।

(३) भक्तितः पूजयित्वा च रात्रौ तावत् सहस्रकम्—वही २४५-२५० श्लोक।

कुमारीपूजा : 'वीरभाव' में 'विधि' का उल्लंघन ही ध्येय हो जाता है। बलात्कार भी इस अवस्था में वैध माना गया है[1] स्त्रियों में अति सीमा तक पहुँचा हुआ आदर-भाव बार बार वर्णित है। बाला, यौवना, वृद्धा, सुन्दरी, कुत्सिता, महा-दुष्टा—सभी को प्रणाम करना बताया गया है, क्योंकि स्त्री साक्षात् देवी मानकर शाक्तसाधना में पूजित होती है। कहा गया है कि स्त्री (शक्ति) ही देवता है, स्त्री ही प्राण है, स्त्री ही शोभा है, अतः स्त्रीगणों में विहार आवश्यक है अन्यथा अपनी स्त्री के साथ ही साधना करनी चाहिए।[2]

स्त्रियों की प्राप्ति में वीरसाधक जाति का ध्यान नहीं रखते, नटी, कापालिकी, वेश्या, रजकी, नापित की पत्नी, ब्राह्मणी, शूद्रकन्या, गोपालकन्या, मालाकार की पत्नी—इन नौ को 'नवकन्या' कहा गया है। महानिशा (अमावस्यादि) में इन्हें लाकर इनकी पूजा करना चाहिए।[3]

इन नवकन्याओं को 'श्रीचक्र' में स्थापित किया जाता है और गुप्ताङ्ग की पूजा की जाती है ! इस समय की 'भावना' का वर्णन मनोरंजक है—

सुषुम्ना के मार्ग से आत्मा की अग्नि में मन रूपी स्रुवा से साधक को धर्माधर्म रूपी छवि को अर्पित करना चाहिए। देवी का स्मरण (या परायी स्त्री का स्मरण) करते हुए मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। रतिकेलि करता हुआ तथा जप में संलग्न साधक शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करता है।[4] रतिकेलि के अन्त में शुक्र से शक्ति को तृप्त करना ही यज्ञ है।

देवीरहस्य में स्तम्भन, मोहन, मारण, आकर्षण, वशीकरण, उच्चारण, शांतिक, पौष्टिक आदि सिद्धियों का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। इन सबमें

---

(१) रतिकाले महेशानी, दीक्षाकाले च कन्यका।
बलाद्वा यत्नतो, बुद्ध्या पावयेत् परयोषितम्
सुरया रेतसा वापि जलेन मधुनाथ वा।
संभोगेऽभिषेचयेन्नारीं चण्डां वा मत्यर्वाजताम्।
स्वकीयां परकीयां वा रूपयौवनगर्विताम्—देवीरहस्य—पटल २३

(२) स्त्रियो देवाः स्त्रियः प्राणः स्त्रिय एव हि भूषणम्।
स्त्रीगणेषु सदा भाव्यमत्यथा स्वस्त्रिचामपि—वही

(३) वही (४) वही—पटल २३

देवी के साथ तादात्म्य से ही सिद्धि मानी गई है, यद्यपि अनेक जादू से युक्त क्रियाएँ भी इनमें मिलती हैं।

सिद्धियों की प्राप्ति में भी मंत्र जपते समय साधक के चित्त की जैसी अवस्था होती है, वैसी ही 'सिद्धि' प्राप्त होती है।

चक्रपूजा : 'कुहू' पूर्णिमा, संक्रान्ति, चतुर्दशी या अष्टमी की रात्रि में शाक्तसाधक सामूहिक रूप से चक्रपूजा करते हैं। इसमें गुरु की देखरेख में सभी तांत्रिक विधान के द्वारा 'शक्तिपूजा' होती है। पंचमकार का शोधन करने के बाद भोग एवं बलि का विधान किया गया है। चक्रपूजा में 'शक्ति' (स्त्री) और वीर-साधकों का उच्छिष्ट खाया, पिया जाता है।[1]

देवीरहस्य तंत्र में अन्यत्र दक्षिणाचार, वामाचार और कुलाचार—इन आचारों का अलग-अलग वर्णन भी मिलता है, यद्यपि कौलमार्ग एवं कुलाचार को सामान्यत: अलग नहीं किया जाता। इसे 'दुर्गा' के तीन आचार कहा गया है।

दक्षिणाचार में प्रभात स्नान, सन्ध्या, मध्याह्न में जप, ऊन का आसन, खीर, शकर आदि सात्विक भोजन, रुद्राक्षमाला धारण, पाषाण के पात्र तथा अपनी स्त्री के साथ भोग ही विधेय माना गया है इसमें मदिरा का निषेध है।[2] इस मार्ग में देवी के अतिरिक्त अन्य अमुख्य देवताओं की भी पूजा हो सकती है, उदाहरण के लिए आज के शाक्त मंदिरों में बीच में देवी की मूर्त्ति तथा पार्श्वों में विश्णु, गणेश, शिव आदि की भी मूर्त्तियाँ रहती हैं, किन्तु देवी ही मुख्य रूप से पूज्य मानी जाती है। दक्षिण मार्गी शाक्त ऋषि, देव, पितर मनुष्य आदि के लिए 'पंचयज्ञ' का सम्पादन करते हैं और विधि-निषेध मानते हैं। वाममार्ग में देवी के साथ एकता होने के कारण पितृ ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण, की चिन्ता नहीं रहती न पंच-यागादि करने पड़ते हैं। वह संसार का आनंद लेता है, वह शेरों पर सवार होता है, सम्पत्ति, स्त्री एवं अन्य भोगों को जीतता है, भूतप्रेतादि को वश में करता है। वायु के समान निर्भय विचरता है। प्राय: वाममार्गी जान-बूझकर मर्यादा का उल्लंघन करते हैं।

---

(१) द्रष्टव्य—देवीरहस्य—पटल ५८

(२) वही, पटल—५६

अतः वामाचार मे मनुष्य के दाँतों की माला, पाषाण के पात्र, केशमुंडन, सिंहचर्म का आसन, स्त्री केश का कंकण तथा पंचमकार का सेवन विधेय बताया गया है। कलियुग में ही वामाचार को ही 'आशुसिद्धि दायक' बताया गया है।

कुलाचार में कुलस्त्री, कुलगुरु, कुलदेवी की उपासना तथा पूजा होती है। कुल-स्त्री को देवी मानकर बलपूर्वक लाकर पूजा करे। तथा शुक्र से दुर्गा को तर्पण दे।

देवीरहस्य दक्षिणाचार एवं कुलाचार से वामाचार को अधिक महत्त्व देता है।[1] कौलमार्ग और वामाचार को यहाँ एक माना गया है।

वामाचार का सबसे प्रबल रूप 'कामाख्या' में माना जाता है। यहाँ त्रिपुरा या कुमारी पूजा में १६ वर्ष की कन्या का ध्यान किया जाता है। इसके प्रत्येक अंग पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। किन्तु कुमारी का अर्थ सदैव 'अक्षतयोनि' नहीं होता, परन्तु 'त्रिपुरभैरवी' रूप केवल वामाचारी साधकों द्वारा ही पूज्य कहा गया है।

देवी के ६ दास (Attendants) कहे गए हैं—भग, भगजिह्वा, भगास्य, भगमालिनी, भगोदरी तथा भगारोहा।

देवी की उपासना में वासना तथा भय देवी पर समर्पण किया जाता है। ६ त्रिकोणों का योनिचित्र बनाकर मध्यविन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस साधना में समयाचारी या दक्षिणपंथी केवल यह कल्पना करते हैं कि मैं शक्ति के साथ मैथुन कर रहा हूँ, किन्तु वामाचारी वास्तविक रूप में भोग करते हैं। कौलों में भी कुछ केवल चित्र मंत्र या चक्र पर ही ध्यान जमाते हैं, किन्तु उत्तरकौल स्त्री की योनि पर ध्यान केन्द्रित करते हैं।[2]

वामाचार में भोग एवं योग के विरोध को समाप्त करने का प्रयत्न है। 'कौल-रहस्य' में कहा गया है कि कौल योग भोग तथा योग से युक्त है, अतः वही सबसे

---

(१) दक्षिणां च कुलं चैव वीरैः साधकसत्तमैः।
त्याज्यं दूरात् कलौ देवि, वाममेव भजेत् कलौ—वही, पटल ५६

(२) बेनीकांत काकाती : इस पुस्तक में कालिका पुराण के आधार पर शाक्तसाधना वर्णित है।

अधिक प्रिय माना गया है[1] अन्यत्र कहा गया है कि कृष्ण भोगी थे और शुक योगी थे, वसिष्ठ कर्मकाण्डी थे, राम तथा जनक राजमार्गी या निष्कामकर्मयोगी थे— ये ही पाँच तत्वदर्शी माने गए हैं।[2]

भाव की दृष्टि से पशुभाव सामान्य जन के लिए तथा वीर भाव और दिव्य भाव उच्च साधकों के लिए माना जाता है। इन तीनों भावों के तीन भेद किये जाते हैं। पशु, स्वभाव पशु तथा विभावपशु पशुभाव में कुछ भी ज्ञान नहीं होता न ज्ञान के प्रति उन्मुखता ही होती है। स्वभाव पशु में 'ज्ञानोन्मुखता' जागृत हो जाती है। विभावपशु में ज्ञान प्राप्त करने की चेतना निश्चित हो जाती है। जब उच्चता की ओर चलने की इच्छा के साथ-साथ प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है, तब वह वीर साधक कहलाता है। वीरसाधक भी स्वभाव वीरभाव एवं विभाव वीरभाव को क्रमशः प्राप्त करता है, इसमें ही वामाचार का प्रयोग आता है, अन्त में 'दिव्यभाव' है जिसमें साधक पाशों से युक्त होकर स्वच्छन्द विचरता है।[3]

शाक्त-साधना द्वारा निरूपित सभी आचारों कोमल और भयंकर क्रियाओं में 'भाव' को ही मुख्य आधार माना गया है। बाह्याचार इस 'भाव' को या तो प्रेरणा देने के लिए हैं अथवा इस 'भाव' के उच्चतर स्थितियों में रूपान्तरण के लिए हैं अथवा इस परीक्षा के लिए हैं कि दिव्यता की ओर रूपान्तरण हो रहा है या नहीं और यह कि किस सीमा तक यह रूपान्तरण हो चुका है। इस दृष्टि से शवसाधना, कुमारीपूजा, चक्रपूजा आदि को देखने पर तंत्र-साधना का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। कौलावली निर्णय में स्पष्ट कहा गया है कि भाव के बिना यंत्र, मंत्र, वीर साधना, अष्ट कुल, अकुल, पीठपूजन, कन्याभोजन, स्वकुल में प्रीति, दान, जितेन्द्रियता, कौलाचार आदि कोई कुछ भी फल नहीं देते, अतः मंत्रजप

---

(१) भोगयोगात्मक कौल, तस्मात्सर्वाधिकं प्रिये—हंसविलास, पृष्ठ १०४ से उद्धृत

(२) कृष्ण भोगी, शुको योगी, वसिष्ठः कर्मकारकः।
राजानौ रामजनकौ पञ्चैते तत्वदर्शिनः—हंसविलास, पृष्ठ १०४ से उद्धृत।

(३) द्रष्टव्य—कौलावाली निर्णय की भूमिका—पृष्ठ १४

स्तोत्रपठन आदि में साधक उसी भाव में निमग्न होकर—तादात्म्य द्वारा हीसिद्धि प्राप्त करता है ।[1]

भयंकर क्रियाओं को छोड़कर शाक्त-साधना की आधारभूत सिद्धान्त 'भाव' पर आधारित है, शैव, बौद्ध एवं वैष्णव तंत्रों में भी यही सिद्धान्त दिखायी पड़ता है, देवता का ध्यान[2] उसके साथ भावात्मक एकता—देवतामय हो जाना ही उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों में स्वीकृत हैं । शाक्त तथा शैव मूलप्रवृत्ति काम को भोग द्वारा वश में लाते हैं, इसमें विरोधाभास दिखायी पड़ता है, परन्तु है नहीं, भोग के समय भावना ही मन को कलुषित करती है, यह भावना कि 'मैं कुछ अनुचित कर रहा हूँ' इस भावना के निकल जाने पर वही भोग ग्लानि नहीं उत्पन्न करता अत: कुमारी पूजाति में स्त्री को देवी रूप में स्वीकार—सम्पूर्ण विलास की परिस्थिति को शाक्त साधक एक सर्वथा पवित्र और दिव्य भाव द्वारा बदल देते हैं, इसी के सदृश वैष्णव भक्त ध्यान द्वारा राधाकृष्ण की नग्न रति को देखकर लज्जित नहीं होते, उसे दिव्य-रति मानकर प्रसन्न हो होकर देखते हैं और जन्म-जन्मांतर देखते रहना चाहते हैं अत: प्रवृत्ति से प्रेरित कर्म में, सामाजिक कारणों से जो भय, लज्जादि संयुक्त हो जाते हैं, उन्हें अपने मन की भावदशा को बदल देने पर सरलता से ही जीता जा सकता है । इसी प्रकार काम प्रवृत्ति जो मूल प्रवृत्ति है, उसे भी 'दिव्यकर्म' समझ कर करने से—काम को संतुष्ट करते समय यह भावना करने से कि यह मिलन ब्रह्माण्ड व्यापी शक्ति एवं शिव का—युगल मिलन है, साधक के मन में लज्जा ग्लानि कम होने लगती है और अंतत: मन शांत हो जाता है । वैष्णव इसी क्रिया

---

(१) न भावेन विना चैव यन्त्र मन्त्र फलप्रदा: किं वीरसाधनैर्लक्षै: किम्वाऽऽ-कृष्ट किं पीठपूजनेनैव किं कन्या भोजनादिभि:, स्वकुले प्रीतिदानेन किं कुलाकुलै: । परेषान्त थैव च । भावेन लभते मुक्ति भावेन कुलवर्धनम्, भावेन गोत्र वृद्धि: स्यात् भावेन काय शोधनम्—कौलावली निर्णय—एकादश उल्लास ५-१० श्लोक

(२) मूलाधारे स्मरेत् दिव्यं, त्रिकोणं तेजसा निधिम्

'श्यामा रहस्य' में कुंडलिनी को स्मरण या ध्यान पर ही बल दिया गया है, द्रष्टव्य—'श्यामा रहस्य'—जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण—१८९६ ई० सम्पादक—पूर्णानन्द ।

को केवल ध्यान करते हैं उससे साधक की वासना का दिव्य स्तरों पर प्रक्षेपण हो जाने से—वह 'दिव्यभाव' में बदल जाती है।

गंधर्वतंत्र में कहा गया है कि वेद द्वारा बहिष्कृत वस्तुओं का इस प्रकार उपयोग करो कि साधना में सफलता मिले। उपयोग की विधि तथा भावना से वस्तु पवित्र या अपवित्र होती है।[1] अतः अद्वैत भावना से शक्ति पूजा ब्रह्म में मन को स्थित करती है और द्वैतभाव से नरक में डालती है।[2] भंडारकर ने लिखा है कि शाक्त सम्प्रदाय में प्रत्येक पवित्र साधक देवता को स्त्री समझ कर यह अनुभव करता है कि मैं भी स्त्री हूँ। त्रिपुरा की उपासना में एक सम्प्रदाय इसी विधि का अनुगमन करता है, यहाँ भी भावना की विशेषता ही दिखायी पड़ती है।[3]

गोपीनाथ कविराज ने ब्रह्म यामल से उद्धरण देकर साधना में चित्त वृत्ति ही मुख्य है, इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है ब्रह्म यामल में कहा गया है कि स्नान, शौच, तर्पण आदि सब 'मानस ही होता है, यंत्रवत् आचार करने से कुछ नहीं होता।

शक्ति एवं शक्तिमान की एकता का सिद्धान्त ही शाक्त शैव, वैष्णव एवं तांत्रिक बौद्धमत का सार है। दस महाविद्याओं में 'कमला' तथा दस महाभैरवों में इसी[4] लिए 'विष्णु' की गणना तंत्रों में की गई है। श्रीकृष्णायामलतंत्र में कहा गया है कि विष्णु के अवतार अपनी शक्ति सहित अवतार लेते हैं। वृन्दावन दो प्रकार का है (१) भूमि पर या भौम (२) दिव्य। दिव्य वृन्दावन लिङ्ग व योनि पर आधारित है लिङ्ग व योनि ही प्रकृति व पुरुष है। इसकी शक्ति 'राधा' है, राधा के अतिरिक्त अन्य शक्तियों के साथ भी पुरुष क्रीड़ा करता है, यही गोपी लीला है। इससे जो 'रस' प्राप्त होता है, वह भी शक्ति व शक्तिमान की लीला का ही प्रतिमान है[5]

(१) गंधर्वतंत्र—रामचन्द्र काक तथा हरभट्ट शास्त्री १९३४, श्रीनगर, कश्मीर पटल—३१

(२) वही पटल ३६

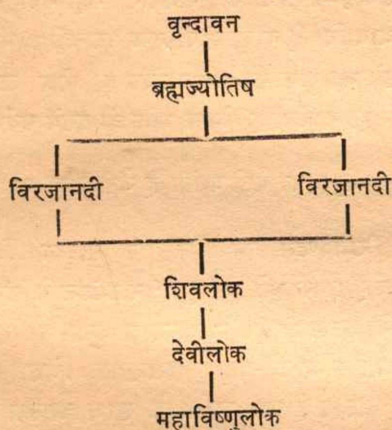
(३) बेनी कांत काकाती—पृष्ठ ५२ से उद्धृत

(४) स्नानादिर्मानसः शौचो मानसः प्रवरो जपः।
पूजनं मानसं दिव्यं, मानसं तर्पणादिकम्—
Gleanings from the Tantras—G. N. Kaviraj—Page 164

(५) वही, पृष्ठ १८५

राधिकोपनिषत् में जीव को स्त्री तथा कृष्ण को 'यति' कहा गया है।[1] राधा ही ह्लादिनी शक्ति है, अर्थात् ब्रह्म जो आनन्द स्वरूप है, वही राधा के रूप में व्यक्त होता है[2]

श्रीकृष्णयामल तंत्र में विष्णुलोक का वर्णन इस प्रकार मिलता है—



कथा है कि ब्रह्मा इस लोक में गए। महाहरि ने पथप्रदर्शन किया। यह महाहरि नीले रंग का था, कमलनयन, अष्टभुज गिरधारी था। ब्रह्मा जब शिवलोक गए तो देखा कि लिङ्ग महायोनि को स्पर्श कर रहा था इससे 'अर्ध नारीश्वर' प्रकट हुआ। अर्ध नारीश्वर ने कहा कि मैं कृष्ण एवं दुर्गा रूपी राधा का तेज हूँ। कृष्ण का मंत्र प्रकट हुआ—

'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन बल्लभाय स्वाहा'

तत्पश्चात् ब्रह्मा विरजा नदी पर गए, यह ज्योतिर्मयी है, यहाँ विष्णु की वंशी, मृदंगादि सुने, यहाँ गोविन्द की कीर्त्तन हो रहा था। नदी में कदम्ब का प्रतिबिम्ब था। उसमें स्थित एक कल्पवृक्ष पर मयूर पंख धारी पीताम्बरधारी एक बालक आसीन था, उसकी गोद में राधा थी। देवताओं ने वहाँ पहुँचने का प्रयत्न किया, किंतु उन्हें रोक दिया गया।

---

(१) वही

(२) वही—१८६

इसी प्रकार एक परवर्ती तंत्र 'हंसविलास' में तंत्र एवं वैष्णव मत की आधारभूत एकता बतायी गई है। हंसविलास में जो परंपरा दी गई है, उसमें महेश्वर-पार्वती के साथ राधा-कृष्ण, का भी उल्लेख है[१]।

हंसविलास में राधाकृष्ण लीला को 'राजयोग' कहा गया है।[२] क्योंकि यह मानसिक भावना पर आधारित है वाह्य क्रियाकाण्ड पर नहीं। भक्ति की परिभाषा में कहा गया है कि इससे भव दुःख का शमन होता है, मोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, इसमें न योग है, न तप है, न अर्चा है, केवल भक्ति ही इसमें सर्वस्व है।[३]

इस मार्ग में गुरु महिमा की वैसी प्रशंसा है जैसी वल्लभमत में मिलती है।

हंस विलास में 'रासमण्डल' एवं 'चक्र' में सादृश्य दिखाया गया है। इसमें पंक्तिबद्ध या चक्रवत् साधक खड़े होते हैं।[४] रासमंडल में पंचमकार को वास्तविक अर्थ में ही प्रयोग में ला सकते हैं। यथा व्योमपङ्कज से स्रवित सुधा ही सुरा है, पलाशी या मांस भोजी-वह है जिसका चित्त 'पर' में लीन हो जाता है। मैथुन का तात्पर्य है पर शक्ति के साथ आत्मा के मैथुन से उत्पन्न आनंद, न कि दुराचार।[५]

इसी प्रकार 'रास' का वास्तविक अर्थ किया गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है, वह आनन्द इस शरीर में प्रतिष्ठित है, उस आनन्द का अभिव्यंजक

---

(१) हंसविलास-दीक्षाप्रसंग

(२) हंस विलास—पृष्ठ १०५

(३) भवदुःख प्रशमनान्मोक्ष ज्ञान प्रदानतः।
तीव्रार्थं करणाद्देवि भक्तिरित्य भिधीयते—न योगी न तपो नार्चा.........
भक्तिरेका विशिष्यते—हंस विलास—पृष्ठ ११६

(४) पंचन्याकारेण वा सम्यक्-चक्राकारेण वा प्रिये।—पृष्ठ १२३

(५) व्योमपङ्कंजनिष्पन्दसुधापानरतोभवेत्
परे लयति यश्चित्तं पलाशी स निगद्यते
परशक्त्यात्ममिथुन संयोगानन्दनिर्भरः
यः आस्ते मैथुनं तत्स्यादपरे स्त्रीनिषेवकाः—वही, पृष्ठ १२५

होने से यह 'रास' है। और इस रास में तत्पर व्यक्ति ही 'रसिक' कहलाता है।[1]

स्पष्ट ही यह रास की तांत्रिक व्याख्या है। परन्तु सिद्धान्ततः यह वैष्णव-सिद्धान्त से दूर नहीं है, विशेषकर कृष्णभक्त वैष्णवों से जिनमें आनन्द प्राप्ति के लिए ही साधना की जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि रास सम्प्रदाय ही एक अलग सम्प्रदाय था जो वैष्णवों तथा तांत्रिकों के सिद्धान्तों में समानता देखकर, दोनों का समन्वय करता हुआ प्रचलित हुआ था, क्योंकि हंसविलास में वेद से वैष्णवमत को वैष्णवमत से दक्षिणमार्ग को, उससे वाममार्ग को, वाम से सिद्धान्तमत को, और सिद्धान्तमत से उत्तम रास सम्प्रदाय को श्रेष्ठ कहा गया है[2] अर्थात् वैष्णवधर्म का रसरासवादी रूप ही यह तंत्र स्वीकार करता है।

हंसविलास तंत्रमार्ग में शैवों-शाक्तों के साथ वैष्णवों को भी स्वीकार करता है, यद्यपि ऊर्ध्व आम्नायमत या शैवमत को ही श्रेष्ठ बताता है।[3]

हंसविलास के अनुसार अनेक लोक हैं, इनमें गणेशलोक, सूर्यलोक विष्णुलोक, शिवलोक एवं शक्तिलोक ही श्रेष्ठ हैं। इनमें अलग अलग मंत्र तथा शास्त्र प्रचलित हैं। विष्णु मूर्तियों में 'गोलोक विलासिनी' मूर्त्ति श्रेष्ठ मानी गई है।[4]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोलोक का वर्णन तांत्रिकों के लोक वर्णन से अद्भुत सादृश्य रखता है।

हंसविलास तंत्र 'शुष्क वैरागियों' का घोर खंडन करता है—

---

(१) आनन्दो ब्रह्मणोरूपं तच्चदेहे व्यवस्थितम्।
तस्याभि व्यञ्जको रासो, रसिकस्तत्परायणः॥
हंसविलास—पृष्ठ १३६

(२) सिद्धान्तादुत्तमो रासस्तस्मात्परतरं न हि—वही, पृष्ठ १३९

(३) वही, पृष्ठ १४८ (४) वही—१५१

संन्यासियों के लिए कहा गया है कि ये शक्तितत्त्व से परिचित नहीं हैं, ये आनन्द रहित हैं, शुष्क हैं[१] इनमें दण्डी, जटिल, मुण्ड, नग्न, आदि अनेक रूप वाले संन्यासी हैं।[२] गृहस्थधर्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है, इसकी भी ये संन्यासी निन्दा करते हैं[३], अतः आनन्दवासी साधक को राधा या लक्ष्मी का स्मरण करना चाहिए, यह 'स्त्रीतत्त्व' अत्यधिक रहस्यमय और गंभीर है।[४] 'तन्वीतत्त्व' को न समझ कर ही लोग निन्दा करते हैं, स्त्री संसार को तारने के लिए है, डुबाकर मार देने के लिए नहीं।[५]

अतः कलियुग में भक्तियोग ही श्रेष्ठ है, इसमें 'मिथुन रूप' का ध्यान किया जाता है[६] शिव भक्ति या राधाकृष्ण की समरसता या विलासावस्था का ही ध्येय है। इसी सामरस्य को छन्दों में बाँधा जाता है, भगवान के स्नान, अलंकरण नीराजना, पुष्पांजलि आदि का विधान भी इसीलिए है। नायिकाभेद हावभाव अलंकारादि के काव्यमय वर्णन भी इसी 'युगल उपासना' के मर्म के उद्घाटन के लिए हैं।[६]

इस युगलरस का चमत्कार रास में प्रकट होता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

रसमयः कश्चित् चमत्कार विशेषो रासः स च सर्वत्र व्याप्तः। सामरस्यात् 'रसो वै सः', रस सच्चिदानन्द लक्षणं शक्तिशिवैक्यरूपं तस्य विलासो रासः अनिर्वचनीयलीला चमत्कृतिः।[७]

---

(१) अज्ञात्वा तात्त्विकं स्त्रीणां रूपमुद्भ्रान्त मानसाः।
शून्यवैराग्यसंशुष्का, भ्रमन्तिभुवि केचन—हंसविलास, पृष्ठ १७२

(२) दण्डिनो जटिलाः केचिन् मुण्डा नग्नाः पिशाचवत्।
राजयोगो न तैर्दृष्टो; मोक्षस्तु प्राप्यते कुतः :—वही, १७२

(३) वही, पृष्ठ १७३
(४) वही, पृष्ठ १७४
(५) वही, पृष्ठ १७५
(६) वही, पृष्ठ २६८
(७) वही, पृष्ठ २७२

अर्थात् ब्रह्मानन्द ही रास है, वह सर्वत्र व्याप्त है। यह रस शक्ति एवं शिव की एकता के स्वरूपवाला है, उसी ब्रह्मानन्द की क्रीड़ा रास है, यह ऐसी अप्राकृतिक लीला है कि इसे शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता।

वैष्णवों के रास की प्रामाणिक व्याख्या से यह व्याख्या पूर्णतः मिलती है।

वृन्दावन के कृष्ण को तंत्र 'आद्यललिता' कहते हैं। वही पराशक्ति पुरुषरूप धारण कर राधा आदि शक्तियों के साथ क्रीड़ा करती है, इस क्रीड़ा के दो रूप हैं एक क्रीढ़ा बाह्य है जो जगत् के रूप में हमारे सम्मुख है और दूसरी आंतरिक है जो ब्रह्माण्ड से परे गोलोक में होती रहती है; जगत् की लीला कभी होती है और कभी लुप्त हो जाती है; परन्तु गोलोक लीला नित्य है।[१]

'गो' शब्द वाणी या श्रुति के लिए गृहीत होता है, इसी प्रकार गोपी का अर्थ 'पराशक्ति' है, गोपाल परमशिव है, अतः गो-गोपी साधारण धेनु जाति नहीं है। गो, गोपीलीला द्वारा शक्ति, शिव की नित्य लीला का ही वर्णन हुआ है।[२]

स्त्री-पुरुष की यह जो बाह्यरति है, यह आध्यात्मिक दृष्टि से होने पर सिद्धि देती है, यह सम्भव न हो तो 'कीर्त्तन' करना चाहिए अर्थात् कीर्त्तन में भगवान की आनन्दमय लीला का ध्यान करे।[3] इसीलिए वैष्णव रासलीला का ध्यान एवं कीर्त्तन करते हैं। हंसविलास स्पष्ट कहता है कि तंत्रों में साधक रतिक्रीड़ा करते हैं, वैष्णव उसका गायन करते हैं और गायन भी सुरति ही है।[४] इस प्रकार यह 'युगल उपासना' एक रहस्य है, इसे सब नहीं जानते, अप्रकट होने से ही यह 'सरस' है, प्रकट होकर प्रत्येक वस्तु नीरस हो जाती है।[५]

इस रहस्यमय युगलरति का गायन ही भक्त लोग किया करते हैं, इसीलिए इस मार्ग में विधि-निषेध नहीं है, लोक एवं धर्म के भी यह विरुद्ध प्रतीत होता है, किन्तु रासरसिक तन्त्री आदि वाद्य बजाकर केवल रसना द्वारा गायन करते हैं और

---

(१) हंसविलास, पृष्ठ २७३ (२) वही, पृष्ठ २७५

(३) तदभावेऽधिदैवतरासः कीर्त्तनीयः—वही; पृष्ठ ३०८
(तत् का अर्थ—भौतिक रति है)

(४) गायनमात्रमेव सुरतम्—वही, पृष्ठ ३१६

(५) वस्तुतो यद्रहस्यं तत्र सारस्यम्, यत्प्रकटं तन्नीरसम्—पृष्ठ ३२१

तांत्रिक साधक केवल गाकर संतोष नहीं लाते, वे स्वयं युगलरति द्वारा स्वयं रास में भाग लेते हैं ऐसे तांत्रिक 'परमहंस' कहलाते हैं ।[1]

हंसविलास से वैष्णव एवं तांत्रिकमत की आधारभूत एकता स्पष्ट हो जाती है । 'पारानन्द सूत्र' से भी इस व्याख्या की पुष्टि होती है ।[2]

तंत्रों में 'अनर्थनिवृत्ति' पर भी बल दिया गया है और वैष्णभक्ति मार्ग में केवल ईश्वर का वशीकरण ही ध्येय है, दुखनाश की इच्छा को स्वार्थ माना जाता है, यहाँ तक कि मुक्ति की इच्छा को भी भक्त स्वीकार नहीं करते ।

---

(१) वही, पृष्ठ ३२२—३२३

(२) पारानन्द सूत्र—स्वामी त्रिविक्रम तीर्थ—बड़ौदा १९३१ भूमिका—बिधु शेखर भट्टाचार्य

कश्मीर-शैवमत

संदिग्धेऽपि परे लोके, त्याज्यमेवाशुभं बुधैः ।
यदि नास्ति ततः किं स्यादस्ति, चेन्नास्तिको हतः ।

—तंत्रालोक—अभिनवगुप्त

पारलौकिक सत्ता में सन्देह होने पर भी वह माननीय है । यदि परलोकादि की सत्ता नहीं है, तो कोई हानि न होगी, किन्तु यदि कहीं पारलौकिक सत्ता और परलोकादि की सत्ता हुई तो नास्तिक का विनाश निश्चित है ।

स्वपरामर्शमात्रं यदपराधः कियानसौ ।

—तंत्रालोक

संसार में सबसे बड़ा अपराध 'स्व' का परामर्श न करना है ।

शैवमत-परंपरा

अभिनव गुप्त ने शैव-परंपरा का विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार यह शास्त्र 'प्रसिद्धि' पर आधारित है। वेद का प्रामाण्य यहाँ स्वीकार्य नहीं है। प्रसिद्धि (परंपरा) पर आधारित यह शास्त्र वैदिक मार्ग से श्रेष्ठ है। वेदों पर आधारित शास्त्रों में ज्ञान एवं योग सम्बंधी स्वानुभव का अभाव है। अतः ये 'अंधः शास्त्र' हैं, शिव-शासन ऊर्ध्व शास्त्र है क्योंकि तत्त्वज्ञान के लिए विधि निषेध का त्याग आवश्यक है। अधः शास्त्रों में विधि-निषेध स्वीकृत है केवल यत्र तत्र ही स्वानुभव का वर्णन है। ऋषियों के वाक्य क्लेशाकर हैं और अल्प फलदाता हैं[1]। लोक-व्यवहार की रक्षा के लिए धिधि-निषेध में ही संलग्न रहने के कारण शक्ति शास्त्र तत्व ज्ञान से पूर्ण नहीं हो पाये और विधि-निषेध को ऊर्ध्व-शासन माया मानता है।[2]

इस ऊर्ध्व-शासन या आगम मार्ग में(२) श्रीकंठ एवं लकुलीश्वर ये दो सप्रदाय हैं। लकुलीश मत केवल मुक्ति-मार्गी है। श्रीकंठ मत में भुक्ति-मुक्ति दोनों की व्याख्या है। श्रीकंठमत के भी पाँच सम्प्रदाय हैं। इनमें 'भैरव मत' को ही अभिनवगुप्त स्वीकार करते हैं।

शैवपीठ भी दो प्रकार के हैं (१) दक्षिण (२) वाम। दक्षिण पीठ में शिव-तत्त्व प्रधान है। वाम में शक्ति-प्रधानता स्वीकृत है। प्रत्येक पीठ चार प्रकार का है (१) मंडल (२) मुद्रा (३) मंत्र एवं विद्या। इनमें विद्या पीठ सर्वश्रेष्ठ है। अतः अभिनव के सिद्ध योगीश्वर मत में विद्या की प्रधानता है, यद्यपि मंडल, मुद्रा

---

(१) ऋषिवाक्यं बहुक्लेशं—मध्रुवाल्पफलं मितम्।
नैव प्रमाणयेद्विद्वान्—शैवमेवागमं श्रयेत्—तंत्रालोक ३७ आह्निक, कश्मीर संस्कृत सीरीज, जिल्द १२ पृष्ठ ३९५

(२) अधः शास्त्रेषु मायात्वं, लद्दयते सर्गरक्षणात्—वही, पृष्ठ ३९४

तथा मंत्र भी ग्राह्य हैं। अभिनव के त्रिक शास्त्र में वाम एवं दक्षिण दोनों का समन्वय है।[१] इस मत का मालिनी विनय आदि तंत्रों में विवेचन है। भोग और अनायास मुक्ति-प्राप्ति इसकी विशेषता है।

श्रुति के अभाव में शैव-शास्त्र को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, ऐसी शंका उत्पन्न होने पर अभिनव गुप्त 'गुरु परंपरा' को ही प्रामाणिकता का आधार मानते हैं।[२] इसके सिवाय प्रमाण के अभाव में प्रमेय का अभाव नहीं माना जा सकता; क्योंकि इस शास्त्र के उपदेष्टा प्रवंचक नहीं थे।[3] इसके अतिरिक्त जैसे अष्टम यज्ञादि में उत्सन्य शाखा मूल श्रुति की कल्पना कर ली जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी श्रुति की कल्पना कर लेनी चाहिए। श्रुति के अभाव में साक्षात्कृत ज्ञान को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

आप्त वाक्य को प्रमाण सभी मानते हैं, पुनः यह शास्त्र अनिन्दनीय है अतः प्रामाणिक है [४] अन्य शास्त्र साधन हैं और शैव-शास्त्र साध्य है। अतः द्वार द्वारी न्याय से यह मार्ग सर्वश्रेष्ठ है।[५]

आयाति-क्रम—जिस क्रम से यह शास्त्र प्रकट हुआ है, वह क्रम यह है—प्रथम परम्परा → भैरव → भैरवी → लाकुल → अनन्त → गहनेश → ब्रह्मा → इन्द्र → बृहस्पति।

---

(१) अशेष तंत्रसारं तु, वामदक्षिणमाश्रितम्
एकत्र मिलितं कौलं, श्री षडर्वं शासने—वही, पृष्ठ ४००

(२) इत्थं मध्ये विभिन्नं तत्यिकमेव तथा तया।
शास्त्रमस्मद् गुरुगृहे सम्प्रदाय क्रमात्स्थितम्—
तंत्रा० प्रथम आ० जिल्द १ पृष्ठ ४६

(३) न चैते विप्रलम्भका येनैवमन्मथोपदिशेयु:—वही, पृष्ठ ४७

(४) अविग्रीतैव हि प्रसिद्धिरागमः—वही, पृष्ठ ४६

(५) वेदादिभ्यः परं शैवं, शैवाद्वामं च दक्षिणम्।
दक्षिणाच्च परं कौलं, कौलात्परतरं नहि—वही, पृष्ठ ४८
यहाँ 'दक्षिण' मार्ग का अर्थ 'शिव' से उद्भूत शास्त्रों से है जबकि कौलमत, त्रिकमत आदि भैरव से उत्पन्न हैं।

इसमें क्रमशः ६ गुरु और ६ करोड़ मंत्र हैं।[1]

द्वितीय परंपरा : भैरव → भैरवी → स्वच्छन्द → लाकुल → अणुराट् (अनन्त) → गहनेश → ब्रह्मा → शक्र → गुरु। इसी परंपरा में आगे दक्ष, वामन, भार्गव, वासुकि, रावण, विभीषण, राम, लक्ष्मण आदि उपदेष्टा हुए।

तृतीय परंपरा : एक और परंपरा के अनुसार दक्ष, चण्ड, हरिश्चन्द्र, प्रमथ भीम, शकुनि, सुमति, नन्द, कृष्ण आदि स्वीकृत हैं।

अभिनव गुप्त द्वारा स्वीकृत द्वितीय परंपरा के अनुसार लक्ष्मण → सिद्ध गण → दानव → गुह्यक → योगी-जन → राजा—इस परंपरा से शास्त्र अवतरित हुआ। राजाओं द्वारा शास्त्र भ्रष्ट हो गया। तब श्रीकंठ की आज्ञा से सिद्ध-शैव अवतरित हुए। इनमें त्र्यम्बक, आमर्दक, श्रीनाथ त्रिक-दर्शनावलम्बी थे अन्य द्वैताद्वैत के समर्थक थे। त्र्यम्बक-मठ से अवतरित होकर यह त्रिक-शास्त्र आज तक साधकों द्वारा प्रचारित हो रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से शैवसम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत अवैदिक तत्त्वों की स्वीकृति स्पष्ट है। अनुभूति ही प्रमाण है, वेद नहीं। शैवों का या मान्य सिद्धान्त उपर्युक्त आयातिक्रम से पुष्ट होता है। संतकवियों में यही अनुभूतिवाद ही स्वीकृत है और वेदवाद का खंडन किया गया है।

कश्मीरी शैवमत

फर्कुहर के अनुसार ८५० ई० में वसुगुप्त द्वारा शिवसूत्रों का उद्घाटन हुआ। वसुगुप्त ने 'स्पन्दकारिका' एवं 'सोमानन्द' (६०० ई०) ने 'शिवदृष्टि' द्वारा कश्मीरी शैवमत की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। आचार्य उत्पल ने (१० वीं शताब्दी) प्रत्यभिज्ञा कारिका लिखी, रामकंठाचार्य ने (१० वीं शताब्दी) स्पन्दविवृति, तथा उत्पल वैष्णव ने (१० वीं शताब्दी) स्पन्दप्रदीपिका की रचना की। अभिनवगुप्ताचार्य ने (१००० ई०) प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, तंत्रालोक, तंत्रसार, परमार्थसार आदि ग्रंथ लिखे। भास्कर (११ वीं शताब्दी) ने शिवसूत्र वार्तिक (११वीं शताब्दी क्षेमराज (११ वीं शताब्दी) शिव-सूत्र विमर्शिनी तथा जयरथ (१८ वीं शताब्दी) ने तंत्रलोक पर विस्तृत टीका लिखी। शिवोपाध्याय ने 'विज्ञान भैरव' पर (१८ वीं शताब्दी) पर टीका लिखी।

---

(१) अभिनव गुप्त के अनुसार यह प्रसिद्धि अन्य तंत्रों में स्वीकृत है।

(२) यह परंपरा अभिनव गुप्त को मान्य है।

कश्मीरी-शैवमत, इस मत से प्राचीनतर आगमों में प्राप्त मत से अधिक अद्वैतवादी है। सम्भवतः शंकराचार्य की कश्मीर यात्रा के पश्चात् कश्मीरी शैवों पर अद्वैतमत का प्रभाव अधिक होता गया।[1]

मृगेन्द्र एवं मातंगतंत्र आदि प्राचीनतर तंत्र श्री मधुसूदन कौल के अनुसार द्वैतवादी ही नहीं अनेक-तत्व-वादी (pluralists) भी, हैं किन्तु सर्वप्रथम 'स्वछन्द तंत्र' में अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन हुआ। स्वतंत्र इच्छा-शक्ति में विश्वास के कारण इस तंत का नाम 'स्वच्छन्द-तंत्र' पड़ा। इस पर क्षेमराज की टीका प्राप्य है।[2] 'स्वच्छन्द-तंत्र' का समय निश्चित नहीं है, परन्तु वह 'वसुगुप्त' से पूर्व का तंत्र है, यह निश्चित है, अतः कश्मीरी शैवमत का आधार स्वच्छन्द तंत्र, विज्ञान-भैरव जैसे अद्वैतवादी तंत्र हैं। यह सिद्ध करना कठिन है कि विज्ञान भैरव तथा स्वच्छन्द-तंत्र शंकराचार्य से प्रभावित होकर ही लिखे गए हैं, अतः फर्कुहर का यह अनुमान कि शंकराचार्य की कश्मीर-यात्रा ही कश्मीरीमत की अद्वैत-प्रधानता का कारण है, सिद्ध नहीं होती। जब तक यह सिद्ध नहीं होता कि 'स्वच्छन्द-तंत्र' और 'विज्ञान-भैरव' शंकराचार्य के बाद लिखे गए हैं तब तक फर्कुहर का अनुमान केवल अनुमान मात्र है। यह सम्भव है कि शंकर का प्रभाव रहा हो, परन्तु उसका प्रमाण हमें नहीं मिलता। शैवमत पूर्व युगो में द्वैतवादी था, कश्मीर-घाटी में बौद्धों के आदर्शवाद से द्वैतवादी शैवमत का प्रभाव कम हो गया था। परन्तु ८ वीं शता० में वसुगुप्त ने प्राचीन द्वैतवादी शैवमत की आदर्शवादी-अद्वैतवाद-परक (idealist monistic) व्याख्या करके बौद्ध-प्रभाव से कश्मीर को मुक्त किया।[3] इसलिए शंकराचार्य एवं कश्मीरी शैवमत दोनों पर आदर्शवादी महायानी बौद्ध मतों का प्रभाव दिखायी पड़ता है।

---

(1) The Religious Quest of India—J. N. Farquhar, 1920 Page (198)

(२) द्रष्टव्य स्वच्छन्द तंत्र—भूमिका भाग, पृष्ठ ६ Vol 1 Research Depatt, Srinagar. Madhusudan Kaul 1921.

तथा

कश्मीर शैविज्म : जे० सी० चटर्जी (पृष्ठ ५-६)

(३) स्पन्द-निर्णयः क्षेमराज — श्रीनगर-कश्मीर—१९२५ भूमिका भाग—पृष्ठ ३

कश्मीरी शैवमत से पूर्व प्रचलित मुख्य ६४ तंत्रों तथा अमुख्य अनेक तंत्रों का प्रचार था इनकी सूची रामदास गौड़ ने हिंदुत्व (पृष्ठ ४८५-८६) में दी है। इनमें से उक्त विज्ञानभैरव आदि के अतिरिक्त कई तंत्रों से उद्धरण अभिनवगुप्तादि ने दिये हैं।

दर्शन : सत्ता शुद्ध चित् है, देश, काल कारण से परे है, पूर्ण स्वातंत्र्य से युक्त है, निष्कल है। यह सत्ता परमशिव, परात्पर ब्रह्म आदि शब्दों द्वारा संकेतित है। इस सत्ता में संकल्प शक्ति रहती है, यह संकल्प-शक्ति स्वतंत्र और स्वच्छन्द है अर्थात् यह संकल्प-शक्ति चैतन्य के साथ एकीभूत है। स्वातंत्र्य का अर्थ यह है कि चैतन्य विकल्प या भूततत्त्व (Matter) से मौलिक रूप में भिन्न है। चैतन्य स्वतंत्र है और अपनी अभिव्यक्ति (जड़तत्त्व के रूप में) के लिए समर्थ और स्वतंत्र है।

यह संकल्प-शक्ति या स्वच्छन्द-शक्ति दो दशाओं में व्यक्त होती है। सृष्टि के रूप में अथवा लय के रूप में। सृष्टि के समय यह मूल चैतन्य से भिन्न न रहने पर भी भिन्न रहती है और प्रलयावस्था में यह संकल्प-शक्ति पुन: चैतन्य के साथ एकाकार हो जाती है।

शांकर-वेदान्त का ब्रह्म भी शुद्ध चैतन्य है और आगमों का ब्रह्म (आदि सत्ता) भी शुद्ध चैतन्य है। परन्तु दोनों में अंतर है। तंत्रों का चैतन्य (ब्रह्म) स्वच्छन्द शक्ति से युक्त है। यह शक्ति शक्तिमान ब्रह्म के साथ अभिन्न है, एकीभूत है, दोनों एक ही हैं, इस स्वतंत्र शक्ति के द्वारा सृष्टि करने से ब्रह्म को तंत्रों में 'स्वतंत्र-कर्त्ता' कहा गया है। क्योंकि वह रूपों की सृष्टि में स्वतंत्र है। तंत्रों में सृष्टि कारिणी शक्ति तथा शक्तिमान ब्रह्म की पूर्ण एकता स्थापित है। परन्तु वेदान्त में ब्रह्म स्वयं क्रिया रहित है। (अधिकरण रहित) शुद्ध चैतन्य में न क्रिया हो सकती है, न इच्छा, न राग, न द्वेष अत: इस शुद्ध चैतन्य को शांकर वेदान्त 'माया' नामक एक रहस्यमय शक्ति से युक्त कर देता है। यह माया ब्रह्म के साथ एकीभूत (identical) नहीं है। परन्तु फिर भी यही शक्ति जगत् का कारण है। इसे वेदान्त अनिर्वचनीय (सत्, असत से विलक्षण) कहता है। यह माया शक्ति जड़ (Material) है, अत: वह शुद्ध चैतन्य के साथ एकाकार नहीं हो सकती परन्तु साथ ही भिन्न भी नहीं है। श्री गोपीनाथ कविराज इसे "वेदान्त का रहस्यवाद' कहते हैं क्योंकि वेदान्त में 'मायातत्व' की स्थिति दार्शनिक दृष्टि से युक्तियुक्त

नहीं है। तंत्रों में स्वतंत्र या संकल्प शक्ति को अजड़ (Non-MateriaI) माना गया है, इसी लिए वह चित् शक्ति कहलाती है।[1]

इस स्वतंत्र शक्ति के तंत्र में अभिव्यक्ति के समय तीन सोपान कहे गए हैं:—

(१) प्रलय में जब चैतन्यविकल्प से मुक्त होता है तब शक्ति शुद्ध चित् शक्ति या चित् प्रकृति के रूप में अवस्थित रहती है।

(२) विकल्प की ओर उन्मुख शक्ति—इस स्थित यद्यपि विकल्प की सत्ता नहीं होती परन्तु विकल्प की ओर उन्मुखता प्रारम्भ हो जाती है, तब इस शक्ति को माया शक्ति या जड़ प्रकृति कहते हैं।

(३) जब विकल्प का जन्म हो जाता है और जड़ता घनीभूत हो जाती है तब इस शक्ति को 'अविद्या' कहते हैं।

---

(१) त्रिपुरा-रहस्य (Part I, II, III, IV,) सरस्वती भवन टैक्स्ट सिरीज edited by गोपीनाथ कविराज—द्रष्टव्य-कविराज जी कृत भूमिका भाग पर आधारित

गोपीनाथ कविराज के सिवाथ ड० एस० एन० दास गुप्त ने तंत्र तथा शांकर वेदांत का भेद इस प्रकार बताया है कि तंत्रों में 'माया' शांकर-वेदान्त की तरह 'अनिर्वचन' नहीं है, अपितु ब्रह्म की तरह 'सत्य' है, शक्तिमान एवं शक्ति दोनों सत् पदार्थ हैं। अतएव जगत् शक्ति (माया) की अभिव्यक्ति है। अतः वह यथार्थ है, भ्रम नहीं, किन्तु एक अर्थ में जगत् अयथार्थ भी है क्योंकि वह ब्रह्म से एकाकार शक्ति का कल्पित (Modified) रूप मात्रा है।

The change and 'many' of the world are unreal sofar as they are but the assumed modifications and forms of the Same identity of Maya in Brahamn and Brahman in Maya, Shiva in Shakti and Shakti in Shiva. But they are real sofar as they are the modifications of the real.

Philosophical Essays—S. N. Das Gupta
Calcutta 1941 Page, 156.

आगम-प्रामाण्य : पुरातन प्रसिद्ध व्यवहार के कारण 'आगम' प्रामाणिक हैं । आगम का अर्थ है प्रसिद्धि-प्राप्त ज्ञान[1] अन्वय एवं व्यतिरेक प्रसिद्धि के ही उप-जीवक हैं ।[2] अन्वय-व्यतिरेक से प्रसिद्ध वस्तु में साध्य-साधन की खोज की जाती है, यदि ये प्रसिद्ध से स्वतंत्र होते तो प्रति व्यक्ति के अनुसार नाना मत मतान्तर खड़े हो जाते हैं ।

प्रत्यक्ष में भी जिस पदार्थ का जो नाम व रूप प्रसिद्ध है, उसे हम स्वीकार कर लेते हैं । अतः पूर्वकालिकी प्रसिद्धि ही 'प्रमाण' है । इसीलिए आगमों में प्राचीनतम् प्रसिद्धि को प्रमाण माना जाता है । शैव-शास्त्र प्राचीनतम् है, ऐसी सर्वत्र प्रसिद्धि है अतः वही श्रेष्ठ और ग्राह्य है । अन्न सारे शास्त्र शिव की प्रसिद्धि-विद्या (आगम) के ही उपजवि हैं

कविराज गोपीनाथ के अनुसार वेदान्त से तंत्र-दर्शन अधिक तर्क संगत है जबकि डॉ० दास गुप्त के अनुसार तंत्र साधना प्रधान धर्म है, 'दर्शन' उस साधना की केवल पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित किया गया है !

It was essentially a religious form of worship,the tantra had to teach and the Philosophic conception was only in the background. (Ibid)

वस्तुस्थिति यह है कि तंत्र एवं वेदान्त दोनों को साधना से अलग केलल 'शुद्ध-दर्शन' के रूप में देखने पर अनेक कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं । युरोप के दार्शनिकों ने साधना से अलग रहकर 'शुद्ध दर्शनों' की रचना की है, परन्तु साधना-प्रधान भारतीय दृष्टि से वे तर्कपूर्ण नहीं हो सके और भारतीय दर्शनों को तो युरोपीय दार्शनिक प्राचीन शास्त्रों पर आधारित होने के कारण शुद्धदर्शन ही नहीं मानते । अतएव मेरी दृष्टि में वेदान्त एवं तंत्र दोनों को साधना प्रधान दर्शन ही माना जाना चाहिए । यह अवश्य माननीय है कि शांकर वेदान्तों तर्क-वितर्क में अधिक आनन्द लेते हैं जबकि तांत्रिक साधनो पर बल देते हैं ।

(१) प्रसिद्धि मनुसन्धाय—सैवचागम उच्यते-तंत्रालोक—३५ आह्निक, जिल्द १२, पृष्ठ, ३५६

(२) अन्वय व्यतिरकौ हि, प्रसिद्धेरूप जीविकौ—वही

व्यवहार में भी प्रसिद्धि ग्राह्य है अन्यथा विवाद से ही प्रत्येक बार निश्चय हुआ करता कि अन्न खाना चाहिए या थाली। अतः व्यवहार में प्रसिद्धि से भी आगम प्रामाणिक हैं।

जब तक परिमित ज्ञान रहता है, तब तक शैव शास्त्र को स्वीकार नहीं किया जाता, अन्य शास्त्रों के पश्चात् जब परिमित-ज्ञान पूर्ण हो जाता है तब अंत में साधक शैव हो जाता है, अतः अन्त में सबको शैव-शासन स्वीकार करना होगा। जिन पर शिव की कृपा होती है वे प्रारम्भ में ही शैव-शासन को स्वीकार करते हैं। शिव ने ही ब्रह्मा, विष्णु, आदि रूप धारण कर वैदिक, सांख्य, योग, पांचरात्र, बौद्ध, अर्हंत, न्याय, वैशेषिक, सिद्धांत्त, शाक्त आदि मत अधिकारी भेद को ध्यान में रखकर प्रकट किये हैं।[३] शिव के 'साद्योजात' मुख से शास्त्र प्रकट हुए हैं। वामदेव मुख से वैदिक मार्ग, अघोरमुख से आध्यात्मिक मार्ग प्रकट हुए हैं। लौकिक ज्ञान में धर्म प्रधान है। पांचरात्र मत एवं वैदिक मार्ग में धर्म तथा ज्ञान दोनों हैं, बौद्ध अथवा अर्हंत मार्ग वैराग्य प्रधान हैं। सांख्य में ज्ञान एवं वैराग्य दोनों हैं। योग में ज्ञान; वैराग्य तथा ऐश्वर्य हैं और शैव मार्ग (अतिमार्ग) में बुद्धि, भावना, लोक सबसे अतीत है। सारे शास्त्रों का पर्यवसान इसी शैवमार्ग में होता है। अतः कोई भी शास्त्र निन्दनीय नहीं है, सब शास्त्र शिवोद्भूत हैं।[४]

शुद्ध-विद्या तक चित् शक्ति की प्रधानता रहती है और जड़ तत्त्व अप्रधान रहता है, किन्तु शुद्ध विद्या के पश्चात् जड़ तत्त्व की चैतन्य पर प्रधानता होती जाती है। चेतना का स्वातंत्र्य समाप्त हो जाता है और केवल सत्तारूप में जड़ वस्तुओं में विद्यमान रहती है, उसका प्रभाव जड़तत्त्व पर नहीं रह पाता।

अतः शुद्धविद्या के पश्चात् जब चैतन्य पर जड़तत्त्व का प्रभाव बढ़ जाता है, यह स्थिति 'माया' की स्थिति कहलाती है।

माया के पाँचभेद कहलाते हैं, तंत्रों में इन्हीं को 'कंचुक' कहा जाता है। ये कंचुक परमशिव (आदि सत्ता) की शक्तियाँ हैं जो चैतन्य को आवृत करती हैं।

---

(३) पुरुषार्थं विचार्याशु साधनानि प्रयक्-प्रथक् —वही, पृष्ठ ३७१

(४) सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं, वेदांञ्चैव न निन्दयेत्
यतः शिवोद्भवाः सर्व इति स्वच्छन्द शासने—वही, ३७५

आवरण-डालने की यह स्थिति—'कला', 'विद्या', 'राग', 'काल' और 'नियति' नामों से प्रसिद्ध हैं।[१]

इस प्रकार माया से युक्त चैतन्य जिसमें सीमित संतोष है, सीमित स्वातंत्र्य है, सीमित ज्ञान है, सीमित अनुभव है, 'जीव' कहलाता है,

कला, विद्या, राग, काल और नियति के अतिरिक्त स्थूल सृष्टि का विकास होता है। प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक २४ तत्त्वों का विकास होता है—

अर्थात् प्रकृति + मन + बुद्धि + अहंकार + १० इण्डियाँ + ५ तन्मात्राएँ + ५ महाभूत—ये ही २४ तत्त्व हैं, जीव को मिलाकर २५ तत्त्व होते हैं, इनमें शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या, माया, अविद्या, कला, राग, काल तथा नियति—ये ११ तत्त्व मिला देने पर कुल तत्त्वों की संख्या ३६ हो जाती है।

अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में उपर्युक्त ११ तत्त्वों पर साधना एवं दर्शन—दोनों दृष्टियों से विचार किया है, हम साधना-खंड में उसका विवरण प्रस्तुत करेंगे।

इस प्रकार चित् शक्ति की अभिव्यक्ति के सृष्टि या प्रतीति प्रारम्भ हो जाती है और शक्ति के आकुंचन के समय प्रलय प्रारम्भ हो जाती है। प्रलय के पश्चात् पुनः जीवों के 'अदृष्टों' के सहयोग से ब्रह्म की शक्ति अंश रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकार आत्मा का केवल एक अंश में व्यक्त होना ही 'ब्राह्माभास' है। 'ब्राह्माभास' क्या है? ब्रह्मा अपने एक अंश से—देश, कालादि के रूप में व्यक्त होता है। ये देश कालापि चैतन्य या आत्मा से भिन्न हो जाते हैं। परन्तु चूँकि चैतन्य सर्व-स्पर्शी है, (All embracing) चैतन्य अपने बाहर किसी भी वस्तु को नहीं रख सकता, अतः जो बाहर घटपदादि पदार्थ दिखायी पड़ते हैं वे केवल दर्पण में प्रतिबिम्बत पदार्थ के समान हैं। अतः जगत् वस्तुतः एक प्रतिबिम्ब है जो आत्मा या ब्रह्म में ही अवस्थित है ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति ब्रह्म की स्वतंत्र-संकल्प-शक्ति से द्वारा होने के कारण, वस्तुतः आभास (Reflection) की प्रक्रिया होती

(१) जे० सी० चटर्जी के अनुसार पाँच कंचुकों में कला, नियति, राग, विद्या व कला की गणना की जाती है, जब माया सम्मिलित कर लेने पर कंचुकों की संख्या ६ हो जाती है। गोपीनाथ कविराज के अनुसार कला, नियति आदि पाँच कंचुक माया के ही भेद हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। (विस्तार के लिए द्रष्टव्य—Kashmir Shavism —J. C. Chaterji)

है और इस आभास-प्रक्रिया के लिए अन्य किसी वस्तु की अवश्यकता नहीं पड़ती, अतः जगत् ब्रह्म का आभास है, विवर्त नहीं है जो शङ्कराचार्य मानते हैं, भ्रमात्मक ज्ञान नहीं है अपितु यह उसी अर्थ में सत्य है, जिस अर्थ में हम 'आभास' को सत्य मानते हैं। परन्तु जैसे 'आभास' की सत्ता दर्पण से भिन्न नहीं है, तथैव जगत् ब्रह्म की चित् शक्ति से भिन्न नहीं है शक्ति दर्पण है जिसमें जगत् रूपी प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता हैं। अतः तांत्रिक के लिए जगत् प्रतिबिम्ब की सत्ता के समान सत्य है और चित् शक्ति से अभिन्न है। चित् शक्ति भगवान की स्वतंत्र शक्ति का नाम है इस प्रकार जगत् भगवान की स्वतंत्र इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति है, वह भ्रमात्मक ज्ञान नहीं है की जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रलय की अवस्था में जगत् चित् शक्ति रूपी दर्पण में समा जाता है परन्तु चित् शक्ति या स्वातंत्र-शक्ति प्रलय के बाद भी ब्रह्म के साथ संयुक्त रहती है।

ब्रह्म अपनी स्वतंत्र-शक्ति से स्वयं सार्वदेशिक, सर्वव्यापक, विश्वोत्तीर्ण और असीमित होने पर अस्वेच्छा से ही लीलार्थ अपने को एकदेशिक, और सीमित करता है। ब्रह्म को इस प्रकार सीमित और एकदेशीय करने वाली शक्ति अविद्या या जड़ शक्ति कहलाती है (जो चित् की शक्ति ही है) इसे 'शून्य' या प्रकृति भी कहा गया है। शून्य या आकाश में सत्ता अपने को सर्व प्रथम सीमित करती है, । अतः सत्ता (ब्रह्म) के एकदेशिक और अपूर्ण (पूर्णता की मात्रा में कुछ अभाव की स्थिति) होने से 'जीव' कहलाता है। यह 'जीव' अविद्या से सीमित रहने के कारण जगत् को अपने से भिन्न समझने लगता है यद्यपि मूलतः जगत् चित् शक्ति के रूप में तथा जीव ब्रह्म के रूप में एक ही हैं।

इस प्रकार आदि सत्ता अपने को अपनी स्वतंत्र चित् शक्ति द्वारा दो दो रूपों में व्यक्त करती हैं। जीव रूप में सत्ता 'द्रष्टा' कहलाती है और जगत् के रूप में वही सत्ता 'दृश्य' कहलाती है। 'द्रष्टा' 'दृश्य, को अपने से भिन्न मानने लगता है और सुख-दुख अनुभव करता है जीव अपूर्ण अनुभव (पूर्णाहन्ता का अभाव) ब्रह्म के कारण 'इदम्' यह है अथवा 'मैं हूँ' ऐसा अलग-अलग अनुभव करता है।

ब्रह्म आवरण एवं भिन्नता से परे है अतः सारी सृष्टि ब्रह्म (पूर्णाहन्ता) के साथ एकीभूत रहती है। जैसे अग्नि में 'प्रकाश' एवं ताप दोनों रहते हैं, वैसे ही ब्रह्म में पूर्ण अनुभव (पूर्णाहन्ता) तथा स्वतंत्र चित् शक्ति दोनों रहती हैं। चित्शक्ति

जगत् के रूप में यद्यपि भिन्न प्रतीत होती है, क्योंकि जगत् जड़ और अनेक रूपी प्रतीत होती है, तथापि वह ब्रह्म के साथ एकाकार रहता है।

अविद्या के कारण ब्रह्म में जगत् का आभास प्रतीत होता हैं इस आभास मय जगत् के तीन सोपान बताये गए हैं—

(१) जड़-जगत् को व्यक्त करने वाली शक्ति चैतन्य के साथ एकाकार रहती है परन्तु इस स्थिति में जड़ जगत् अभी व्यक्त नहीं हुआ है। यह जड़ जगत् के बीज रूप में चैतन्य में अवस्थित रहती है। यह अवस्था जिसमें चैतन्य एवं चित् शक्ति एकाकार रहते हैं, शिव, शक्ति, सदाशिव, शुद्ध, विद्या तथा ईश्वर इन पाँच तत्वों द्वारा उपर्युक्त प्रथम स्थिति का वर्णन किया जाता है। इस स्थित में ब्रह्म कुछ सीमित होकर शिव कहलाता है। ब्रह्म सभी प्रकार के विकल्पों से परे हैं जबकि शिव विकल्प से युक्त हो जाता है, परन्तु अभी शक्ति उससे संन्निविष्ट रहती है। अभी तक शिव शक्ति एक हैं, परन्तु 'अहम्' ऐसा अनुभव शिव को होता है 'अहं-भासन' शिव की विशेषता है, परन्तु वह जगत् के विषयों से परे है अर्थात् उसे केवल अपना "मैं हूँ" ऐसा अनुभव होता है, जगत् का अनुभव नहीं होता, क्योंकि अभी सृष्टि-कारिणी शक्ति उसी के साथ संघटित रहती है।

(२) दुसरी अवस्था में "मैं हूँ" ऐसा अनुभव विस्तृत होता है और जब 'महाशून्य' (जो जड़ तत्त्व है) का ज्ञान होता है, अर्थात् 'अहमेव इदम्' ऐसा अनुभव होता है। तब वहीशिव 'सदाशिव' कहलाता है 'मैं ही यह हूँ' यह ज्ञान होने पर शिव सदाशिव कहलाता है।

(३) परन्तु जब जड़ तत्त्व का कुछ प्रभाव और बढ़ने लगता है और जब चैतन्य को यह अनुभव होता है "इदम्-अहम्" यह मैं हूँ तब यह दशा 'ईश्वर' कहलाती हैं।

(४) अब तक चेतन तत्त्व की प्रधानता रही और जड़तत्त्व अप्रधान रहा, परन्तु जड़ तत्त्व एवं चेतन तत्त्व बराबर हो जाते हैं तो चैतन्य की यह स्थिति 'शुद्धः विद्या' कहलाती है।

'शुद्ध विद्या' की स्थिति के बाद 'अविद्या' का विकास होता है। अविद्या की अवस्था को 'अंकुरावस्था' भी कहा गया है। अंकुर में जैसे चैतन्य एवं जड़ तत्त्व मिश्रित रहता है और दोनों तत्त्वों की प्रधानता रहती है, तथैव माया, कला, विद्या

राग, काल तथा नियति नामक अन्य मिश्रित तत्त्व व्यक्त होते हैं, इनमें चैतन्य और जड़ तत्त्व दोनों मिश्रित रहते हैं।

शिव-शक्ति यामल : ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि तंत्रों में शिव एवं शक्ति की एकता ही मुख्य विषय है जीव अज्ञान से मुक्त होकर 'शिव' हो जाता है तो जगत् आकुंचित होकर शक्ति में लुप्त हो जाता है। शक्ति एवं शिव एक और अभिन्न हैं, अतः तंत्रों ने सर्वत्र शिव एवं शक्ति की एकता पर बल दिया है और इस शिव-शक्ति ऐक्य के लिए विस्तृत साधना-पद्धति का आविष्कार किया है।

जगत् शिव-शक्ति में 'यामल' का परिणाम है। यामल का अर्थ है 'संघट्ट'[1]। शिव एवं शक्ति का सामरस्य (मैथुनावस्था में स्थित होना, अर्थात् एक हो जाना) को भी संघट्ट कहा जाता है। शक्ति एवं शक्तिमान् को जननी तथा जनक भी कहा जाता है। क्योंकि सारी सृष्टि शिव एवं शक्ति के यामल[2] से ही उत्पन्न होती है। शक्ति शिव की स्वातंत्र्य शक्ति का नाम है जिसे 'विमला' कहा गया है। हम कह चुके हैं कि जगत् के रूप में ब्रह्म अपने अंश शक्ति रूप में व्यक्त होता है, क्योंकि वह 'आत्मानुभव' करना चाहता है। आत्म-अनुभव की स्फुरणा के कारण ही ब्रह्म शिव एवं शक्ति इन दो रूपों में व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म की शक्ति ब्रह्म के साथ अपृथक् होकर भी जगत् को पृथक् होकर आभासित करती है। शक्ति ही जगत् को निमित्त कारण है अतः उसे 'जननी' कहा गया है।

'जनक' का अर्थ है 'भरिततनुः'। सर्व आकांक्षाओं को पूर्ण करने का स्वभाव है जिसका, वही जनक है। इस जनक के पाँच मुख हैं, चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया। शक्तियों से युक्त कर ब्रह्म पाँच प्रकार के कार्य करता है—

सृष्टि संहार कर्त्तारं, विलय स्थिति कारकम्।
अनुग्रहकरं देवं, प्रणतार्ति विनाशनम्[3] ॥

---

(१) तयोर्यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः
(तंत्रलोक—प्रथम आह्निक) पृष्ठ ४

(२) बौद्धमत में इसी को 'युगनद्ध' कहा गया है।

(३) तंत्रालोक—प्रथम आह्निक, जिल्द १, पृष्ठ ७

इस शक्ति युक्त ब्रह्म (शिव)? अगाधि रूढ़ मिथुनावस्था में स्थित होने पर शक्ति द्वारा सृष्टि की रचना करता है। जिस प्रकार प्राकृत नर-नारी समागमोत्सुक होकर उल्लास से स्फुरित होते हैं और शुक्र एवं रज-स्राव से सृष्टि होती है। वैसे ही शिव-शक्ति को मिथुनावस्था से सारे जगत् की उत्पत्ति होती है। शक्ति-शिव के संघट्ट को मेघ-स्थित विद्युल्लेखा के रूप में देखा गया है।

पाश : शक्ति-शिव को नाना पाशों से बाँधती है। 'कंचुक' भी पाश हैं। इनसे शिव जीवरूप में स्थित होकर अल्पज्ञता के कारण दुःख उठाता है। ज्ञान होने पर इसी शक्ति की सहायता से पुनः जीव अपने स्वरूप को पहचान सकता है, यही 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। 'प्रत्यभिज्ञा' ज्ञान द्वारा ही हो सकती है।

"यह वस्तु ऐसी है, इससे अन्यथा नहीं है" इस प्रकार का ज्ञापन कराने वाली शक्ति का नाम ज्ञान है।[1] जीव को अपने रूप का ज्ञान केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है।

ज्ञान के अतिरिक्त शक्ति के दो रूप और हैं, इच्छा शक्ति एवं क्रिया-शक्ति। शिव का 'त्रिशूल' इन तीनों शक्तियों का प्रतीक है।[2] जगत की सृष्टि के निमित्त पारमेश्वरी इच्छा रूप शक्ति ही इच्छा शक्ति कहलाती है और सृष्टि की क्रिया कर्तृ शक्ति ही क्रिया शक्ति है।

इच्छा, ज्ञान, क्रिया अलग-अलग रहकर भेद उत्पन्न करते हैं और भेद ही 'पाश' है। परम अद्वैत, संवित्ति, स्वातंत्र्य पराशक्ति से युक्त शिव से जो कुछ भी भिन्न है, वह 'पाश' है,[3] अविद्या के कारण हमें भेदात्मक ज्ञान होता है।

अज्ञान का अर्थ तिमिर है जो पारमेश्वरी स्वातंत्र्य इच्छा-शक्ति के उल्लसित होने पर शिवस्वरूप के गोपन होने से उत्पन्न होता है। अज्ञान अपूर्ण ज्ञान है, ज्ञान

---

(१) एवमेतदिदं वस्तु, नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र, ज्ञान-शक्ति निगद्यते॥
तंत्रालोक जिल्द १ आह्निक १, पृष्ठ १८-१९

(२) वही, पृष्ठ १९

(३) भेद प्रथात्मकम् शिवात् अन्यत् तदेव पाशः—वही, पृष्ठ ३४

के अभाव को अज्ञान नहीं कहते। आत्मा में अनात्म का और अनात्मा में आत्मा-बोध ही अपूर्ण ज्ञान है। यही 'आणव मल' कहलाता है।

साधना के लिए शिव के ६ रूप स्वीकृत किये गए हैं—

भुवन, विग्रह, ज्योति, ख, शब्द और मंत्र। इनमें से किसी एक को साध्य बनाकर सफलता प्राप्त की जाती है। भुवन शब्द का अर्थ है—'भोगाधार रूप' लोकादि। विग्रह = रुद्र, क्षेत्रज्ञ आदि शिव के अनेक रूप। शब्द = नाद-साधना। मंत्र – अकार, मकार आदि ज्योति = प्रकाश का ध्यान करना।

एक ही शिव के अधिकारी की मानसिक दशा को ध्यान में रखकर अनेक रूप होते हैं। अतः शिव विश्वमय है और साथ ही विश्वोत्तीर्ण भी है, क्योंकि वह सबसे परे है।[1] जिस प्रकार दर्पण या जल में स्थित प्रतिबिम्ब दर्पण या जल में भी रहता है और इनसे बाहर भी रहता है, वैसे ही शिव विश्व में स्थित होकर भी विश्व से परे भी रहता है। शक्ति और शक्तिमान् की एकता होने से विश्व एवं शिव एक और अभिन्न है। विश्व शिव के अंश शक्ति का रूपान्तर मात्र है।

शक्ति के भेद : पदार्थ अनेक हैं, भिन्न-भिन्न हैं अतः अनेक पदार्थों को देखकर भिन्न-भिन्न शक्तियों की कल्पना की जाती है, मूलतः शक्ति एक है। हम देखते हैं कि ज्वालामुखी पर्वत भभक उडते हैं और मेघ में विद्युत् प्रज्वलित हो उठती है, पर्वत की अग्नि व विद्युत की अग्नि दो पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ते हैं, परन्तु उनमें प्रतीयमान शक्ति मूलतः एक है।[2] जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों में शिव का स्फुरण हो रहा है, अतः उन भिन्न फलभेदों को देखकर हम पदार्थ में शक्ति का आरोप कर लेते हैं।

---

(१) उक्तं च कामिके देवः, सर्वाकृतिर्निराकृतिः
जलदर्पण वत्तेन, सर्वं व्याप्तं चराचरम्—वही, पृष्ठ १०४

(२) फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः—
दृष्टव्य-तंत्रा०, प्रथम आह्निक, पृष्ठ ११०

जगत् शक्ति रूप है। यही शक्ति उपाय रूप में स्वीकृत है। शक्ति के द्वारा शिव का ज्ञान होता है। यह ज्ञान मानस-प्रत्यक्ष है : यथा, भूख प्यास का मानस-प्रत्यक्ष होता है, तथैव शिव का मानस-प्रत्यक्ष सम्भव है। यह मानस-प्रत्यक्ष भी शिव के एक अंश का होता है यथा वृक्ष को केवल रूप का प्रत्यक्ष होता है, रसादि का नहीं, तथैव हमें शिव के एक अंश का मानम-प्रत्यक्ष होता है। नाद-विन्दु आदि शक्ति रूपों द्वारा शिव का मानस-प्रत्यक्ष होता है[1]। शक्ति उपाय है और मन है उपाय कर्त्ता। जिस प्रकार मन से बाह्य-पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार शक्ति द्वारा शिव का मानस-प्रत्यक्ष भी हो सकता है।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं : I प्राण-पद पदार्थ यथा 'गोत्व' 'गो' का प्राण-पद पदार्थ है। II विशेषाधान हेतु : पदार्थ के गुण, यथा शुक्ल, पति, हरितादि गुण—इनसे पदार्थ की विशेषता प्रतट होती है। सम्पूर्ण पदार्थों का प्राणपद तत्त्व आत्मा या चैतन्य (शिव) अतः सारे पदार्थ शिवामृत से परिप्लुत हैं। पदार्थों को इसीलिए अमृतमय कहा गया है। पदार्थों में इसी आत्मा की खोज करनी चाहिए।

वृत्ति : मन की वृत्तियाँ भी दो प्रकार की हैं। 1 भाव 11 अभाव। ध्यान के समय इन दोनों के मध्य में शून्यावस्था (चैतन्य) की झलक मिलती है। मन की लहर या तो भावमय होती है, या अभावमय, इन दोनों के बीच में आत्मा की झलक मिल जाती है, अतः इसी मध्यममार्ग को साधना के समय अपनाना चाहिए। इसी को बौद्ध-दार्शनिक मध्यमा प्रतिपदा कहते हैं, शून्यावस्था भी यही है। शून्यावस्था भाव एवं अभाव नामक वृत्तियों को अलग करती है।

---

(१) रसाद्यनध्यक्षत्वेनाऽपि, रूपादेव यथा तरुम्।
विकल्पो वेत्ति तद्वक्त, नाद-विन्द्वादिनाशिवम्—तंत्रलोक—प्रथम आह्निक। पृष्ठ १२०

(२) उभयोर्भावयोर्ज्ञाने, ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत्
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा, मध्ये तत्त्वं प्रकाशते।
अतएव च उन्मनाभिन्नप्रमातृरूपं परमार्थं—
साक्षात्कार लक्षणमेतद् भवति
उन्मना तु ततोऽतीता, तदतीतं निरामयम्—वही, पृष्ठ १२८

इस अवस्था के पश्चात् 'उन्मनावस्था' आती है और 'उन्मनावस्था' के पश्चात् साक्षात् ब्रह्म प्राप्त होता है।[१] इसीलिए कहा गया है कि ऊर्ध्व-पथ तथा अधो-गति (नम्न-गति = अभावावस्था) को छोड़कर अथवा प्राण एवं अपान वायु को छोड़कर मध्य देशगामी बनकर रामस्थ हो जाना चाहिए। 'रामस्थ' करने वाला मार्ग तभी सुषुम्ना मार्ग कहा गया है क्योंकि वह इड़ा-पिंगला के बीच का मध्य-मार्ग है। इसे तंत्रों में 'ग्राम-धर्म' कहा गया है। इस ग्राम-धर्म द्वारा ही 'राम' प्राप्त होता है। इस सम्बंध में तांत्रिक संतकवि, कबीर, नानक, दादू, सुन्दरादि सभी एकमत हैं।

अभिनवगुप्त ने 'राम' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि जड़ एवं अजड़ (चेतन) विश्व-वैचित्र्य द्वारा क्रीड़ा करने वाला तत्त्व 'राम' है।[२]

राम या शिव एक तत्त्व है। वह आभासरूप विश्व में क्रीड़ासक्त रहता है। तंत्रों का क्रीड़ासक्त या लीलासक्त रूप ही वैष्णवों में भी स्वीकृत है।

विकल्प के नाश से ही यह 'राम' प्राप्त हो सकता है। विकल्प को ही स्मृति कहा गया है।[३] अतः स्मृति रहित स्थिति ही प्राप्त करना साधना का विषय है।

निरंजन : इसी प्रकार अभिनव ने 'निरंजन' की भी व्याख्या की है। निरंजन का अर्थ है जिससे शक्तिमान पूर्णता के साथ प्रकट किया जाय, वही तत्त्व निरंजन है। शक्ति द्वारा ही तत्त्व पूर्णता के साथ व्यक्त होता है, अतः शाक्त का ही तंत्र में 'निरंजन' कहा गया है। शक्ति और शक्तिमान् की एकता के कारण 'शिव' की संज्ञा भी निरंजन भी है। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया द्वारा ब्रह्म अंजित या प्रकट होता है। अतः शक्ति के तीन रूपों में सामरस्य लाकर योगी 'निरंजन' हो जाता है।[४] साधना में क्रिया को भी 'निरंजन' कहा गया है।

---

(१) ऊर्ध्वं त्यक्त्वा विशेत्स रामस्थो मध्यदेशगः—वही, पृष्ठ १३०

(२) तत्तज्जड़ाजड़ात्मना विश्ववैचित्र्यात्मना क्रीड़ति इति रामः—वही, पृष्ठ १३१

(३) सर्वो विकल्पः स्मृति—तंत्रालोक—प्रथम आह्निक, पृष्ठ १३४

(४) लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम्
यस्मिन्नाशु समावेशाद् भवेद्योगी निरंजनः—तंत्रालोक, आह्निक तृतीय, पृष्ठ ११५

साकार ब्रह्म का ध्यान : साकार ब्रह्म साधना की सुविधा के लिए है। विकल्पों का नाश सहसा सम्भव नहीं है, अत: साधारण-बुद्धि वालों के लिए ब्रह्म के मुख हस्तादि की कल्पना करनी पड़ती है। निश्चला-बुद्धि की ओर यह एक सोपान मात्र है। निश्चला-बुद्धि की निराकार तथा निराश्रय राम या शिव ही साध्य बनता है। साकार नहीं, अत: वैष्णवादि साधक सामान्य-बुद्धिवालों के लिए है अंत में उन्हें भी निराकार को ही ध्येय बनाना पड़ता है।

जप : ध्यान के अतिरिक्त जप से भी मुक्ति सम्भव है। भाव एवं अभाव से रहित तत्वस्वरूप का परामर्श ही जप है। मन की मध्यमावस्था—शून्यावस्था में स्फुरित चेतना (संवित्) का परामर्श = मनन ही जप है।

वस्तुत: साधना में भावना का फल मिलता है। जो साधक जिस रूप तत्त्व का आराधन करता है और तन्मयता प्राप्त करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।[3]

यह स्मरणीय है कि उपासक दो प्रकार के होते हैं : I अवच्छेदक उपासक II अनवच्छेदक उपासक। अवच्छेदक उपासक नियत विधि से नियंत्रित रहते हैं; (साकार उपासक इसी श्रेणी में आते हैं)। अनवच्छेद उपासक स्वतंत्र होते हैं, उनके लिए विधि-निषेध नहीं है। वे निरर्गल हैं।

क्या साधना के ये भेद वास्तविक हैं। आगमशास्त्र का कथन है कि ये भेद केवल व्यावहारिक हैं, ज्ञान की स्थूलता में ही भेदों का भ्रम होता है। स्थूलता का अर्थ है—ग्राह्य-ग्राहक भाव का उदय यह उपेय है, यह उपाय है, ऐसा ज्ञान होना ग्राह्य-ग्राहक भाव है, अत: स्थूल क्रियाओं में भेद दिखायी पड़ता है, वस्तुत: कोई भेद नहीं है।

ज्ञान एवं क्रिया : क्रिया तथा ज्ञान में भेद माने बिना क्रियाओं में भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु आगमशास्त्र के अनुसार क्रिया एवं ज्ञान में वस्तुत: कोई भेद नहीं है कहा गया है कि योग तथा क्रिया एक है। तत्व में

---

(३) क्रियादेवी निरञ्जनाम्, वही, पृष्ठ ११४

(१) यतो नान्या क्रिया नाम—ज्ञानमेव हि तत्तथा। पृष्ट १८६८
रूढ़ेर्योगान्तता, प्राप्तमिति श्रीगमशासने—तंत्रालोक-प्रथम-आह्निक

आसक्त मति ही क्रिया है इससे वासना की शांति होती है।[१] तत्व में चित्त का लय हो जाना ही योग है, क्योंकि तत्त्वों में चिति की योजना को चित्त को तत्त्वों में युक्त कर देने को ही योग कहा जाता है (ज्ञान चेतना से भिन्न तत्व नहीं है। अतः ज्ञान योग एवं क्रिया एक एक तत्व है।[२] इसका तात्पर्य यह है कि योग उपासना, ध्यान, जप, सेवा, कीर्तनादि सभी 'ज्ञान' शब्द में अंतर्भूत हो जाते हैं। अतः साकार-निराकार उपासना के भेद व्यावहारिक हैं : जैसे, घट का ध्वंस चाहे प्रस्तर से हो या दण्ड से परन्तु ध्वंस तो होता ही है, तथैव 'मोक्ष' रूप कार्य (वासना का नाश) चाहे किसी भी उपाय से हो सकता है।

साधना के भेद : अधिकारी की मानसिक क्षमता या रुचि के अनुसार साधना के भेद करने पड़ते हैं—इन्हें आगमों में उपाय कहा गया है। शाम्भव, शाक्त एवं आणव ये तीन उपाय बताये गए हैं।

शाम्भव-उपाय : विकल्प रहित स्थिति शाम्भवावस्था है। जड़, परिमित तत्व के निमज्जन से बोध प्राप्त होने पर जो तादात्म्य और तद्रूपता प्राप्त होती है वह 'शाम्भव-आवेश' कहा जाता है। सम्यक बोध के लिए बुद्धि की निर्मलता की आवश्यकता है। चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसी में पड़ता है। यही बुद्धि न्द्रियों को उत्पन्न करती है। इन्द्रिय एवं बुद्धि से परे जाकर स्वारूप में स्थित होना ही शाम्भवी स्थिति है। इसमें 'भावना' नहीं रह जाती। शिव से तादात्म्य होता है।[3] यही 'अनुत्तरावस्था' है। वस्तुतः शाम्भव उपाय एक 'आम्यंतर-ध्यान' in trospective meditation है इससे सहसा ही चैतन्य जाग्रत हो जाता है।

---

(१) योगो नान्यः क्रिया नान्या, तत्वारूढ़ा हि या मतिः
स्वचित्त वासना शान्तौ—सा क्रियेत्यभिधीयते।—वही, पृष्ठ १८६

(२) क्रियासैव च योगः स्यात्तत्वानां चिल्लयीकृतौ। पृष्ठ १६०
तत्वानां चिति योजनात् योगः स्यात् इति नानयो र्ज्ञानातिरेकः वही,

अथवा

योगो नान्यः क्रिया नान्य,—वही पृष्ठ—१६०

(३) तेना विकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी।
शिवतादात्म्यमापन्ना, समावेशोऽत्र शांभवः—तंत्रालोक, प्रथम आह्निक, पृष्ठ, २०६-२१०

प्रतिबिम्बवाद : अनुत्तरावस्था में भैरवी शक्ति नामक शक्ति विशेष की अपेक्षा होती है। 'प्रकाश' को ही आगमों में भैरवी शक्ति कहा गया है, क्योंकि प्रकाश के कारण ही पदार्थ का प्रकाशत्व प्रतीत होता है। प्रकाश, प्रकाश्य से भिन्न नहीं है, यह हम कह चुके हैं। आत्मा रूपी भित्ति में ही पदार्थं प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रतिबिम्ब सर्वदा सजातीय पदार्थं का ही गोचर होता है, विजातीय पदार्थं का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हो नहीं सकता। भूमि, जल, वृक्ष, आदि का रूप ही दर्पणादि में प्रतिबिम्बित होता है, स्पर्शादि का प्रतिबिम्ब गोचर नहीं होता, क्योंकि रूप प्रकाश का सजातीय धर्म है और नेत्र का विषय प्रकाश या तेज ही है, स्पंशादि नहीं।[1]

निर्मल वस्तु में ही रूप का प्रतिबिम्ब पड़ता है, मलिन वस्तु में नहीं अतः शुद्ध चैतन्य में ही यह विश्व प्रतिबिम्बित है : यथा, सुन्दर रूप को देखकर स्पर्शादि की इच्छा होती है, वैसे ही जगत् के रूप रसादि से प्राप्त आल्हाद से अतिशय-आल्हाद रूप चिदानन्द की प्राप्ति इच्छा होती है, क्योंकि पदार्थों में जो आनन्द है वह उसी शिव के आनन्द का आभास मात्र है। वह शिवानन्द का प्रतिबिम्ब मात्र है। इसी-लिए बिम्बानन्द एवं आभासानन्द में भेद नहीं है। यदि यह कहा जाय कि प्रतिबिम्ब तो दिखायी पड़ता है, परन्तु बिम्ब अदृष्ट है तो इसका उत्तर यह है कि पीठ पीछे खड़े हुए व्यक्ति का जैसे हम प्रतिबिम्ब देख सकते हैं, उसी प्रकार विश्व में जो कुछ दिखायी पड़ रहा है वह सब शिव का ही प्रतिबिम्ब है।[2] प्रतिबिम्ब जब इतना सुन्दर और आनन्दमय है तब बिम्ब कितना सुन्दर और आनन्दमय होगा यह सहज ही अनुमेय है। प्रतिबिम्ब रूप पदार्थों से मिलने वाले आनन्द से हम तृप्त नहीं होते, क्योंकि प्रतिबिम्ब रूप जगत् को पदार्थों का आनन्द उस ब्रह्मानन्द की ओर ले जाना चाहता है, परन्तु प्रमाता अपने अज्ञान वश इस आंतरिक प्रेरणा को न समझ कर जगत् के

---

(१) निर्मले मुकुरे यद्वद्भान्ति भूमि जलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः।
तंत्रालोक-जिल्द (२) आह्निकम् (३) पृष्ठ (४)

(२) तस्मादेको महादेवः स्वातन्त्र्योपहितस्थितिः। जिल्द २
द्वित्वेन भात्यसौ बिम्बप्रतिबिम्बोदयात्मता—
तंत्रालोक तृतीय आह्निक; पृष्ठ १३

पदार्थों से मिलने वाले आनन्द तक ही बद्ध रहना चाहता है।[1] किन्तु ज्ञान होने पर पदार्थ-जन्य आनन्द एवं आनन्द में साधक अविरोध देखने लगता है। अतः जो इन्द्रियजन्य आनन्द बंधन में डालने वाला है वही साधक के लिए आत्मानन्द का प्रेरक तथा माध्यम बन जाता है। प्रतिबिम्ब रूप जगत् जीवों पर अनुग्रह करने के लिए—उन्हें परमात्मा की ओर प्रेरित करने के लिए रचा गया है। दुःख देने या भेद उत्पन्न करने के लिए जगत् की सत्ता नहीं है। अतः न यहाँ बंधन है, न मोक्ष है, मूढ़ जीव भय के कारण ही वैसा समझते हैं। जगत् तो बुद्धि प्रतिबिम्बित सत्ता का नाम है।[2] बुद्धि स्फटिक के समान है, उसी में सब विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है।

बिम्ब के दो लक्षण कहे गए है (१) अन्य तत्त्व से अमिश्रित हो (२) स्वतंत्र हो (३) भासमानता हो।

जिसमें सजातीय, विजातीय की व्यावृत्ति न हो वह अमिश्रता है। स्वरूप में स्थित वस्तु स्वतंत्र कहलाती है। अबाधित रूप से प्रतिबिम्बत होने की शक्ति भासमानता है। ब्रह्म के ये ही लक्षण हैं, अतः वह बिम्ब कहा गया है।

इसी प्रकार प्रतिबिम्ब के दो लक्षण हैं (१) स्वरूप की हानि न होना (२) पर-रूप सादृश्य—बिम्ब के सदृश होना। जगत ये ही दो लक्षण हैं। अतः जगत प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म बिम्ब है। बिम्ध के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं है, क्योंकि बिम्ब (ब्रह्म) माध्यम (चित् शक्ति पिंड में 'बुद्धि' = दर्पण) तथा प्रतिबिम्ब (जगत के पदार्थ) की पूर्ण एकता है। चूंकि बिम्ब ज्ञानमय है, अतः जगत भी ज्ञानमय है। अतः ज्ञान से भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। ज्ञानमय होने से तत्त्व के साथ एकाकारिता प्राप्त हो जाती है।[3] ज्ञानमय होने के लिए ज्ञान ही साधन है

(१) प्रच्छन्न रागिणी कान्त-प्रतिबिम्बितसुन्दरम्।
दर्पणां कुचकुम्भाभ्यां, स्पृशन्त्यपि न तृप्यति—वही, पृष्ठ ६

(२) न मे बन्धो न मे मोक्षो, जीवस्मैता विभीषकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धजंलेष्विव विवस्वतः—वही, पृष्ठ २७

(३) तत्तद्रूपतया ज्ञानं, बहिरन्तः प्रकाशते।
ज्ञानाहते नार्थसत्ता, ज्ञानरूपं ततो जगत्
नाहि ज्ञानाहतेभावाः केनचिद्विषयीकृताः
ज्ञानं त्यामात्कं पहत्मेस्मा वसीयते—वही, पृष्ठ २६

क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश है। दर्पण अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता। शिव (बिम्ब) स्वयं अपनी शक्ति से अपने में अपना प्रकाश करता है। अत: उसकी शक्ति निरतिशय स्वतंत्र है। ऐश्वर्य एवं चमत्कारमय है। यही पराशक्ति है, प्रतिभा है। शक्ति तथा शिव से भी परे पूर्ण तत्त्व अनाख्य या अनुत्तर कहलाता है। यह 'अनाख्य' (जिसका वर्णन नहीं हो सकता) सृष्टि का इच्छुक होकर शिव शक्ति रूपता को प्राप्त करता है। चूँकि शक्ति शिव के कुल का (परिवार का) विस्तार करती है, अत: वह 'कौलिक' कहलाती है[1] और शिव को 'अकुल' कहा गया है। अकुल और कौलिकी शक्ति की साम्यावस्था के परे जो अनाख्य तत्त्व है, उसे 'कुल' कहा जाता है। इस 'कुलावस्था' में शिव-शक्ति का भेद नहीं है।[2] इसे प्राप्त कर्त्ता 'कौल' कहलाते हैं। शाम्भवास्था यही है।

शिव (अकुल) तथा शक्ति (कौलिकी) का संघट्ट कुलावस्था के पूर्व की स्थिति है, साधक को प्रथम इसे ही प्राप्त करना पड़ता है। इसे 'समरसता' भी कहा गया है। पिण्ड में भी यह समरसता प्राप्य है। पिण्ड में शक्ति की संज्ञा कुंडलिनी है। जो शिव के साथ नित्य संयुक्त रहती है ब्रह्माण्ड शिव-शक्ति के सामरस्य या सघट्ट से से उत्पन्न होता है (जैसे प्राकृत नर-नारी के संघट्ट-मिथुनावस्था से संतानोत्पोत्ति होती है वैसे ही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति शिव एवं शक्ति के संघट्ट से होती है)। संघट्ट में 'मध्य-मंथक' भाव रहता है। शक्ति मध्य है, शक्तिमान मंथक है। इससे शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया—इन तीन रूपों को प्राप्त होती है। यही रूप त्रिकोण या शृंगाट (सिंघाड़े) द्वारा संकेतित है। फिर इसका रूप 'अम्बिका' कहलाता है। 'ओइम' में जो 'उकार' है अथवा शिव के मस्तक पर जो 'चन्द्रकला' है वह इसी 'अम्बिका' नाम्नी शक्ति का है। पुन: यह 'ज्येष्ठा' कहलाती है, यह 'चन्द्र-विन्दु से उदित कालाग्नि रूपिणी 'रेफ' का रूप धारण करती है। इस प्रकार वर्णों की सृष्टि क्रमश: होती है। इस प्रकार एक शक्ति अम्बिका, ज्येष्ठा, रेखिनी,

---

(१) अकूलस्यास्य देवस्य, कुल-प्रथन शालिनी। कौलिकी सा परा-शक्ति, रवियुक्तो यथा प्रभु :—तंत्रालोक, तृतीय आह्निक, पृष्ठ ७५

(२) यत्रोदितंमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च। तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञ, शिवशक्ति विवर्जितम्—वही।

रौद्री, रोधिनी आदि रूपधारण करती है ।[1] सारे 'वर्ण' शक्ति के रूप है । अतः जप के द्वारा शक्ति जागृत हो जाती है ।

यह शक्ति शिव के साथ अभिन्न है अत: दोनों का यामल, संघट्ट या सामरस्य ही सृष्टि का मूल कारण है। बौद्ध दार्शनिकों ने इसे ही युगनद्ध कहा है। जगत् में स्त्री-पुरुष का समागम इसी पारमार्थिक यामल का पिण्ड स्वरूप है ; (४) यहाँ विश्वोत्तीर्णता विश्वमत्ता से विच्छिन्न रहती है । अत: सर्व-शास्त्रों में इसी को उपेय कहा गया है ।

'संघट्ट' का अर्थ घट्टनं, चलनं, स्पन्दरूपता, स्वात्मोच्छलता किया गया है । 'संघट्टावस्था' में आत्मानन्द का उच्छलन होता है । इसीलिए प्राकृतसमागम में आनन्द का एक रूप रहता है । इच्छा-ज्ञान-क्रिया तीनों का सामरस्य यही है ।

निरंजन : 'नि:शेषेण अंजते' निरंजन का यह अर्थ है । जिससे शक्तिमान् पूर्णता के साथ प्रकट किया जाय, वही तत्त्व 'निरंजन' है । शक्ति द्वारा ही तत्त्व (शिव) पूर्णता के साथ व्यक्त होता है, अत: शक्ति को ही तंत्र में 'निरंजन' कहा गया है । इच्छा, ज्ञान, क्रिया अपने अपने विषयों को प्रकट करती हैं अत: पूर्ण प्रकाश की अभिव्यक्ति होती है । चूँकि शक्ति एवं शक्तिमान् की एकता है, अत: 'निरंजन' शब्द 'शिव' का भी वाचक होता है । इच्छा, ज्ञान, क्रिया द्वारा ब्रह्म अंजित या प्रकट होता है, अत: शिव का त्रिशूल इच्छा, ज्ञान, क्रिया का प्रतीक है । इस त्रिशूल में समाविष्ट होकर योगी 'निरंजन' कहलाता है[2] और साधना में 'क्रिया' की मुख्यता से 'क्रिया' को 'निरंजन' कहा गया है ।[3]

विन्दु : अनुत्तर या अनाख्य परात्पर ब्रह्म, ग्राह्य-ग्राहक रूप में अपने को परिच्छिन्न करता है, स्वरूप गोपन करता है और अज्ञेयतत्त्व जब अपने को संकुचित

---

(१) ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा तीन नामों के कारण देवी को 'त्रिपुरा' भी कहा गया है ।

(२) लोलीभूतमता। शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।
यस्मिन्नाशु समावेशाद् भवेद्योगी निरञ्जनः—तंत्रालोक, तृतीय आह्निक पृष्ठ ११५

(३) क्रियादेवी निरञ्जनम्—वही, पृष्ठ ११४

करके प्रकाश को प्रकट करता है तब वही अनुत्तरतत्त्व की संज्ञा 'विन्दु' होती है।[1] 'विन्दु' का अर्थ है—वेत्ति इति विन्दुः जो विदि या वेदन क्रिया में स्वतंत्र है, उसका अविभक्त प्रकाश ही विन्दु है। अतः इच्छा, ज्ञान, क्रिया के उदित होने पर सोम, सूर्य, अग्नि नामक प्रकाश प्रकट होते हैं। सोम, सूर्य एवं अग्नि में विभक्त प्रकाश वस्तुतः अविभक्त है, वही 'विन्दु' है। विन्दु को स्वच्छन्द-तंत्र में ईश्वर कहा गया है 'विन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम्' और ईश्वर मूलसत्ता के बहिरुन्मेष का नाम है।[2]

नाद : यही प्रकाश—रूप में स्थित विन्दु नादात्मक शब्द के रूप में प्रकट होता है। शब्द का अर्थ है 'स्व से अभेदपूर्वक विश्व का परामर्श'। यह शब्द नादात्मक है। नाद का अर्थ है—"नदति सर्वेषाम् जीव कलात्वेन परिस्फुरति इति नादः" अर्थात् सम्पूर्ण विश्व में नाद स्फुरित होकर ध्वनित हो रहा है। सारी सृष्टि का प्रकाशकतत्त्व यही है। सम्पूर्ण विश्व में नाद के व्याप्त होने से 'अ' वर्ण को सर्वव्यापक कहा गया है। एक ही तत्त्व जीवकला के रूप में और वही तत्त्व विन्दु

---

(१) अत्रानुत्तर शक्तिः सा, स्वं वपुः प्रकटस्थितम्।
कुर्वन्त्यपि ज्ञेय कला, कालुष्याद्विन्दुरूपिणी—वही, पृष्ठ ११६
परमशिव (अनाख्य) स्वतः सर्वप्रथम प्रकाश और (शिव) के रूप में व्यक्त होता है, यह प्रथम 'विन्दु' है और द्वितीय 'विन्दु' है 'विमर्ष' (शक्ति) तथा तृतीय विन्दु है इन दोनों की एकता।

प्रकाश —प्रथम विन्दु—श्वेत विन्दु (वीर्य)
विमर्ष—द्वितीय —रक्त विन्दु (रज)
प्रकाश + विमर्ष —तृतीय—असित विन्दु (दोनों का एक)

प्रकाश विन्दु, विमर्ष विन्दु में प्रतिबिम्बित होता है, प्रकाश विमर्ष (शक्ति, क्रिया) में प्रतिबिम्बित होकर ही अपने रूप को जानता है। सूक्ष्म या निरपेक्ष (Abstract) विचार (thought) अपने स्वभाव को नहीं जान सकता, अतः विचार की अभिव्यक्ति जैसे क्रिया द्वारा होकर ही पूर्ण होती है, वैसे ही परमतत्त्व अपनी विमर्ष शक्ति (क्रिया) में प्रतिबिम्बित होकर अपने स्वभाव का अनुभव करता है। अतः 'विन्दु' को सृष्टि का कारण कहा गया है।

द्रष्टव्य—Philosophical Essays—S. N. Das Gupta, 58-59

(२) स्वच्छन्द-तंत्र—४-२६४

एवं नाद के रूप में व्यक्त हो रहा है। अविभक्त और अव्यक्त होकर भी नाद विभक्त और ब्यक्त प्रतीत हो रहा है।[1]

स्पष्ट है कि सृष्टि के लिए किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अपनी आत्मा में अपना ही आक्षेप वैसर्गिकी स्थिति को जन्म देता है। अतः प्रतिबिम्ब रूप सृष्टि चैतन्य से बाहर नहीं है।

'अ' से प्रारम्भ होकर सृष्टि 'ह' वर्ण तक आकर स्थूल हो जाती है। इसी प्रकार सृष्टि का जड़तत्त्व की ओर विकास होने पर मूल शिवतत्त्व 'हंस' कहलाता है [2]

(१) नाद को 'सदाशिव' भी कहा गया है—नादे वाच्यः सदाशिवः—स्वच्छन्दतंत्र ४—२६५

जिस प्रकार शांकर वेदान्त में जागृत, स्वप्नादि द्वारा सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है, उसी प्रकार तंत्रों में 'नाद' को स्वीकार किया गया है। मीमांसा की तरह तंत्रों में शब्द शाश्वत है। ध्वनि या शब्द से ही जगत की उत्पत्ति है। जिस प्रक्रिया द्वारा यह ध्वनि जगत का बाह्य रूप धारण करती है, वह प्रक्रिया पिण्ड में अवस्थित है, मीमांसा में शब्द एवं अर्थ अचेतन हैं अतः वहाँ शब्द की शाश्वतता बिना किसी सत्ता के मानी गई है। परन्तु तंत्र में वह सत्ता आत्मा है जो शब्द तथा अर्थ, बुद्धि एवं यथार्थ (Matter) के द्वारा आत्मानुभूति करती है। जब विन्दु (प्रकाश) अपने आप विभक्त होता है तब 'अहम्' की अव्यक्त ध्वनि होती है, यही शब्द-ब्रह्म है, इसके भीतर, इच्छा, क्रिया और ज्ञान अवस्थित हैं। इस इच्छा-क्रिया-ज्ञान के स्वरूपवाला शब्द-ब्रह्म या नाद ही बाह्य जगत तथा मनुष्य-शरीर के रूप में अभिव्यक्त होता है। यही सूक्ष्म नाद (ब्रह्म) बाह्य क, ख, ग आदि अक्षरों में व्यक्त होता है। इस सूक्ष्म नाद ब्रह्म में शिव एवं शक्ति संयुक्तावस्था में ब्याप्त रहते हैं, 'अहम्' इस ध्वनि में शिव एवं शक्ति का मिथुनरूप ही व्यक्त होता है। चार सोपानों में—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी व्यक्त होकर अंतिम बैखरी रूप में अक्षरों के रूप में हमें प्रतीत होता है, परन्तु उसके तीन सूक्ष्मतर स्तर और हैं, 'परा' की दशा में नाद सूक्ष्मतम् है और ब्रह्मरूप है, 'पराब्रह्म' में नाद का रूप ग्राह्य-ग्राहकभाव से परे हो जाता है।

(२) हंस शून्यं तथा प्राणं हकारं नामभिः स्मृतम्—तंत्रराजभट्टारक, उद्धृत, तंत्रालोक ३—१४५

सागर जिस प्रकार र्ऊमि-विसर्ग को उत्पन्न करके भी शांत रहता है और लहर तथा सागर भिन्न प्रतीत होने पर भी अभिन्न रहते हैं, तथैव सृष्टि एवं शिव एक और अभिन्न हैं।[1]

सहज : सारी सृष्टि में शिव की इच्छा या काम तत्त्व ही पूर्ण हो रहा है। इसी काम-शक्ति के ध्यान से सर्व-सृष्टि वश में हो जाती है। चूँकि सबके हृदय में वह इच्छा-शक्ति स्फुरित हो रही है, अत: स्वत: सिद्ध है। यह काम-कला अप्रतिहत रूप से स्फुरित हो रही है। उदय और अस्त न होने से इसे 'सहज' एवं स्वयंभू' कहा है। यही नाद एवं विन्दु रूपिणी है। क्योंकि 'सतत उदित-नाद-मात्र स्वभाव' वाली है। यही सृष्टि के मूल में शिव के मन में स्थित 'कामेच्छा' स्थूल रूप में व्यक्त होकर रति-सौख्य के समय अन्य ज्ञान लुप्त हो जाने पर (विगलित वेद्य होने पर) विकल कामिनी तथा कामुक के मन में प्रकट होतीहै। स्थूल रूप में आने पर यह उदित एवं अस्त होती हुई प्रतीत होती है, परन्तु मूलत: यह सर्वत्र, सर्वकालों में स्थित रहती है। स्थूल सांसारिक नर-नारी-रति के समय जिस प्रकार कामिनी के 'हा' 'हा' आदि शब्दों में यह कामेच्छा प्रकट होती है, उसी प्रकार सृष्टि के व्याप्त शब्द भगवान् की चित् शक्ति (कामकला) द्वारा प्रकट हो रहा है। सारी वर्णमाला में शिव के साथ नित्यविहारिणी शक्ति ही प्रकट होती है। अत: सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों रूपों में एक ही 'इच्छा' शक्ति व्यापक है। प्रिया कंठ से जैसे रति के समय नाद उत्पन्न होता है, तथैव इच्छा-शक्ति नाद के रूप में परिणत हो जाती है। चूँकि प्रिया-कंठ से प्रकट होने वाला नाद 'सहज' होता है, सुखकर होता है। अत: नाद को 'सहज' कहा गया है।[2]

---

(१) विसर्ग एव तावान्यदाक्षिप्तैतावदात्मक:।
इयद्रूपं सागरस्य यदनन्तोर्मि संतति :—
तंत्रालोक, तृतीय आह्निक, पृष्ठ १४७

(२) यत्रदक्षरमक्षोभ्यं प्रियाकंठोदितं परम्
सहजं नाद इत्युक्त तत्त्वं नित्योदितो जप:—वही, पृष्ठ १५१
नित्यानन्दरसास्वादाद्धाहेति, गल कोदरे
स्वमंभू सुखदोच्चार: कामतत्त्वस्य वेदक: १५६
अति सौख्य समावेश विवशीकृत चेतस:
अविच्छिन्नं जपन्त्येनमङ्गनासंगमोत्सवे—वही १५१

स्पष्ट है कि कामतत्त्व का ज्ञान तंत्र-साधना में इसलिए आवश्यक है कि स्थूल-रति-प्रक्रिया में वस्तुत: सृष्टि उत्पन्न होने की सारी प्रक्रिया की पुनरावृति होती है। काम-कला के अनुभव से साधक सृष्टि प्रक्रिया को सरलता से समझ सकता है। अत: स्थूल रति के अनुभव से शिव शक्ति की रति या सृष्टि विस्तार का समझना तंत्रों की विशेषता है।

इस प्रकार साधक को यह ध्यान करना चाहिए कि काम शब्द से कथित विसर्ग नेत्रों से निकल गया है, वह मेरे नेत्रों में समा गया है, अथवा साध्यतत्व कानों से निकल गया है, मेरे नेत्रों में समा गया है। इस प्रकार ध्यान से जगत् को एक साथ वश में किया जा सकता है, क्रम क्रम से वश में करने से विलम्ब होता है। यही सच्चा वशीकरण है।

भैरव एवं भैरवी : इच्छा को 'काम' ज्ञान को विष तथा क्रिया देवी को निरंजन कहा जाता है। इन तीनों से युक्त शिव भैरव कहलाते हैं। अंतिम स्थिति में इसी भैरव का ध्यान होता है। यह भैरव शुद्ध चैतन्य मात्र है, विष का निर्वाहक है। निर्द्वंन्द्व और आनन्दमय है। इस अवस्था में साधक को एकीभावात्मक सूक्ष्म स्थिति प्राप्त हो जाती है और साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी भैरव की चित् शक्ति (विसर्ग-शक्ति = क्रिया शक्ति) सम्पूर्ण विश्व को अपने में गर्भीकृत करके (समेट कर) कुण्डलिनी नाम से प्रसिद्ध है। इसी को जगत् की योनि कहा गया है।[1] यही शक्ति वर्णमाला में व्यक्त हुई है, इसी से मंत्र बनते हैं। बिना इस शक्ति के परामर्श के (स्मरण-विचार) मंत्र शरद के बादलों के समान फलहीन होते हैं।[2] भैरवी-शक्ति ही चक्र में पूजित होती है। भैरव एवं भैरवी शक्ति के ज्ञान के बिना मंत्र जाप निष्फल है। शक्ति विमर्श के बिना मंत्र को 'शव' कहा गया है। अत:

अत्रासक्तधियो यान्ति योगयोगीश्वरा: परम्।
स शिरोरहित: काम: कामिनी हृदयालय:।
नेत्रारूढ़ेन ते नाथ, शक्ति दृष्टिं समाहरेत्।
क्षोभयेत् नात्र संदेही,दृप्तामपि वरस्मियम्। वही १५१

(१) या सा कुंडलिनी सात्र, जगद्योनि: प्रकीर्तिता।—
तंत्रालोक-तृतीय आह्नक, पृष्ठ २०७

(२) आदि मान्त्यविहीनास्तु मूलयोनिमजानत:।
न ते सिद्धिकरा मंत्रा निष्फला शरद्भवत्—वही, पृष्ठ २१२

बिना ज्ञान के मंत्रत्व मृगतृष्णा है और शक्ति परामर्श से जो कुछ भी उच्चारण किया जाता है, वह सब मंत्र बन जाता है।[1] अतः भैरव साधना में विसर्ग-शक्ति का ही चमत्कार है।

शब्द-माला में इसी शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। इसे मातृका या मालिनी कहा गया है। विश्व का स्वरूप धारण कर्त्री शक्ति मालिनी कहलाती हैं।[2] अतः वर्णों में ब्रह्माण्ड में सारी शक्ति संचित रहती है। स्वर को अव्यय और ब्रह्म कहा गया है। स्वर शिव हैं और व्यंजन को योनि कहा गया है : यथा योनि में वीर्य क्षोभ उत्पन्न करता है तथा योनि एवं वीर्य के घर्षणादि ले उत्पन्न चांचल्य (लोलीभाव) से योनि भेदित होती है, वैसे ही व्यंजनों में स्वर के संयोग से अनेक अर्थों की सृष्टि होती है। भैरव एवं भैरवी का यह संयोग वर्णमाला में भी दिखायी पड़ता है।

इस भैरवी शक्ति के ज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त होती है। शिव-शासन में इसी को जीवन्मुक्ति कहा गया है, क्योंकि काल नियतादि कंचुक इस ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं और साधक स्वरूप में स्थित होकर निर्द्वंद्व होकर जगत् में विचरण करता है।

विकल्पों के नाश से यह भैरवी-भाव सहज ही प्राप्त हो जाता है।[3] इस 'भैरवी भाव' में इस प्रकार का भाव नित्य रहता है : I यह जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, II यह मेरा ही प्रतिबिम्ब है III यह मुझसे अभिन्न है। ये तीन भावनाएँ शाम्भवावस्था के तीन रूपों को प्रकट करती हैं। 'मैं कर्त्ता हूँ', यह मेरा है, यह शत्रु का है, ऐसी भावना नष्ट हो जाती है। साधक की चेतना उस दीपक के समान हो जाती है जो अन्य जीवों की चेतना को जगा सकता है। 'मैं शिव हूँ' यह परामर्श विश्व-संस्कार का हुताशन बन जाता है। बाह्य दमन-पूजा की

---

(१) श्लोकगाथादि यत्किंचिदादि मान्त्ययुतं ततः
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं, मन्त्रत्वेनैव पश्यति—वही, पृष्ठ २१४

(२) बीजयोनि समापत्ति, विसर्गोदयसुन्दरा।
मालिनी हि परा शक्तिर्निणीता विश्वरूपिणी।—वही, पृष्ठ २२३

(३) अयं रसो येनमनागवाप्तः, स्वच्छन्दचेष्टानिरतस्य तस्य। समाधि योग-व्रतमन्त्रमुद्रा, जपादिचर्या विषवद्विभाति। भूयोभूयः समावेशः, निर्विकल्प-मिमं श्रितः अभ्येतिभैरवीभावं, जीवन्मुक्तपराभिधम्—तंत्रालोक, तृतीय आह्निक, पृष्ठ २४८

आवश्यकता नहीं रहती।[२] ऐसा साधक संसार के उद्धार में, परोपकार, आदि सत्कर्मों को कर्त्तव्य समझकर करता रहता है, तथापि वह कर्म-बंधनों से मुक्त हो जाता है।[3] जलधि के समान साधक की चेतना बाह्योन्मुखता की उपाधि से भूषित होकर उल्लसित और शांत होती रहती है, परन्तु वह साथ ही अक्षुब्ध रहता है।

हठपाक : भैरवी भाव को प्राप्त करने के लिए शांत पाक एवं हठपाक दो पद्धतियाँ हैं। प्रथम में गुरु-आराधन, शास्त्र-श्रवण तथा नित्य-नैमित्तिक कार्म है। परन्तु इसके अतिरिक्त हठपाक या हठयोग में बलात् उपाधियों का नाश किया जाता है। हठपूर्वक चित्-अग्नि का संस्कार हठयोग है। भेद रूपी इंधन को हठयोग जला देता है। चिदग्नि से हठपाक-क्रम से सृष्टि आदि भावों का लोप करके अमृतोपम बोध की एकता को प्राप्तकर (सर्वं 'खलु इदं-ब्रह्म'-ऐसी भावना कर) जो संवित् का परामर्श करता है, वही योगी है। एकत्व प्राप्त होने पर भी योगी को भेद का आभास होता रहता है, परन्तु वह अविचलित रहता है।[४]

शाक्त-उपाय : शाम्भव उपाय के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इसमें साधक ज्ञान द्वारा निर्विकल्प में विश्राम पाता है। किन्तु शाक्त-स्थिति में चित्त, बुद्धि, अहंकारादि स्पष्ट हो जाते हैं। अत: इसमें विकल्प रहते हैं। शांकर वेदान्त की तरह शिव शासन में मन, चित्त; बुद्धि, अहंकारादि का विनाश—(Annilhilation) नहीं है। इस सम्प्रदाय में मन, चित्त, बुद्धि आद्वि विकल्पों के माध्यम से साधक सिद्धि 'पाने का प्रयत्न करता है। संन्यास-प्रधान सम्प्रदायों एवं तांत्रिक सम्प्रदायों में यह मौलिक भेद है।

शाक्तावस्था में जगत के मायात्मक अत: विकल्पात्मक होने से भेद प्रारम्भ हो जाते हैं। इस स्थिति में 'कर्त्तृत्व' का अभिमान रहता है। 'मैं ही सर्वत्र स्थित

---

(२) अनन्त चित्रसग्दर्भ-संसार-स्वप्नसद्मन: । प्लोषकः शिवएवाह—मित्युल्लासीहुताशन:—वही, पृष्ठ २५७

(३) न चावज्ञा क्रिया-काले संसारोद्धरणं प्रति—वही, पृष्ठ २६२

(४) एवंविधेन हठेन क्रमव्यतिक्रमरूपेण सकृदुपदेशात्मना बलात्कारेण य: पाक:, चिदग्नि सात्कार:, तस्यक्रम: परिपाटी, तेन सृष्टचाद्युपाधीनामत्ययो भवेत्—वही, पृष्ठ २४०

हूँ' 'मेरे द्वारा ही सब स्थित है' ऐसी भावना होती है। यद्यपि इस स्थिति में मायात्मक विकल्प रहते हैं, परन्तु धीरे-धीरे साधक समावेश की ओर बढ़ता जाता है। भेदों से अभेद की ओर बढ़ने से भेद और अभेद दोनों की स्थिति इस दशा में रहती है, अत: कहा गया है भेदाभेदौहि शक्तिता।[1]

अत: 'शाक्त प्रक्रिया' में 'संस्कार' का महत्त्व है। 'संस्कार' शब्द का अर्थ है श्रुति, चित्तादि के द्वारा अस्फुट रूप में विद्यमान तत्त्व को स्फुटता प्राप्त कराना। इस संस्कार से निर्विकल्प में प्रवेश सम्भव है। अत: विसर्ग का संस्कार ही निर्विकल्प का साधन है। विसर्ग का नाश कदापि ध्येय नहीं है। विसर्ग का संस्कार न होने पर 'विरुद्ध-विकल्प' रहता है और संस्कार का प्ररोह सम्भव नहीं होता। बिरुद्ध-विकल्प के नष्ट होते चलने पर आत्म-शुद्धि होती है और अन्त में अविकल्प स्थिति प्राप्त हो जाती है।

क्योंकि विकल्प भी संवित् का ही एक रूप है, अत: विकल्प से आवृत संवित् अन्त में अपने मूल रूप को प्राप्त कर लेती है। विकल्पों के आरूढ़ रहने पर भी संवित् बराबर स्फुरित होती रहती है, उद्धार का यह आशा-स्रोत है। अन्त में भैरवी-तेज प्राप्त करने में इसीलिए शाक्त-उपाय को भी साधन बनाया जा सकता है। बार बार संवित् के विमर्श से भैरवी तेज (चैतन्य) स्फुटित हो जाता है,[2] अत: माया के नाश के लिए तत्त्व का पुन: पुन: परामर्श आवश्यक है।

इस परामर्श में तर्क सहायक है। तर्क खंडन मंडन को नहीं कहते, तर्क का अर्थ शैव-शासन में 'आत्म-प्रत्यभिज्ञा' है। शुद्ध विद्या के स्पर्श से पवित्र बुद्धि से उत्पन्न 'मैं शिव हूँ' ऐसी भावना उत्पन्न करने वाली वृत्ति तर्क है। यही भेद-कुठार को काटती है। अद्वैत-भाव ही तर्क है, इसी से सारे मनोरथ पूर्ण होते हैं।[3] भेद

---

(१) तंत्रालोक—प्रथम आह्निक पृष्ठ २४३ शाम्भव अवस्था में 'ध्यान' की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु शाक्तावस्था में रहती है, यही मुख्य अंतर है।

(२) अतश्च भैरवीपं यत् तेज: संवित्स्वभावकम्।
भूयोभूयो विमृशतां, जायते स्फुटात्मता—
तंत्रालोक, जिल्द ३ आह्निक ४, पृष्ठ ७

(३) दुर्भेदपादपस्यास्य, मूलं कृन्तत्ति कोविदा:।
धारारूढ़ेन सत्तर्ककुठारेणेति निश्चय:—वही, पृष्ठ १२

रूपी पादप को काटने से परा रूपी काष्ठ भी प्राप्ति होती है। यही पराकाष्ठा (पराशक्ति) कहलाती है। अतः तर्क भावना विशेष को—परामर्श विशेष को कहते हैं, कोरे खंडन मंडन को नहीं। तर्क ही पराकाष्ठा को प्राप्त होकर 'भावना' बनता है।[1] इसीलिए शैव शासन में परम-ज्ञान 'भावना' कहलाता है।[2] यह भावना ही सच्ची कामधेनु है (सर्वकामदुघा) इससे सिद्धियाँ एवं मुक्ति दोनों प्राप्त होती हैं। योग का यही उत्तम अंग है। यही अंतरंग योग है। यों तो 'तर्क' को 'षडंग' का अंग माना गया है—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क, समाधि। यहाँ 'तर्क' का अर्थ है स्व-सिद्धान्त के विरुद्ध न जाकर तर्क करना यह तर्क का अर्थ है। अन्य सम्प्रदाय 'राग' से पीड़ित हैं, परन्तु शैव-शासन में स्वर्गादि की इच्छा नहीं है, अतः तर्क के इस अर्थ को छोड़ना, कुतार्किक का कार्य है। इसीलिए कहा गया है कि कोई तार्किक को गुरु न करे।[3] अतः वस्तु-निर्णय-शून्य छल-प्रधान जो तार्किक गुरु पर-पराजय की चेष्टा करता है और हेय उपादेय विवेक से वस्तु का निर्णय नहीं करता उसे गुरु न करे।

यह तर्क (ज्ञान) जिसको अकस्मात् होता है, वह 'सांसिद्धिक' कहलाता है। इसमें गुरु तथा शास्त्र की अपेक्षा नहीं है, न साधना की आवश्यकता है। अकस्मात् का अर्थ है –लोक में अप्रसिद्ध हेतु। 'प्रातिभ महा ज्ञान' से ही यह सम्भव है। उपाधि-भेद से इसके नाना भेद—

निर्भित्त	सहभित्तिक
या	या
सर्वग :	अंशग:
या	या
मुख्य	अमुख्य

---

(१) तर्क एवहि परां काष्ठाम् उपगतो भावना इति—
तंत्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ १३

(२) यहाँ भावना का अर्थ emotion, या feeling नहीं है, अपितु Contemplation है।

(३) गुरुदेवाग्नि शास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः।
असच्युक्तिः विचारज्ञाः शुष्क तर्कावलम्बिनः :
भ्रमयत्येव तान्माया, ह्यमोक्षे मोक्ष लिप्सया—वही, पृष्ठ १८
तार्किकं न गुरु कुर्यात् —वही
तार्किके बध, बन्धनम्—वही } पृष्ठ १८-१९

अकस्मात् ज्ञान हो जाने पर समस्त यंत्र, मंत्र, भोटनादि का प्रयोजन नहीं रहता। जो स्वसंवित्त को भी संक्रान्त कर जाते हैं, वे 'निर्भित्तिक' कहलाते हैं। जो परोपजीवी किसी सीमा तक रहते हें वे 'सह-भित्तिक' कहलाते हैं।

साधारणत: सांसिद्धिक साधकों को दीक्षादि दी जाती है, परन्तु जिन्हें दीक्षा (अदृष्ट) एवं मंडल की आवश्यकता नहीं पड़ती वे 'अकल्पित-सांसिद्धिक' कहलाते हैं। यह ज्ञान भगवत्-अनुग्रह से ही उत्पन्न हो सकता है।

शाक्त-साधना : अन्य साधकों को 'साधना' की आवश्यकता रहती है। साधना में दीक्षा, मंडल, कुल आदि का विचार किया जाता है।

शाक्त-साधना में योग मुख्य है। योग का अर्थ हम स्पष्ट कर चुके हैं। योग में प्राण (चन्द्र) तथा अपान (सूर्य) के मध्यमार्ग में चित्त को लय करना होता है। इससे ग्राह्य-ग्राहक भाव नष्ट हो जाता है। पीड़ा देने वाले प्राणायाम (यथा रेचक) व्यर्थ हैं। 'रहस्य' ही ज्ञेय है।[1] रहस्य का अर्थ है, प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता का भेद-भाव नष्ट हो जाय और शुद्ध चैतन्य रूप परतत्व का ज्ञान हो।

प्रत्याहार : इंद्रियों का अंत:कलीन मात्र ही प्रत्याहार है। बाहर से इन्द्रियों को भोगों से विरत करना व्यर्थ हैं। चूंकि सर्वत्र संवित् विद्यमान है, अत: जहाँ-जहाँ मन जाय वहीं-वहीं उसे रमाने का, मन के द्वारा इच्छित वस्तु में लवलीन करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि जब सभी कुछ शिवमय है तब अंतत: मन शिव से बाहर कहाँ जायगा।[2]

धारणा-ध्यान : इनका तांत्रिक-योग में उपयोग स्वीकृत है। परन्तु संवित के प्रति इनका भी उपयोग नहीं है। शुद्ध चैतन्य का ज्ञान हो जाने पर बाह्य उपाय व्यर्थ हो जाते हैं।

---

(१) शशि-भास्कर संयोगात् जीवस्तन्मायतां व्रजेत्
अत्र ब्रह्मादयो लीना, मुक्तये मोक्ष कांक्षिणा—
तंत्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ ९६
प्राणायामो न कर्त्तव्य:, शरीरं येन पीड़यते।
रहस्यं वेत्ति यो यत्र, स मुक्त: स च मोचक:॥
तंत्रालोक, चतुर्थ, आह्निक, पृष्ठ ९६

(२) यत्र यत्र मनो याति, तत्रतत्रैव धारयेत्।
चलित्वा कुत्र गन्तासि, सर्वं शिवमयं यत:—वही, पृष्ठ १००

इन योगांगों का समाधि की अवस्था तक ही उपयोग है। ये पूर्व से पूर्व श्रेष्ठ हैं अर्थात् प्राणायाम से ध्यान, उससे प्रत्याहार, उससे तर्क तथा सबसे श्रेष्ठ समाधि है, क्योंकि संवित्, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं में व्याप्त है, अतः यम, नियम आदि साक्षात् रूपेण उसके सहयोगी नहीं हैं। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से अधिकाधिक दृढ़ता के लिए इनका प्रयोग किया जाय तो बुरा नहीं है। क्योंकि केवल द्वैत नाश के लिए ही योगांगों का उपयोग है। लिंगादि की पूजा भी इस शाक्त-साधना में साक्षात रूपेण उपयोगी नहीं है। जिसका जैसे ध्यान लग जाय, जिसको जिस किसी उपाय से शुद्ध चैतन्य का बोध हो जाय, उसके लिए वही श्रेष्ठ है अतः हठयोगादि उपाय प्रत्यक्ष रूप से (directly) सहायक नहीं है।[1]

विकल्प-परामर्श : स्वभाव परामर्श का नाम विकल्प है। यह विकल्प दो प्रकार का है : I नैश II स्वच्छ। भेदों के द्वारा तत्व-संधान नैश है और भेदों की सहायता लिए बिना तत्व-परामर्श स्वच्छ विकल्प हैं। नैश या मायीय विकल्प-परामर्श द्वारा भी अन्त में अभेद की प्रप्ति होता है। स्नान, अर्चना, होम ध्यान, जप, चक्र-पूजा आदि मायीय-विकल्प में आते हैं।

स्नान : शीतल, शुद्ध जल से स्नान बाह्य स्नान है। इससे साधना में कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती है। तांत्रिकों का स्नान आंतरिक स्नान है। इसे 'भस्म-स्नान' कहते हैं। तत्व बोध अपने प्रकाश के कारण 'अग्नि' कहलाता है। नील पीत आदि सांसारिक बोध ही इंधन है, तत्वबोधाग्नि भस्म करती है। इन दोनों के 'संघट्' से अवशिष्ट भस्म में परिमित प्रमाता का स्नान ही स्नान है।[2] बाह्य-स्नान हेत्र है। यदि बाह्य जल से मुक्ति होती तो सारी मछलियाँ मुक्त हो जातीं।[3]

शैव-शासन में शुद्धि-अशुद्धि का अर्थ भिन्न है। शिव एवं जगत् में भेद करने वाली बुद्धि ही अशुद्धि है, अभेद-दर्शिनी बुद्धि शुद्धि है।[4]

---

(१) तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत्। वही, पृष्ठ ११४
मध्यकालीन साधना में इसी को 'सहज योग' कहा गया है।

(२) उल्लासि बोध हुतभुग्ददध विश्वेन्धनोपिते।
सितभस्मनि देहस्य मज्जनं स्नानमुच्यते—तंत्रालोक चतुर्थ आ० पृष्ठ ११६

(३) यदि मुक्तिर्जलस्नानाद मत्स्यानां सा न किं भवेत—वही, पृष्ठ १२०

(४) शिवात्मकेष्वप्येतेषु, बुद्धिर्या व्यतिरे किणी।
सैवा शुद्धिः पराख्याता, शुद्धिस्तद्धीविमर्दनम,—वही, पृष्ठ १२१

पूजा : इन्द्रिय-विशेष में स्थित मन की जो आह्लाद वृत्ति है, उसे ब्रह्म से जोड़ देना ही पूजा है।[1] मनुष्य के मन में भावों का जो समूह उत्पन्न होता रहता है, उसकी चेतना के साथ एकाकारिता ही पूजा है। स्वतंत्र-संवित् ही बाह्य विषयों में स्फुरित हो रही है, यह अनुभव ही सर्वस्व है, अन्य साधनाएँ कृत्रिम हैं।

मंत्र : तत्वज्ञान से मंत्र स्फुरित होता है। यदि स्फुरित न हो तो किसी सस्फुर आचार्य से दीक्षा ले। देवी-पूजा (संवित्-साधना) १५ दिन करने वाला साधक, सात दिन करने वाला पूत्रक एवं चार दिन लगाने वाला 'समयी' कहलाता है सामान्यत: मंत्रादि की सिद्धि-कर्त्ता को 'समयाचारी' कहते हैं। तत्व-ज्ञान के अभाव में पुस्तक में लिखित मंत्र निर्वीर्य हैं।[2] जो साधक पुस्तक लिखित मंत्रों को सस्फुर कर देते हैं उनमें भैरवी संस्कार (तत्व ज्ञान) रहता है। चैतन्य तत्व से रहित मंत्र निर्वीर्य हैं, यह सिद्धान्त अटल है।

तांत्रिक-साधना में गोपन के महत्व से संतुष्ट नहीं होते अभिनव गुप्त के अनुसार गोपन की आवश्यकता इसलिए है कि अनधिकारी पर हिंसादि दुष्ट कार्यों में मंत्रों का प्रयोग कर देते हैं। दूसरे यदि सिद्धि न मिली तो शास्त्र पर अविश्वास होता है। अत: गोपन आवश्यक है।[3]

क्रम-साधना : उपर्युक्त-साधना पद्धति में तत्त्वज्ञान की प्रमुखता है। किन्तु न तो सभी 'अकल्पित सांसिद्धिक' साधक हो सकते हैं और न सभी को अकस्मात् ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है, अत: 'कल्पित-गुरु' बनने के लिए क्रम-क्रम से सिद्धि प्राप्त करनी पड़ती है। क्रम-साधना में 'अभिषेक' आवश्यक है। शैव शासक में गुरु, शास्त्र एवं स्वत: ये तीन साधन हैं। स्वत: ज्ञान न होने पर गुरु तथा शास्त्र की शरण आवश्यक है। इसके भी भेद हैं। गुरु एवं शास्त्र दोनों से सिद्धि मिले, वह साधक समस्त कहलाता है. और यदि अलग ज्ञान-प्रत्ययों से सिद्धि हो तो वह साधक 'व्यस्त' साधक कहलाता है। जैसे टङ्क, क्रकच आदि छेदने के साधन अनेक

---

(१) यत्किंचिन्मानसाह्लादि-यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि, पूजोपकरणं हि तत्—वही, पृष्ठ १२२

(२) लिपिस्थिस्तु यो मंत्रों निर्वीर्य: सोऽत्र कल्पित:—वही, पृष्ठ ७२

(३) तामसा: परहिंसादि वश्यापि च चरन्त्यलम्।
न च तत्त्वं विदुस्तेन, दोषभाष इति स्फुटम्—वही, पृष्ठ ७३

होने पर छेदन-कार्य एक ही होता है, तथैव साधन अनेक होने पर भी 'साध्य' एक ही है।

कलाएँ : संवित् (शुद्ध-चैतन्य) की १२ कलाएँ होती हैं। साधना के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है। पारमार्थिक संवित्, सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य इन चार तत्त्वों के साथ प्रमाता प्रमाण और प्रमेय के रूप में आभासित होती है। अत: ४ × ३ = १२ कलाएँ मानी जाती हैं। संवित् के इस विकास को समझकर ही साधना करनी चाहिए।

साधना का उद्देश्य अमृत-तत्त्व की प्राप्ति। पिण्ड में यह अमृत सूर्य नाड़ी तथा चन्द्र नाड़ी के संयोग से उत्पन्न होता है। सूर्याग्नि को पुरुष और चन्द्र नाड़ी को स्त्री माना गया है। अत: जैसे पिण्ड में पुरुष-स्त्री के समागम से अमृत उत्पन्न होता है तथैव सूर्य एवं चन्द्र की एकता से अमृत-प्राप्त करना ही 'साधना' है।[1] योनि को 'मात्रा' तथा लिंग को कारण कहा गया है। भावों के लय एवं आगमन से परम पद की प्राप्ति होती है।[2] विस्तार और प्रलय को तभी प्राकृत-रति की उपमा दी जाती है। किन्तु शैव-साधना में प्राकृत-रति केवल प्रतीक या उपमान मात्र नहीं है, अपितु प्राकृत-रति (काम-कला) का व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि पिण्ड को समझ लेने पर ब्रह्माण्ड समझ में आ सकता है। प्राकृत-सृष्टि को समझकर ही अप्राकृत-पारमार्थिक तत्त्व द्वारा की गई सृष्टि का अनुभव हो सकता है। अतएव शैव-शासन में चक्रपूजादि में पुरुष-नारी सम्भोग को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु साथ ही यह समागम केवल तत्त्व-ज्ञान के रहस्य को समझने के लिए तथा परम-पद पाने के लिए है न कि केवल इंद्रियों को तृप्त करने के लिए।

'अमृत' का अर्थ है तंत्र में इस प्रकार जो तत्त्व काल के अधीन नहीं है वह है 'अमृत' तत्त्व। काल से परे इस तत्त्व को प्राकृत-रति के समय अनुभूत किया जाता

---

(१) यथा योनि श्चलिङ्ग च, संयोगात्स्रवतोऽमृतम्।
तथामृताग्नि संयोगाद्, द्रवतस्ते न संशय:—
तंत्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ १४०

(२) लिङ्ग-शब्देन विद्वांस:, सृष्टि संहार कारणम्।
लयादागमनाच्चभावानां पदम व्ययम्—वही, पृष्ठ १४१
तच्चक्र पीडनाद्रात्रौ, ज्योतिर्भात्यकं सोमगम्।
तां दृष्ट्वा परमां ज्योत्सनां, काल-ज्ञानं प्रवर्तते—वही, पृष्ठ १४२

है। तंत्रों के अनुसार चक्र-पीड़न से (समागम से) सोम एवं सूर्य प्रकाशित होते हैं। पहले कहा है कि शिव तथा शक्ति की रति से ही सोम-सूर्य-अग्नि का जन्म हुआ है। इस प्रकाशित रति के समय काल का बोध होता है। उधर नाड़ी योग भी इसके साथ ही संकेतित है, चूँकि तत्त्व ज्ञान शैव-साधना में मुख्य है, अतः सम्भोग से दृष्ट योग का फल मिलता है, ऐसा विश्वास है। रात्रि (माया) में जिस समय पुरुष (प्रमाता) प्रमेय (स्त्री) के मिलन से काल का बोध होता है, उसी समय शरीर स्थित नाड़ियों (सूर्य-चन्द्र) का भी मिलन होता है और वीर्य-क्षरण के समय जब संसार के पदार्थों का ज्ञानप्रलुप्त हो जाने पर पुरुष तन्मय हो जाता है, तब सूर्य एवं चन्द्रम (इड़ा-पिंगला) के मध्य में स्थित तत्त्व में स्थित हो जाती है (सुषुम्णा मार्ग खुल जाता है इस प्रकार 'प्राकृत-रति' साधना में सहायक है, विरोधिनी नहीं, जैसा कि संन्यास प्रधान निषेधवादी सम्प्रदाय समझते हैं, परन्तु ज्ञान हीन सम्भोग वासना पूर्ति मात्र है और पतन का कारण है।

जिस प्रकार प्राकृतरति में समागमोपरान्त अमृत तत्त्व का स्खलन होता है, वैसे ही नाड़ी योग सूर्य (पुरुष) की ऊष्मा से चन्द्र (स्त्री) नाड़ी से अमृत (रज) स्रवित होता है [1] जो योगी इस अमृत को पीते हैं अमरत्व को प्राप्त होते हैं।

अमृत की इस स्रवण-क्रिया में सारी सृष्टि प्रक्रिया छिपी हुई है। सूर्य (पुरुष) पर-प्रामाता है। उसकी स्वातंत्र्य शक्ति रूपी सोम (स्त्री) बाह्य उन्मुखता के लिए उत्तेजित होता है और विश्वरूपी अमृतधारा को छोड़ता है यही अमृतरूपी विश्व का सागर है, अतः यह सारा विश्व शक्ति (योनि) से निःसृत अमृत तत्त्व है। इसका त्यागकर, विश्व के पदार्थों से वंचित रहकर साधना करना मिथ्या–साधना है।[2]

इसी विश्वरूपी अमृत का पान करता हुआ जब साधक "मैं वह हूँ", "वह मैं ही हूँ" "यह सब मेरा ही विस्फार है" इस प्रकार पुनः-पुनः परामर्श करते हुए स्वरूप स्थित हो जाता है तब विश्व लय हो जाता है और परमपद प्राप्त हो जाता

(१) तत्रस्थां मुञ्चते धारां, सोमो हलग्नि प्रदीपितः।

तंत्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ-१४४

(२) यतः क्रिया शक्त्यात्मा सोमः परप्रमातृ रूपेणाग्निना स्वस्वातंत्र्यात् प्रदीपितो—बाह्यौन्मुखो समुत्तेजितः सन् गत्रस्थां—विश्वत्र वर्तमानां—धारां मुञ्चति प्रमातृ, प्रयेयादिरूपत्वे नाविच्छेन्नेन प्रवाहेण—परिस्फुरति येन अयम् इयान्विश्व-स्फारः—तंत्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ १४५

है। और तब साधक 'हंस' या 'परमहंस' (हंसः सोऽहं की भावना से मुक्त) कहलाता है तब विश्व में निरर्गल होकर वह विचरण करता है, सिद्ध हो जाता है।[1]

देवता के रूप : 'अनाख्य' तत्त्व (परात्पर ब्रह्म) की चित्शक्ति ही 'परा-शक्ति' कहलाती है 'परा-शक्ति' ही के अनेक रूप भिन्न-भिन्न देवियों-देवताओं के रूप हैं। देवी-देवता में लिंगभेद तो साधना का प्रपंच मात्र है अन्यथा पराशक्ति लिंगादि भेदों से परे है। यही कारण है कि कश्मीरी शैवमत में देवी-उपासना (त्रिपुरा रहस्यादि में वर्णित) स्वीकृत है। शाक्तमत का कश्मीरी शैवमत से निकटतम सम्बंध है। कश्मीरी-शैवमत की यही विशेषता है। शैव 'पराशक्ति', त्रिपुरा भैरवी आदि के उपासक हैं। अतः प्रथम उपास्य शक्ति 'पराशक्ति' है। इसकी १२ कलाओं का वर्णन हम कर चुके हैं। प्रत्येक तत्त्व में ये १२ कलाएँ व्यक्त हो रही हैं। प्रत्येक इंद्रिय में १२ कलाएँ हैं (प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण × अनाख्य, सृष्टि, काल, स्वर = १२)। स्वर भी १२ हैं, आदित्य भी १२ हैं, मास भी १२ हैं और कला भी १२ हैं। इससे 'पराशक्ति' की व्यापकता प्रकट होती है।

काल संकर्षिणी : आद्याशक्ति आभासन के लिए उद्यत होती है, इस उद्यतावस्था को 'काल संकर्षिणी' कहते हैं।

श्री सृष्टि काली—जो शक्ति बाहर की ओर सृष्टि को आसूत्रित करती है—विस्तार देती है वह श्रीसृष्टि-काली कहलाती है। काल का कलन (आकर्षण-विस्तार) करने वाली शक्ति ही 'काली' है। यह देवी जब सृष्टि का विस्तार करती है तो इन्द्रियाँ अपना कार्य करने लगती हैं, भिन्नता का आभास होने लगता है। विषय एवं विषयी क्योंकि दोनों संवित रूप हैं, अतः मूलतः कोई भेद न रहने पर भी ग्राह्य-ग्राहक भाव चल पड़ता है। प्रमाता स्वयं प्रमाण के रूप में बहिर्मुख होकर विस्तृत हो जाता है, अतः विषयों की स्थिति विषयी से है। विषय न रहने पर भी 'विषयी' की सत्ता रहती है। अतः 'विषयी' ही मुख्य है। परन्तु बहिर्मुखता में विषयी को प्रमेय-प्रमाण में आसक्ति हो जाती है और वह इन्हें भिन्न

(१) तत्पुनः पिबति प्रीत्या, हंसो हंस इति स्फुरन्।
सकृद्यस्य तु संश्रुत्या, पुण्यपापैर्न लिप्यते—वही, पृष्ठ १४६

मानता है। संवित् का यह स्वरूप ही 'रक्त-काली' है। यह देवी इंद्रियों से ग्राह्य नहीं है, यह निर्गुण एवं निराकार तत्त्व का नाम है[1]।

स्थिति-नाश काली : संवित् ही सृष्टि को आत्म-सात करती है। अतः प्रलयावस्था के लिए उद्यत देवी का रूप 'यमकाली' कहलाता है। विश्व का सृजन और भोग करने के बाद 'यह मैंने जान लिया, यह मैं भोग चुका' यह वृत्ति उत्पन्न होती है, अतः संवित् सृष्टि को आत्मसात करने के लिए उद्यत हो जाती है।

यम-काली, संहार-काली : 'संहार' की इच्छा पूर्ण हो जाने पर अर्थात् विश्व के सम्बंध में 'यह मैंने जान लिया' ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् पूर्ण उदासीनता जागृत होने के पश्चात् 'यमकाली' की स्थिति उत्पन्न होती है। विश्व का नाश (साधक के मन से) हो जाने पर भी परिमित-प्रमाता (संकुचित-चेतना) की स्थिति रहती है अर्थात् मन में यह भाव उठते रहते हैं—'यह कार्य है, यह अकार्य है'। इस प्रकार की नियतावस्था को उत्पन्न करने वाली संवित् का रूप यम-काली कहलाता है, क्योंकि विकल्प को ही 'यम' कहते हैं। यह शास्त्र में संदेह उत्पन्न कर देती है, स्वानुभव को स्थिर नहीं रहने देती तथा साथ ही दूसरी ओर निर्विकल्पक स्थिति में भी विद्यमान रहती है। इसका प्रमाण यह है कि 'विकल्प एवं विकल्प-नाश' की स्थिति सबके मन में चला करती है। संकोच तथा विकास साथ-साथ चलता है। संकोच एवं विकास में अनियत रहने से ही यह यम-काली है। इस स्थिति का उदाहरण मूत्रकाल में रास भी को संकुचित व विकसित होती हुई योनि है[2]।

संहार काली : उपर्युक्त विधि-निषेध, संकोच-विकास में अनियत वृत्ति का जो आत्म ज्वाला से संहार करती है वही 'संहार काली' है।[3]

---

(१) तथाभासितवस्त्वंशः, रञ्जनां सा बहिर्मुखी
स्ववृत्ति चक्रेण समं, ततोऽपि कलयन्त्यलम्
स्थितिरेषैव भावस्य.........तंत्रालोक—चतुर्थ अ० पृष्ठ १५९-१६०
न चैत्वा चक्षुषा ग्राह्या, न च सर्वेन्द्रियस्थिता
निर्गुणा निरहंकारा, रञ्जयेद्विश्वमंडलम्
सा कला तु यदुत्पन्ना सा ज्ञेया रक्त कालिका—

(२) रासभ्या मूत्रकाले तु यौनिः, प्रस्पन्दते यथा—
तंत्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ १६५

(३) यमरूप स्वरूपस्था, रूपातीतस्वरूपगा।
सा कला लीयते यास्यां, यमकाली तु सा स्मृता—वही, पृष्ठ १६५

मातृण्डकाली : संहार का भोग इन्द्रियों से होता है। ये वस्तुओं को अहं में लीन करती हैं, अतः इन्हें सूर्यं कहा गया है। संवित् स्वयं अपनी शक्ति से द्वादश इन्द्रिय रूप मातंण्डमंडल का कृत्रिम अहं में विस्तार करती है। अतः इसे 'मातंण्ड काली' कहा गया है।

परमार्क-काली : जो भोग के द्वारा विश्व को आत्मसात् करता है, वह 'रुद्र' कहलाता है।[1] रुद्र एवं अग्नि भोक्ता भी कहलाती हैं। 'कालाग्नि रुद्र' की स्थिति में भोक्ता अहं, रूपं आदि भेद से युक्त करता है। इस अहंकार ग्रस्त स्थिति को परमार्क काली कहा गया है।

कालाग्नि रुद्र काली : अहं इदम् से युक्त प्रमाता अर्थात् कालाग्नि रुद्र जब महाकाल में लीन हो जाता है, तब उसे कालाग्नि रुद्र 'काली' कहते हैं। इस प्रकार कालाग्नि रुद्र शब्द से कथित साधक जब मुक्त हो जाता है—यह सब मेरा ही बैभव है, ऐसी अनुभूति होने लगती हैं, इस स्थिति में संवित् साधक के परिमित अहं का चर्वण कर लेती है।

अतः 'महाकाल' का भी कलन[2] कर डालती है। इसीलिए इसे 'महाकाली' कहा गया है। यही अंतिम स्थिति है और 'महाकाल' से भी ऊच्चतर स्थिति है। **अतः देवियों के नाम वस्तुतः विभिन्न मानसिक स्थितियों और अनुभवों के नाम है। बौद्धों ने भी मानसिक स्थितियों का ही मानवीकरण देवताओं के रूप में किया है।** अतः साधक का कर्त्तव्य यह है कि वाह्य देवता के नाम रूपादि को अंतिम न मानकर देवता द्वारा संकेतित उन उन मानसिक स्थितियों की प्राप्त करने का प्रयत्न करे, क्रमशः इन चेतना के सोपानों पर ऊपर चढ़ता हुआ साधक 'काली तत्व' या पराशक्ति या त्रिपुरा को प्राप्त कर सकता है। इस स्थिति को 'महाभैरव-चण्ड उग्र घोर काली' भी कहा गया है, क्योंकि महा-भैरव प्रमाता है, चण्ड ही प्रमेय है, उग्र ही प्रमा है, और घोर ही प्रमाण है। इन सबका नाश हो जाने से ही तत्व की प्राप्त होती है।

---

(१) भोगेन स्वात्मसात्करोति इति रुद्रः—वही, पृष्ठ १८१

(२) कलन के अनेक अर्थ हैं—भेदन, भेदित का विकल्प न होना, आत्म-परामर्श, गति और विकल्प इन पाँच को 'कलन' कहते हैं—तंत्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ २०४

जागृतावस्था के अनुभवों से लेकर अनाख्य तत्व तक साधक को अनेक अनुभव होते हैं, इन्हीं अनुभवों को नाम रूप दे देकर देवियों की कल्पना कर ली गई है। अतः हम मनोवैज्ञानिक पद्धति से चेतना का क्रमशः उन्नयन करने में विश्वास करती है। तभी शाक्तोपाय को हम 'क्रम-साधना' कह सकते हैं। भेद और अभेद संकोच और विकास विकल्प और अविकल्प इन संदेहों से क्रमशः यह क्रम साधना हमारा उद्धार करती है।

चेतना के अनेक स्तरों को नाम रूप देकर देवियों-देवताओं के वर्णन से दुहरा लाभ है। प्रथम तो देवि-देवतादि की प्राप्ति साधना के समय क्रमशः तत्वज्ञान के द्वारा हो सकती है, क्योंकि विभिन्न साधकों ने जो जो वास्तविक अनुभव किये हैं, उन्हीं अनुभवों का बाद में मानवीकरण किया गया है। अतः देवियों की सत्ता है, वे मिथ्या नहीं है। इस कथन का अर्थ यह है कि देवी के नाम से संकेतित अनुभव-विशेष कोरी मन की उड़ान मात्र नहीं है वह कल्पना से भिन्न चेतना का साक्षात् अनुभव है। अतः देवियाँ सत्य हैं। पारमार्थिक दृष्टिकोण से ये सारे अनुभव एक ही चेतन सागर में उठने मिटने वाले बुद्बुदों के समान हैं, अतः उनमें एक सूत्रता और एकता है। देवियों के नाम, रूप व शक्ति के वर्णन से सामान्य जनता जनता को बड़ी सुविधा से आकर्षित किया जा सकता है दूसरे साधक प्रराम्भिक स्थिति में देवियों-देवताओं पर ध्यान केन्द्रित कर उनके वास्तविक रूप को समझ कर उनके द्वारा संकेतित अनुभव-विशेष को पा सकता है। यही देवी का साक्षात्कार है।

पूजा : यद्यपि शक्ति एक है तथापि अभिव्यक्ति होने पर उनके अनेक रूप हो जाते हैं। जिसे मूलसत्ता का ज्ञान होता है, उसे न क्रम-साधना की आवश्यकता है न पूजा-पाठादि की। परन्तु मूलसत्ता का ज्ञान जिन्हें नहीं होता, उन्हें देवी के नामरूपादि की पूजा करनी पड़ती है। किन्तु इस पूजा में भी देवी का वास्तविक रूप जानना आवश्यक है, जान लेने के बाद ही अनुभव हो सकता है, अन्यथा कभी भी सिद्धि नहीं मिल सकती। अतः पूजा का अर्थ है—संविद् का आश्रय ग्रहण करना। जिस प्रकार यह अवष्टम्भ प्राप्त हो जाय बस वही पूजा है।[1]

---

(१) तदस्याः संविदो देव्या, यत्रक्वापि प्रवर्तनम्।
तत्र तादात्म्ययोगेन, पूजा पूर्णैव वर्तते—
तंत्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृष्ठ २१०

मंत्र : मंत्र एवं संवित् में अंतर नहीं है। संवित्-परामर्श से स्त्री स्वत: ध्वनि स्फुरित होती है, वह सदा अप्रतिहतरूप से चलती रहती है, उसका उच्चारण नहीं होता। यही जप है। देवता स्वयं जीव के हृदय में स्थित होकर उच्चरित होता रहता है[1]। इसी 'अनवरत ध्वनि' को परम हृदय कहा गया है। हृदय का अर्थ है 'तथ्य-रूपक' = परमसार। इसी हृदय (ध्वनि) को स्पन्द शास्त्र में 'स्पन्द' कहा गया है। आत्मा (संवित्) का उच्छलन ही स्पन्द है। यही परावाक् है। अत: मंत्र का स्वत: जाप चलता है। इस अनुभव के अभाव में कर में माला लेकर मंत्र का कोलाहल व्यर्थ है। इस ज्ञान से योगी जो कुछ कहता है, जप हो जाता है।

ध्यान : फल की आकांक्षा करने वाले 'साकार' का ध्यान करते हैं, किन्तु यह गौणध्यान है, मुख्य तो निराकार-ज्ञान ही है। फलार्थियों की इच्छा पूर्ण करने के लिए शक्ति के अनेक रूप वर्णित हैं। धन के लिए 'लक्ष्मी' की और 'रक्षा' के लिए 'दशभुज' देवी की उपासना की जाती है। परन्तु घट-भेद से जल में भेद नहीं होता, परन्तु घट-स्थित जल के परिमाण, गुणादि में अन्तर आ जाता है, इसी प्रकार देवियों के भिन्न भिन्न रूप हैं।

मुद्रा : जब साधक का परमेश्वर से एकात्म्य होता है तो एक प्रकार का शरीर में तनाव उत्पन्न होता है, इससे शरीर में विभिन्न आकृतियाँ एवं चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, यही 'मुद्रा' है। यथा अंगुलियों की विशेष आकृतियाँ हो जाती हैं, कभी-कभी हाथ उठ जाता है, कभी मुख की चेष्टा कुछ और हो जाती है। यही मुद्राएँ हैं। पराशक्ति की मदिरा से मत्त-शरीर में जो उत्थान आदि चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, वे मुद्राएँ हैं।[2]

---

(१) नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते देव:, प्राणिनामुरसि स्थित:—वही, पृष्ठ २११
भूयोभूय: परेभावे, भावचते हि या।
जप: सोऽत्र स्वयं नादो, मन्त्यात्मा जप्यईदश:—
स्वच्छन्दतंत्र पुस्तक १, पृष्ठ ७७

(२) कुले योगिनि उद्रिक्त-भैरवीयपरासवात्
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे, मुद्रा या काचिदेव सा—वही, पृष्ठ २३१

होम : तत्त्व बोध की अग्नि में सप्त-इन्द्रियों की लपटें निकलती हैं, इसमें भाव-वर्ग की हवि देना ही होम है।[1]

दीया : भगवान के अनुग्रह को शक्तिपात कहते हैं, शिव साधक में शक्ति को जागृत कर देते हैं, यही शक्तिपात है। इस शक्तिपात से प्राप्तव्य पवित्रता ही 'दीक्षा' है। दीक्षित व्यक्ति वही जिसमें दूसरों में शक्ति जागृत कर देने की शक्ति है।

शक्तिसाधना या वामाचार

बाह्य-साधक केवल द्वैतनाश के लिए हैं। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब देखकर एकात्म्य उत्पन्न होता है, तथैव विकल्परूपी मुकुर में—ध्यान, पूजा, अर्चना में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर भैरव तन्मय हो जाता है। इस तन्मयता से अनुत्तरता की प्राप्ति होती है। पराकाष्ठा को ही अनुत्तरता कहते हैं। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर साधक विधि-निषेध से ऊपर उठ जाता है।[1] इसीलिए कौलमार्ग श्रेष्ठ है। केवल लोक-व्यवहार की रक्षा के लिए आचार-विचार का पालन आवश्यक है। आंतरिकरूप से कौलमार्ग, बाह्य रूप में शैवमार्ग तथा लोकाचार वैदिक आचार मानना चाहिए।

> अन्त: कौलो बहि: शैवो, लोकाचारे तु वैदिक:
> सारमादाय तिष्ठेत, नारिकेलफलं यथा[2]

अत: संसार में नारिकेल फल के समान बाह्यरूप से वैष्णवादि आचारों का पालन करना चाहिए और आंतरिकरूप से वाम-साधना करनी चाहिए।

आकंठ मद्य का पान का करना चाहिए।[3] अर्थात् पञ्चकार मांस, मुद्रा, मदिरा, मैथुन, मत्स्य का सेवन ही पञ्चमकारोपासना है। न तो अन्य शास्त्र के देवताओं का ध्यान करे, न विधि-निषेध को स्वीकार करे, शिव रूप होकर विचरण करे, यही वाम-साधना है। यहाँ अभेद-उपासना है। भेद-उपासना, वेद-वैष्णव

---

(१) महाशून्यालये वह्नौ, भूताक्षविषयादिकम्
हूयते मनसा सार्धं, स होम: स्रुक चेतना।
स्वच्छन्द तंत्र—पुस्तक १, पृष्ठ ८७

(२) वही, पृष्ठ २७८

(३) आकंठत: पिवेन्मद्यम्—वही, पृष्ठ २७८

आदि केवल पशुओं के लिए है। पाश (कंचुक) से वद्ध जीव पशु है। अतः 'पाशव-ज्ञान' को छोड़कर उस 'पति (शिव) शास्त्र' का सेवन करना चाहिए। इस पति-शास्त्र में सिद्ध हो जाने पर भी विषय रस का त्याग नहीं है। क्योंकि जहाँ जहाँ इन्द्रियाँ आसक्त होती हैं, उन सब वस्तुओं में शिव का प्रकाश है।[1] शिव का ज्ञान हो जाने पर विषय-वासना की पूर्ति करते हुए अयत्न से (सहज) सुख-पूर्वक परम-पद प्राप्त हो जाता है, क्योंकि तादात्म्य ज्ञान ही सारे कष्ट-प्रद साधनों का उद्देश्य है।[2]

इस सहज, यत्न रहित, अभेद प्रधान साधना का आनंद सभी नहीं ले सकते। शिव के तीव्र शक्तिपात के बिना साधक अधिकारी नहीं बनता। केतकी के पुष्प का रस केवल भ्रमर ले सकते हैं, मक्खियाँ नहीं।[3] इस मार्ग में भव का आडम्बर नहीं हैं, ग्रीष्म में हिम के समान स्वयं नष्ट हो जाता है। न यहाँ घृणा दम्भ है न लज्जा, न संकोच, साधक शिव रूप हो जाता है। 'साम्य' की उच्चतम स्थिति यही है—

समता सर्वभावानां, वृत्तीनां चैव सर्वथः।
समता सर्वदृष्टीनां, द्रव्याणाँ चैव सर्वशः [4]

सारे पदार्थों में, सारी मानसिक वृत्तियों में, सर्व शास्त्रों और सम्प्रदायों में, सर्वभावों में पूर्ण समता भाव कौल-मार्ग की विशेषता हैं, क्योंकि बिना समता के साधक है निर्द्वन्द्व हो नहीं सकता।

कौल-मार्ग के अनुसार शब्दादि विषयों में पतित होकर स्व-स्व विषय का भोग करके इंन्द्रियों का चैतन्य में लय होता है। सार्वभौम सम्राट् जैसे अन्य राष्ट्रों का भी शासक होता है तथैव अन्य सहायक राजाओं की भाँति अनेक वृत्तियों का विलय एक ही चैतन्य में होता है, अतः इन्द्रियों की तृप्ति आवश्यक हैं क्योंकि वे चैतन्य में बाधक नहीं है, वे अज्ञान के कारण ही बंधन बनती हैं, ज्ञान होने पर इंद्रियों स्व-स्व विषयों का भोग करती हुई चेतना को संतुष्ट करती हैं। अतः स्व-

---

(१) यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्रतत्र विभुरेव जृम्भते। पृष्ठ २८८
(२) तंत्रालोक, चतुर्थ आह्निक, पृ० २८९
(३) वही, पृष्ठ ३०५ (४) वही, पृष्ठ ३०५

रूप स्थिति और भोग दोनों एकही समय में सम्भव हैं, दोनों में विरोध नहीं है, जैसा कि संन्यास-प्रधान मार्ग समझते हैं। अतः इन्द्रियाँ जहाँ-जहाँ ले जाँय वहीं-वहीं मन को स्थिर करना चाहिए क्योंकि सब शिवमय है, इन्द्रियाँ चैतन्य के बाहर जा ही नहीं सकतीं। स्थिरता बढ़ने पर मन वश में होता जाता है और क्रमशः चेतना का संस्कार होता चलता है, अन्त में वह कौल-स्थिति आ आती है, जब भोग एवं योग दोनों साथ साथ चलते हैं। भोगों द्वारा योग ही शैव-शासन की विशेषता है। जिस भोग से बंधन होता है, वही मोक्ष का साधन बनता है।[1]

समना एवं उन्मना अवस्थाएँ वस्तुतः शिव की सात मूर्तियों या शिवत्व प्राप्ति की सात भूमिओं में से दो भूमियों के नाम हैं। सात मूर्तियाँ ये हैं—क्षेप,आक्रमण (आक्रान्ति) चितबोध, दीपन, स्थापन, संविति (संवित्-साक्षात्कार) तथा तदापत्ति (शिव के साथ तादात्म्य) इनमें 'स्थापन' को 'व्यापिनी' संविति को 'समना' तथा तदापत्ति को 'उन्मनावस्था' कहते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है।

क्रम-साधना-प्राणयोग : उपर्युक्त साधना की सारी विधियों में 'ध्यान' की प्रधानता है इसका अर्थ यह नही है कि, प्राण-योग में ध्यान का महत्त्व नहीं है। परन्तु प्राण-वायु का शासन प्रधान होने से इसे प्राण-योग कहा गया है। कौल-स्थिति की प्राप्ति के लिए प्राण-योग का महत्त्व कम नहीं है।

पिण्ड (शरीर) में प्राण का तिर्यंक प्रवाह चल रहा है। नाड़ियाँ तो अनेक (७२ सहस्र) हैं परन्तु उनमें तीन मुख्य हैं। इड़ा पिंगला और सुषुम्णा। समान्यतः इड़ा, पिंगलादि नाड़ियों में प्राण प्रवाह चलता है, परन्तु सुषुम्णा के नीचे के भाग को शक्ति (कुंडलिनी) साढ़े तीन वलयों में लपेट कर पड़ी हुई है, जैसे दण्ड प्रहार से सर्प सीधा हो जाता है उसी प्रकार गुरु-द्वारा ज्ञान का उदय होता है।[2]

ब्रह्मरन्ध्र के नीचे एक चौराहा है, इसे शैव 'चिंतामणि' कहते हैं। उसके ऊपर 'सुधाधार' नामक स्थान है, इसे 'सौध' कहते हैं। प्राण वायु को मध्यममार्ग (सुषुमणा) में प्रविष्ट कर इस स्थान तक पहुँचना होता है। 'सौध' स्थान का भी

---

(१) येन येन निबध्यन्ते जन्तवोरौद्र कर्मणा।
सोपायेन तेनैव मुच्यते भवबन्धनात्-

तंत्रालोक, जिल्द ३ पंचम आह्निक, पृष्ठ ३३८

(२) द्रष्टव्य—तंत्रालोक पंचम आह्निक, पृष्ठ ३६०

मिथूल (इच्छा, ज्ञान, क्रिया का संघट्ट) के द्वारा अति क्रमण कर 'समना' नामक स्थान तक जाय।[२] यह 'सुंदर' है इसके भी ऊपर 'उन्मना' नामक स्थान है। इसे ही प्राप्त करके योगी पूर्ण होता है। प्राणुवायु को वश में करके क्रम-क्रम से चितामणि, सौध, समना का अतिक्रमण कर यह स्थान प्राप्त होता है। यहाँ ही आत्मा बैठा सहज उच्छलन का प्राप्त होता है। यही उच्छलन स्पन्द है योगी यहाँ पहुँच कर 'स्पन्ददशाशायी' कहलाता है, इसी को 'मत्स्योदरदशा' कहते हैं, क्योंकि चैतय के उच्छलन का सार (उदर) यहीं है।[3]

---

(२) शिव का बहिर्उल्लास ही 'क्षेप' है। इससे उद्बोध होता है जिसे 'दीपक' भी कहते हैं। बहिर्उल्लास मय विश्व का क्रोड़ीकरण या अंतराक्रमण ही 'आक्रान्त' है। इस अवस्था में 'यह है' इस प्रकार का इदंता भाव अहं में निमज्जित हो जाता है और चिद्बोध हो जाता है। चैतन्य की यह उद्रेकावस्था 'व्यापिनी' कहलाती है, यह अवस्था समना एवं उन्मनावस्था में पुनः परिणत होती है। चैतन्य उद्रिक्त हो कर इंदता के निमज्जन के बाद जब स्थिर हो जाता है, तब वह स्थिरअवस्था ही व्यापिनी है, किन्तु इसमें चैतन्य का कुछ ही उद्रेक होता है, समनापद में तत्त्व का साक्षात्कार होता है। परन्तु तादात्म्य तो केवल उन्मना वस्था में ही होता है—

इति च उत्तया बहिरुल्लसितस्य विश्वस्य अन्तराक्रमणमेवरूपम् इति आक्रान्तिरिति। एवमपि इदन्तानिमज्जनादहन्तोन्मज्जनात्मनि नादान्तेप्रमातृरूपायाः संविद एव प्रबोधः इतिचित् बोध इति। एवं बुद्धायाः संविदः शक्तिदशायामुर्द्रेकः, व्यापिन्यां कथञ्चिदुद्रेकेऽपि तथैव अवस्थानं, यावद्योगिनां समनापदे तत्साक्षात्कार। उन्मनाभूमौ च तदैकात्म्यमित्येव मुक्तम्। एतावतीति उन्मनैकात्म्यापत्तिपर्यंत्ता। (तंत्रालोक, जिल्द १२ आह्निक ३०) पृष्ठ १८०

'क्षेप' को विन्दु तथा आक्रान्ति को 'नाद' भी कहा गया है। चित्-बोध को 'परावस्था' एवं 'दीपन' को 'शक्ति' कहा है। शक्ति उद्रिक्त होकर स्थिर होती है, तब व्यापिनी और संवित् के साक्षात्कार को समना तथा तादात्म्य को उन्मावस्था कहते हैं। इस प्रकार—क्षेप, आक्रमण, चिद् बोध, दीपन, स्थापन, संवित्ति और तदापत्ति- ये शिव की सप्त मूर्तियाँ हैं। तत्रलोक ३० आह्निक, वही,

(३) तत्रोर्ध्वकुण्डली भूमौ—स्पन्दनोदर सुन्दरः।
विसर्गंस्तत्र विश्राम्येन्मत्स्योदर दशा जुषि-तंत्रालोक पंचम आह्निक, पृष्ठ ३६१

मूत्रविसर्पनान्त में जिस प्रकार 'रासभी' योनि का संकोच-विकास करके तृप्त होती है उसी प्रकार इस दशा में वृत्तियों का सृष्टि व संहार चला करता है और योगी स्वरूपस्थ रहता है। जैसे समुद्र में लहरें उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं और समुद्र अपने में मग्न रहता है, वैसी ही दशा योगी की चेतना की होती है।

इस अवस्था को साधारण मनुष्य केवल शृंगारिक भाषा में ही समझ सकता है। नाडी युगल (इडा-पिंगला) ही योनि है, रमणा की इच्छा से उन्मुखता ही स्पन्दन है। विसर्ग की इच्छा या वीर्य को ही चरम-धातु, कहा गया है। 'सौध' वह स्थान है, जहाँ रति होती है। और तृप्ति ही सम्भोग-समय का सुख है।[1]

यह शृङ्गार-वर्णन केवल रूपक नहीं है, अपितु 'उन्मनावस्था' की प्राप्ति के लिए सम्भोग आवश्यक है क्योंकि इस समय होने वाला अनुभव ही योग की अवस्थाओं में प्राप्त अनुभव के सदृश होता है। यहाँ तक कहा गया है कि यदि साधना के लिए नारी न मिल सके तो केवल 'रति-स्मरण' द्वारा ही योगज अनुभवों की ओर बढ़ना चाहिए। स्त्री सुख ब्रह्मानन्द का ही व्यंजक है[2] अतः प्राकृतरति ब्रह्मानन्द की निमित्त बनती है।

यदि यह कहा जाय कि सारे उपायों में शक्ति क्षोभ को ही क्यों इतना महत्व दिया गया है! तो इसका उत्तर यह है कि सोम (नारी) सूर्य (पुरुष) ही प्रमेय व प्रमाता हैं तथा इन्द्रियाँ कलाएँ हैं। कला-जाल के परस्पर संघर्ष से, विसर्गानन्द उत्पन्न होता है और जब चरमधातु (वीर्य) का क्षरण होता है, तब पूर्ण तदात्म्य की अवस्था उदित होती है यह तदात्म्य शुद्ध चैतन्य को व्यक्त करता है, वीर्य-क्षरण के समय साधक संसार के सारे ज्ञान को भूलकर केन्द्रस्थ हो

---

(१) शाक्ते क्षोभे कुलावेशे, सर्वनाड्यग्रगोचरे।
व्याप्तौ सर्वात्मसंकोचे, हृदय प्रविशेत्सुधीः—वही,
शक्ति-संगम संक्षुब्ध शक्त्यावेशावसानिकम्।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य, तत्सुखं स्ववाक्यमुच्यते। वही, पृष्ठ ३७७-३७८

(२) लेहनमन्थना कोटैः, स्त्री सुखयस्यभरात् स्मृतेः।
शक्त्यभावेऽपि, देवेशि, भवेदानन्द संप्लवः—
तंत्रालोक पंचम आह्निक, पृष्ठ ३७८

अर्थात् शक्ति (साधना में सहायक स्त्री) के आभाव में, लेहन मंथन आदि स्त्री सुख की स्मृति से भी तादात्म्य प्राप्त होता है।

जाता है अतः यह अनुभव ब्रह्मानन्द का निमित्त है, जैसे इस इस सामरस्य से नारी वश में हो जाती है, उसका हृदय विजित होता है, वैसे ही इस अनुत्तर योग से योगिनी (शक्ति) का हृदय विजित हो जाता है, ब्रह्माण्ड-स्थित सारी शक्ति योगी की इच्छानुसार कार्य करने लगती है। यह मार्ग रहस्यमय है, इसका पूर्ण उद्घाटन गुरु की देख-रेख में ही सम्भव है।[१] ज्ञान की प्रधानता होने पर ही गुप्त रति-क्रिया ब्रह्मानन्द में निमित्त बन सकती है, अन्यथा पतन का मार्ग खुल जाता है। जो भोगी गुप्त-रति काल में प्रिया कंठ का नाद नहीं सुनाता, वह सृष्टि में व्याप्त 'नाद' की प्राप्ति नहीं कर सकता। परन्तु ज्ञान द्वारा गुप्त रति-क्रिया द्वारा योगी व्यापक नाद (अनहद नाद) को सुनता है, तत्पश्चात् वह 'विन्दु' अवस्था को प्राप्त हो जाता है, पूर्ण ज्ञान की अवस्था यही है।

उन्मनावस्था के परे भी उच्चतर अवस्था है, यहाँ संकोच-विकास नहीं होता तथापि योगी को सृष्टि का आभास होता है।[२] क्योंकि योगी की दृष्टि तत्व के साथ एकाकार होकर अंतर्मुखी रहती है और सांसारिक कार्य उसकी बाह्य इन्द्रियाँ करती रहती हैं[3]। अतः घट-पटादि के ज्ञान के समय दृष्टि अंतरस्थ भी रहती है और बाह्य-पदार्थों का ज्ञान भी होता रहता है। इसे 'भैरव-मुद्रा' कहा जाता है। गोपनीय होने से इसे 'खस्थं' या 'गगनोपम' अवस्था भी कहते हैं।

खं खं त्यक्त्वा खमारुह्य, खस्थं खं चोच्चरेदिति।

खमध्यास्याधिकारेण, पदस्थाश्चिन्मरीचयः—[४]

अर्थात् मध्य नाड़ी में स्थित होकर ख ख प्रमाण प्रमेय को छोड़ कर ख अर्थात् तुर्यातीत अवस्था को प्राप्त करना ही योगी का लक्ष्य है। इस अवस्था की प्राप्ति इन्द्रिय-वृत्तियों (मरीचय) की बाह्य-उन्मुखता के अभाव द्वारा होती है।

---

(१) अलं रहस्य कथया, गुप्तमेतत्स्वभावतः
योगिनी हृदयं तत्र, विश्रान्तः स्यात्कृती बुधः—वही, पृष्ठ ३८१

(२) असंकोय विकासोऽपि, तदाभासन स्तथा—वही, पृष्ट ३८६

(३) अंतर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टि, परमं पदश्नुते— वही, पृष्ठ ३८६

(४) वही पृष्ठ ३६८

इस अवस्था में कम से कम १० स्तर योगियों ने लक्ष्य किये हैं। ६ प्रकार से इसे प्राप्त किया जाता है, अतः नवधा-मार्ग शैव शासन भी स्वीकार करता है।[1]

इस प्रकार शाक्त-उपाय में 'क्रम-साधना' स्वीकृत है। मंत्र जप, मुद्रा, प्राणायाम, अर्चना, देवोपासना आदि सभी क्रियाओं में 'भावना' का महत्व शाक्तोपाय की विशेषता है। भावना या तत्व का परामर्श शाम्भव अवस्था में अपेक्षित नहीं है, क्योंकि तीव्र शक्तिपात के प्रभाव में अप्रतिहत तत्व परामर्श करते हुए ही साधना फल देती है। शाम्भव उपाय में अकस्मात् भी तत्व स्थिति हो जाती है, अतः उसमें स्वयं साधना भी अपेक्षित नहीं है। परन्तु शाक्त-साधना में क्रम-क्रम से विकल्प का नाश किया जाता है।

इन्द्रिय, मन, चित्त और बुद्धि का नाश शाक्त-साधना में नहीं किया जाता इन्हें साधना में सहायक बनाया जाता है, यही शाक्त-साधना की विशेषता है। अभिनव गुप्त ने लिखा है कि मन एवं बुद्धि के बिना ज्ञान का अधिगम असम्भव है। इन्द्रिय, मन, आदि तब अधः पतन के कारण बनते हैं, जब विवेक से ये संयुक्त नहीं रहते। इन्द्रिय-वासना एवं मन-वासना नाशक है, विवेक अर्थात् स्वपरामर्श जागृत होने पर ये स्वर के तिरस्कार से ज्ञान को ही जन्म देते हैं। अतः 'शाक्त-तत्व' का अर्थ है मन एवं बुद्धि की वासना का त्याग कर, मन एवं बुद्धि को परम ज्ञान का कारण बनाना।[2] यदि यह प्रश्न हो कि विवेक को परम तत्त्व-ज्ञान का कारण कहा गया है, तो इसका उत्तर यह है कि विवेक तो सम्पूर्ण भावों का कारण है। वह 'महाशय' हैं अर्थात् सर्व भाव क्रोडीकरण सहिष्णु है। सारे भावों को अपने में समेट लेने की शक्ति यद्यपि बुद्धि में भी है, तथापि बुद्धि अणिमा, महिमादि शक्तियों को उत्पन्न करके भी भोगजाल से फँसाती है, अतः विवेक (स्वपरामर्श) से ही मुक्ति

(१) पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी ये तीन वाणी के रूप हैं। इनमें स्थूल, सूक्ष्म और पर का गुणा करने से यह मार्ग 'नवधा' हो जाता है। इन नवधा वाणियों की भित्ति 'परावाक्' तंत्रालोक पंचम आह्निक, पृष्ठ ४०८

(२) न हि मनो बुद्धि विहाय ज्ञानस्याधिगमोऽवभासी भवेत्, किन्तु ते एव मनो बुद्धी प्रोक्तउक्तनुया स्वरूपनिमज्जेन सूक्ष्मं शाक्त रूपमधिकृत्य एतज्ज्ञानं जनयत् इत्ययुक्तं, परभावत्त तत्सूक्ष्मं शक्तितत्वं निगद्यते—तंत्रालोक, आह्निक १३, पृष्ठ १२२

होती है ।[1] यदि यह विवेक अकस्मात् जागृत हो जाय तो शाम्भव अवस्था प्राप्त होगी और साधना अनपेक्षित होगी, परन्तु यदि पूर्व कर्मानुसार ऐसा न हो तो 'क्रम-साधना' अनिवार्य है । पाशों के नाश के लिए ही साधना की आवश्यकता होती है, क्योंकि शैव सभी भेदों को प्राण में प्रतिष्ठित मानते हैं ।

इस शैवमत में आत्मज्ञान के लिए छह मार्गों का वर्णन है । इन्हें 'अध्वा' कहते हैं । अध्वा का अर्थ है 'कलन' । कलन दो प्रकार का है : क्रम, अक्रम । कलन का अर्थ यहाँ भावना या परामर्श है ।

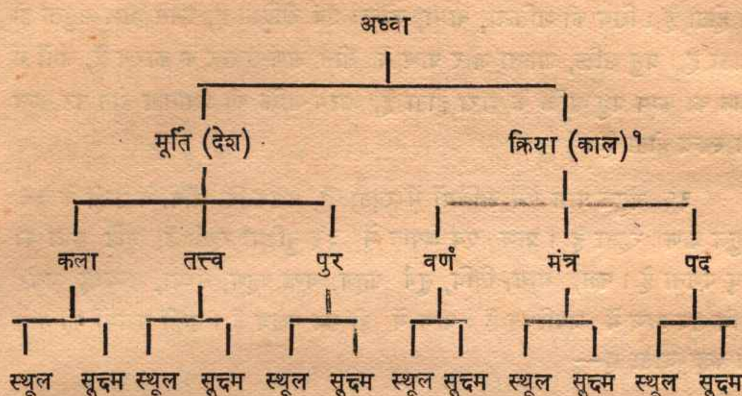
प्राणध्वा : प्राण कलात्मक है, अत: काल का ज्ञान 'कालध्वा' कहलाता है । क्रम-क्रम से काल का ज्ञान हो तो उसे 'क्रम कालध्वा' अथवा अकस्मात् ज्ञान हो तो उसे 'क्रमकालध्वा' कहते हैं । परमतत्त्व का काल से योग ही शक्ति हैं अर्थात् ब्रह्म जब अपने को काल में सीमित करता है, तब उसकी संज्ञा शक्ति होती है, इसी को 'काली' कहा गया है । यही 'काली' काल के साथ संयुक्त होकर प्राण के रूप में स्फुरित होती है । स्वात्मा का स्वेच्छा से बहिर्मुख होकर स्पन्दित होना ही 'प्राण' है, 'प्राण' काल में सीमित चैतन्य का नाम है, अत: काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन शैव-साधक ने किया है । दिन रात में कुल २१६०० श्वास चलते हैं । प्राण शक्ति का इस प्रकार अवधारण कर पुन:-पुन: तत्व का परामर्श ही ध्यान है । यही प्राण शिखा-बंधन कहलाता है । प्रत्येक श्वास के साथ सहज गति से सोऽहं, सोऽहं अप्रतिहत रूप से चलना चाहिए यही 'सहज जप' है, इसी को कालध्वा या प्राणध्वा कहा जाता है । जब प्राण को मध्यममार्ग में प्रविष्ट किया जाता है, तब देवता जागृत हो जाते हैं और शक्तियाँ अपना फल दिखाने लगती हैं ।

प्राणध्वाया कालध्वा : क्रिया के रूप में तत्त्व का आभास ही कालध्वा है । क्रिया के तीन रूप होते हैं : वर्ण, मंत्र, पद ।

देशाध्वा या मूर्ति अध्वा : मूर्ति के रूप में तत्त्व का आभास देशाध्वा है । यह तीन प्रकार का है—कला, तत्त्वएवं पुर । इस प्रकार मूर्ति (देश) तथा क्रिया के रूप में देश एवं काल के दो प्रकार के अध्वा होते हैं और प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—

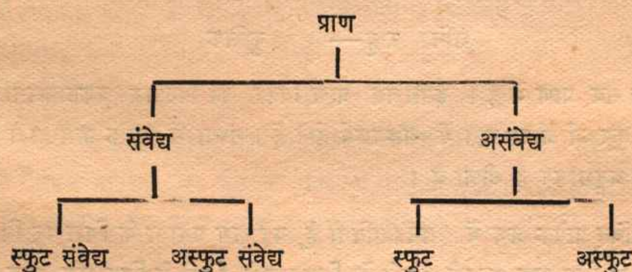
---

(१) विवेक: सर्वभावानां, शुद्धभावान्महाशय: ।
बुद्धितत्वं तु त्रिगुणमुत्तममाधममध्यमम् ।
अणिमादिगतं चापि, बन्धकं जड़मिन्द्रियम्—वही, १२३



इनके विकास का क्रम इस प्रकार है : ब्रह्म→विन्दु→कला→तत्त्व→पुर या भुवन ।

प्राणध्वा या कालध्वा : यद्यपि प्राण सर्वव्यापी है, तथापि वह अस्फुट रहता है । हृदय देश में वह स्फुट होता है, अतः उसका वर्णन हृदय से ही प्रारम्भ किया जाता है । प्राण-धारण को 'यत्न' कहते हैं । यह 'यत्न' दो प्रकार का है । यह संवेद्य और असंवेद्य दो प्रकार का है, इनमें भी भेद हैं—



स्वरोदय-सिद्धान्त[2] : संवेद्य-अस्फुर कन्द (लिंग एवं गुदा के बीच) में स्थित संवेद्य प्राण है, नाड़ियाँ यहीं से प्रारम्भ होती हैं, यह प्राण हृदय तक अस्फुर रहता है, हृदय से प्राणाचार स्फुर होता है । अतः प्राण का बिभाग हृदय-देश से

(१) यहाँ 'काल' तत्त्व ३६ तत्त्वों में वर्णित तत्त्वों से भिन्न तत्त्व है ।

(२) प्राण का हृदय से बाहर जाना तथा पुनः हृदय में प्रवेश, यही क्रिया बार बार करना प्राणोदय कहलाती है ।

ही होता है। शिव की शक्तियाँ, वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्रिका हैं, इनसे प्राण संयुक्त हो जाता है। प्रभु शक्ति, प्रमाता और प्राण ये तीन प्राण-संचार के कारण हैं, अंगों में पवन का कम्प प्रभु शक्ति के द्वारा होता है, आत्म-शक्ति की प्रधानता होने पर कन्द का स्पन्द होता है।

३६ अंगुल प्राण सब प्राणियों में रहता है, मशकादि जीवों में उन्हीं के ३६ अंगुल प्राण रहता है। प्राण एवं अपान में ३२ तुटियाँ रहती हैं, तुटि काल की लघु गणना है। पक्ष, मास, तिथि, सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण, संध्या, मध्याह्न, अर्ध-रात्रि सब प्राण में अवस्थित हैं। प्राण में ही सब नक्षत्र हैं। इन्हीं नक्षत्रों को नाग भी कहा जाता है—

सोम	—	वासुकि
कुज	—	तक्षक
सोमज	—	कर्कोट
गुरु	—	सरोज
शुक्र	—	महाब्ज
शनि	—	शंख
शनि + राहु	—	कुलिक

ये सब प्राण में हैं। इसीलिए प्राण विश्व का विस्तार प्रकट करता है। दिन में क्रूरकर्म और रात में सौम्यकर्म होते हैं। संध्या में मुक्ति प्राप्त होती है। प्राण का अनुशासन ही दीक्षा है।

संवित् प्रत्येक क्षण में आनंददायिनी है, यह क्षण प्रमाता के चित्त पर निर्भर है, किसी के लिए क्षण कल्प है, किसी के लिए युग है, किसी के लिए क्षण मात्र है।

दिवस : वेद्य वस्तुओं का जानना ही दिन हैं, क्योंकि प्रकाश से ही पदार्थों का ज्ञान होता है।

निशा : प्रकाश शांत होने पर निशा होती है।

स्वप्नावस्था : प्रकाश ग्रहण का कार्य प्रमाता द्वारा होता है, इसे 'वेदिता' कहा है, वेदिता का अर्थ है, 'अंतर्मुख-स्थित' अतः वेदितावस्था ही स्वप्नावस्था है।

सुषुप्ति : वेदितावस्था के परे सुषुप्ति है।

अमावस्या प्रतिपदा : प्राण सूर्य है, अपान चन्द्र है, प्राण के आक्रमण से चन्द्र एक एक कला को छोड़ता चलता है, अन्त में अमावस्या को चन्द्र सूर्य में विलीन हो जाता है, पुनः चन्द्र उदित होता है, चन्द्र में १६ कलाएँ हैं जिनमें केवल १५ ही विलीन होती हैं, 'षोड़शी कला' क्षीण नहीं होती, 'प्रतिपदा' में पक्षों की संधि होती है।

अमृत : सूर्य जब चन्द्र को निगलता है तो चन्द्र अमृत छोड़ता है, राहु इसी अमृत को पीता है। रवि के बिम्ब में स्थित चन्द्र बिम्ब के पास ही 'राहु' रहता है। राहु अमृत को पीकर चन्द्र बिम्ब को छोड़ देता है, यही 'ग्रहण-मुक्ति' कहलाती है। इन तीनों के संघट्ट से अद्वय-स्थिति प्राप्त होती है। सूर्य प्रमाता है और चन्द्र प्रमेय है, इन दोनों को राहु आच्छादन करता है, क्योंकि राहु माया है, इन तीनों का संघट्ट ज्ञान-शक्ति द्वारा, प्राण शासन के उपरान्त हो सकता है, यही 'महाग्रहण' है यही 'पुण्यकाल' है।

सूर्य-ग्रहण अमावस्या को होता है, शुद्ध प्रतिपदा को भी कभी-कभी होता है, सूर्य से चन्द्र का अलग हो जाना ही मोक्ष है। अर्थात् अपान के प्राण से अलग हो जाने पर ही मोक्ष होती है। ग्रहण(चन्द्र–अपान) ही प्रमेय है और ग्राहक (सूर्य-प्राण) ही प्रमेय है, दोनों के क्षय से मुक्ति सम्भव है। इस समय में जपादिका फल अवश्य होता है।

ज्योतिष : स्वरोदयशास्त्र का सम्बंध ज्योतिष से भी है, प्रत्येक अंगुल में पाँच तिथियाँ होती है, ३० तिथियों का एक मास होता है। तालु में प्राण का प्रवेश ही चैत्र मास है, मंत्र-ग्रहण का श्रेष्ठ समय यही है।

तुटि से लेकर कल्पादि तक का ज्ञान होने पर योगी काल का ध्यान करता है। प्राणानुशासन से क्रमशः तुटि से कल्पादि पर्यन्त ध्यान होता है। योगी सहज ही तुटि से लेकर १२ वर्ष तक की तिथि, मास, वर्षादि को ध्यान में ला सकता है परन्तु सहसा दीर्घकाल का ध्यान फल नहीं देता। पराकाष्ठा को प्राप्त योगी दीर्घ-काल का भी ध्यान कर सकता है। ऐसा योगी शिवी-भाव में लीन हो जाता है, काल-विजय करके 'महाकाल' हो जाता है। नियति, काल, राग, विद्या, कला सबका लय हो जाता है।

महाप्रलय : प्राण को सुषुम्णा में स्थिर करने पर अन्य तत्व जब लय हो जाते हैं,तब संवित्[1] शेष रहती है, परन्तु आगे वह भी चैतन्य में लीन हो जाती है, शिव, शक्ति एक हो जाते हैं, 'सामनस' पद यही है, इसी को 'महाप्रलय' कहते हैं। योगी बार-बार तुटि से लेकर कल्प तक ध्यान करता हुआ सृष्टि को जन्म देता है और महा-प्रलय की अवस्था को प्राप्त सृष्टि का लय कर देता है। इस प्रकार जो बार-बार सृष्टि एवं प्रलय में समर्थ है, वही महाकाल है, सच्चा योगी है। नाना चक्रों का अतिक्रमण करने से प्राण का निरोध होता है और प्राण का ग्रास हो जाने पर काल का भी ग्रास हो जाता है, काल के नष्ट हो जाने पर केवल ज्ञान रूप चैतन्य की सत्ता रह जाती है।

वर्णोदय तथा अजपाजाप : सम्पूर्ण वर्णों के पीछे एक अनाहत[2] वर्ण है जो अनवरत रूप से नादात्मक है। मंत्र पर सूक्ष्म तथा स्थूल तीन प्रकार के हैं। वर्णात्मक मंत्रों में सर्वदा सतत उच्चार रूप अनाहत नाद संचरित होता रहता है। मंत्र बीज एवं पिण्डात्मक दो प्रकार के हैं। मंत्रों में संवित् ही स्पन्दित होती है। जैसे अरघट्ट के चक्र में यदि एक बाल्टी को ठीक कर लिया जाय तो सब ठीक काम करने लगती हैं तथैव अनुसंधान बल से, यत्न पूर्वक देवता रूप होने से मंत्र द्वारा तादात्म्य की प्राप्ति होती है। मंत्र-जप के समय उपर्युक्त प्राण-साम्य आवश्यक है। चूँकि भेद स्पन्द के अधीन है और प्राण स्पन्द के अतः प्राणानुशासन स्पन्द के दूसरे रूप मंत्र के लिए आवश्यक है, क्योंकि मंत्रों में भी स्पन्द ही स्फुरित होता है। प्राणा-साम्य से मंत्र सिद्ध होता है अर्थात् शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं और भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे उच्च स्थान से देखने पर नीचे के प्रदेश एकाकार दिखायी पड़ते हैं, वैसे ही संवित् की प्राप्ति होने पर भेद समाप्त हो जाते हैं। मानस जप ही अद्वैत-स्थिति का साधन है, इसमें मौन-जप चलता है, अजपा-जप यही है। जब योगी स्वयं अपने मंत्र को सुनता है तो वह उपांशु जप और जब अन्य लोग भी सुनते हैं तो वह शब्द-जप कहलाता है।[3]

---

(१) यहाँ संवित का अर्थ परिमित आत्मरूपा शक्ति है। सामान्यतः इसका अर्थ शिव की चित् शक्ति या चैतन्य होता है।

(२) एकोनादात्मको वर्णः, सर्ववर्णविभागवान्
सोऽनस्तमितरूपत्वादनादत इहोदित :—तंत्रालोक-षष्ठ आ०, पृष्ठ १७८

(३) आत्मा न शृणुते मं स मानसो जप उच्यते।
आत्मना शृ णुते यस्तु, तमुपांशुं विजानते।
परे शृण्वत्तियं देवि, स शब्दः स उदाहृत—तंत्रा० जिल्द ४ आ० ७, पृष्ठ ३६

चमत्कार-सृष्टि : सुषुम्णा में प्राण के संचार एवं निर्गम के साथ मानस जप ही सृष्टि के लय एवं प्रलय का कारण है, सारे वैचित्र्य का कारण यही क्रिया है। अतः शरीर का वैचित्र्य यही कुछ भी उपयोगी नहीं है, सारे चमत्कारों का स्रोत यही आंतरिक-क्रिया है।

मानस जप में प्राण-शक्ति के उदय, संगम और शान्ति में जप किया जाता है अर्थात् प्राण शक्ति के उदय-स्थान कुंडलिनी स्थान में हृदय देश में तथा प्राण शक्ति जहाँ शांत होती है उस ऊर्ध्व प्रदेश में जप होता है। जप में प्राण दो बार चक्कर काटता है। प्राण का विकास एवं आकुंचन दोनों होता है। प्राणों की साम्यावस्था सुषुम्ण में होती है। जप के सात स्थान भी कहे गए हैं उदय, संगम, शांत के अतिरिक्त प्राणापान प्रवाह रूप में, अक्ष नाड़ी-चक्र के सूत्रों में, हृदय देश के 'हंस' नामक स्थान में, सहस्रार में अतः सप्त प्रकार जप भी कहा गया है। यही मानस जप है। अजपा जाप है। इसमें प्रत्येक क्रिया करते रहने पर भी अंतस् में जप चलता रहता है।[1]

देशाध्वा : शैव-शासन में सारा ध्यान चैतन्य पर केन्द्रित है, सारी साधनाएँ चैतन्य से रहित व्यर्थ मानी जाती हैं, चैतन्य के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता यहाँ स्वीकृत नहीं है। अतः शैवों का दृढ़ मत है कि भुवनों का वर्णन कल्पित है, शिष्यों को समझाने के लिए ही केवल लोकादि की कल्पना है। तंत्र शब्द का अर्थ ही विस्तार है, भुवनादि के वर्णन का विस्तार कर शिष्य को वस्तुतः चैतन्य का ज्ञान ही कराया जाता है, अतः इस प्रकार के वर्णन गौण हैं। इसके अतिरिक्त 'ध्यान' के लिए भी लोकादि की कल्पना की जाती है।

अतः भुवनादि का ज्ञान प्राप्त कर उनका ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार का ध्यान करने से 'सालोक्य' मुक्तिप्राप्त होती है, जिस देवता का ध्यान जिस भुवन में होता है, श्रीकंठ शिव उसी लोक में, उसी देवता के रूप में व्यक्त होते हैं। अतः विभिन्न लोकों में स्थित ईशों की उपासना भक्ति-भाव से विधेय है, इससे साधक लोक विशेष के ईशविशेष में लीन होगा और क्रम-क्रम से अन्य ईशों में लीन होता हुआ अंत में 'महेश' में लीन हो जायगा।

---

१. द्रष्टव्य-तंत्रा० ३१ आ०

तत्व-वर्णन : काल (प्राण) तथा पुरों (भुवनों) के वर्णन के पश्चात् साधना के लिए 'तत्वों' का ज्ञान आवश्यक है। प्रलय-पर्यन्त रहने वाले भोग-पदार्थों को तत्व कहते हैं। इन तत्वों से निर्मित शरीर, घट आदि नष्ट होते रहते हैं। परन्तु सूक्ष्म तत्व प्रलय तक स्थित रहते हैं। तत्व स्वयमेव उत्पन्न नहीं हो सकते क्योंकि वे जड़ हैं, स्वयं चैतन्य अंश रूप में तत्वों का रूप धारण करता है। कर्त्ता करण स्वयं चैतन्य ही।

चैतन्य (परम शिव) पूर्णत्व युक्त होने पर भी, स्वातंत्र्य माहात्म्य से बहिर्भास की इच्छा करता है अतः 'अहम्' में हूँ इस परामर्श को प्राप्त होता है, यही 'शगिदशा' है। अहम् के अनुभव के बाद इदम् का परामर्श प्राप्त होता है, परन्तु इस अवस्था में अहम् तथा इदम् का अनुभव अस्फुट रहता है, यही 'सदाशिवास्था' है।

तृतीयावस्था में अहम् तथा इदम् स्फुट हो जाते हैं, परन्तु ज्ञानदशा की प्रधानता रहती है। इसे ही 'ईश्वर' कहते हैं। सदाशिव एवं ईश्वर दोनों अशाओं में सदाशिव तत्त्व प्रधान है। सदाशिव में ध्यान का मल नहीं है, ईश्वर में ध्यान का मल रहता है।

क्रमशः परम शिव शाम्भव, शक्तिजा, मंत्र, महेश तथा मंत्र नायक ये पाँच रूप धारण करता है। ये ही पाँचगण हैं जो जो रूप अपने-अपने गण में स्थित होता है, वही वही तत्त्व (पंचभूतों में से एक) बनता है। यह शुद्ध सृष्टि है। 'शुद्ध अध्वा' इसी का नाम है।

मल और माया : अशुद्ध सृष्टि 'लोलिका' नामक शक्ति द्वारा उत्पन्न होती है। विषय नियत न होने पर भी जो इच्छा उत्पन्न होती है, उसे 'लोलिका' कहते हैं। इससे जीव में अपूर्णता उत्पन्न हो जाता है। अभिलाषा से 'आणवमल' तथा लोलिका से 'कार्ममल' उत्पन्न होता है। यह अशुद्ध सृष्टि है, इसके कर्त्ता 'अनंत' माने जाते हैं। सृष्टि-प्रसार के लिए 'लोलिका' रची गई है। जप शिव अपने ऊपर अपना आवरण डालते हैं, तब 'मल' उत्पन्न हो लाता है। चैतन्य संकुचित हो जाता है, और संकुचित-ज्ञान ही मल है। अभिलाषा, अज्ञान, अविद्या, ग्लानि ही मल कहलाते हैं। मल से भेद-भावउत्पन्न हो जाता है। भेद-भाव के कारण संकुचित आत्मा अपना स्वतंत्र, शुद्ध चैतन्य रूप भूल जाता है। कार्य मल गलित हो

जाता है, फिर बीज के नष्ट हो जाने से कर्म-संतति नहीं चलती । क्योंकि संस्कार से ही कर्म फल मिलता है 'यह कर्म फल अवश्य मिलेगा' यह वृत्ति ही संस्कार है । इसी से कर्म-प्रवाह चलता है, 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ' इस भावना से संस्कार का नाश हो जाता है । संस्कार के अभाव में प्रमत्त एवं मूढ़ को जैसे कोई फल नहीं मिलता, तथैव ज्ञानी भी फल, अफल से परे होता है । अत: अनुसंधान ही पाप पुण्य का फल देता है, कर्म नहीं । अनुसंधान रहित साधक 'विज्ञान केवली' कहलाता है । सांख्य में इसी को अंतिम माना गया है । परन्तु शैव-शासन में 'विज्ञानकल' अवस्था मानी जाती है, इसमें 'संकोच' का नाश हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध का भोग सभी को करना पड़ता है ।

माया : शिव की माया शक्ति जीव को पाशों में बाँधती है यह माया जड़ है, भेदरूपा है । जड़ता का अर्थ है, 'परछिन्न प्रकाशत्व' [1] प्रकाश में अपूर्णता या आवरण पड़ने से जड़ता आती है ।

माया के दो रूप हैं (१) कारण का अछून रूप (२) अनुच्छून रूप । यह माया स्वरूप-गोयन के कारण निरुद्धा और प्राण, आदि की सृष्टि करने से कला कहलाती है । चूँकि ईश्वर से माया अलग दिखाई पड़ती है, अत: वह उपादान कारण कही जाती है । परन्तु बिना उपादान के भी वस्तु बनती है यथा गगन-पुष्प क्योंकि जिस वस्तु का संकल्प होता हैं, उस वस्तु का अत्यंताभाव नहीं है, यह सिद्ध है अत: काल, दिक आदि के द्वारा ही 'गगन पुष्प' का निषेध हो सकता है । अन्यथा गगन-पुष्प की सत्ता भी सम्भव है, अत: संकल्प से ही सृष्टि कही गई है ।

यह माया प्रत्येक जीव में अलग २ है अत: प्रत्येक के सुख-दु:ख भिन्न २ हैं । शक्तिपात होने पर यही माया शुद्ध हो जाती है । कला पृथ्वी आदि तत्त्व भी शुद्ध हो जाते हैं । ईश्वर के ध्यान में कलादि तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं । यथा भगवान के प्रति राग शुद्ध होता है । आराधना के समय काल शुद्ध है । आराधना के नियमन में नियति शुद्ध है [2]

---

(१) परिछन्न प्रकाशत्वं, जडस्य किललक्षणम्—तंत्रालोक जिल्द ६ नवम् आह्निक, पृष्ठ ११७-१८

(२) कला हि शुद्धा तत्तादृक्, कर्मत्वं संप्रसूयते । तंत्रा० आ० ६, पृष्ठ १३४
मितमप्याशु येनास्मात्, संसारादेष मुच्यते—

कला : माया से कला का जन्म होता है, स्वरूप-गोपन के बिना कला का जन्म नहीं हो सकता, कला का अर्थ है 'कर्तृता', 'कुछ करना' ही कला है। जीवों का आलिंगन कर यही कला अनेक कार्यों के लिए प्रेरित करती है। प्रथम कला का रूप 'फूले हुए बीज' से अनुमान में आ सकता है। जल के प्रसंग से इसमें अंकुर उत्पन्न होता है। यह कला करण नहीं है, प्रयोजक है, कर्त्ता इसकी प्रेरणा से अपने को कर्त्ता मानता है।[1]

कला के द्वारा कर्त्ता की कर्तृत्व की अभिव्यंजना होती है, अतः कला द्वारा ही कर्त्ता भोग करता है। चूंकि विवेक के तिरोधान से ही कला उत्पन्न होती है, अतः क्रम-क्षय से विज्ञानकलता उत्पन्न होती है। तब कला से अधः पतन नहीं होता और पुरुष एवं कला का अंतर प्रतीत होने लगता है। अतः ज्ञान के पूर्व कला दोषालया है और ज्ञान के बाद शुभा है। कला का यही मर्म है। बिना इस मर्म के निर्लिप्तता नहीं आती। वृत्तियों के रहने तक 'कला' का शासन हम पर रहता है, परन्तु वृत्तियों के नाश के बाद उत्पन्न विवेक से कला पर पुरुष शासन करने लगता है। वृत्ति नष्ट होने पर उत्पन्न अकर्तृत्व का अभिमान ही विवेक है। यह विवेक शक्तिपात से ही सम्भव है। सांख्य में शक्तिपात नहीं है। विवेक से कला एवं पुरुष का ज्ञान होता है और उससे माया पर विजय प्राप्त होती है। शक्तिपात से सहसा ही यह स्थिति प्राप्त हो सकती है और क्रम-क्रम से भी प्राप्त होती है। अन्य शास्त्रों में शक्तिपात न मानने से अक्रम-मुक्ति नहीं है। शक्तिपात विवेक का सहकारी कारण है। बिना इसके कुछ भी सम्भव नहीं है।

राग : सृष्टि के लिए राग की भी आवश्यकता है। अवैराग्य से सृष्टि नहीं हो सकती। अतः सृष्टि में माया-कला, राग की आवश्यकता है।

---

(१) कर्तृशक्ति व्यनक्त्यस्य कला सातः प्रयोजिका।
ततः कलाः समायुक्तो, भागेऽणुः कर्तृकारकम् —वही, पृष्ठ १४३

माया का कार्य मूर्च्छित करना, ज्ञान का तिरोधान करना है उसी से कर्त्ता में कर्तृता की प्रेरणा लगती है, इससे कर्म होता है, कर्म की प्रेरकशक्ति ही कला है। परन्तु कर्तृता के लिए ज्ञान का पूर्ण तिरोधान नहीं होता। कुछ सात्विक ज्ञान रहने पर 'राग' के कारण कर्म की सृष्टि होती है।

सृष्टि का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

परम—शिव
|
शिव-शक्ति (स्वरूप-गोपन-माया)
|
पशु (जीव) + कला —किंचित् कर्त्तृत्व
|
पशु + विद्या —भेदज्ञान
|
पशु + राग —नियत वस्तु के प्रति आसक्ति
|
पशु — काल —कल करूँगा, आज करूँगा—ऐसी वृत्ति
|
पशु —नियति —विशिष्ट कार्य में लगना

इस प्रकार विद्या, राग, काल और नियति ये कला के चार कार्य हैं। षट्-कंचुकों (पाश) में माया, कला, राग, विद्या काल और नियति की गणना है।

कर्मों के जन्म में ये ही कंचुक (पाश) के कारण हैं। ये बाहरी आवरण हैं, भीतरी आवरण 'मल' हैं। शंख में जैसे मल रहता है वैसे ही मायीय, आणव एवं कार्मक मल जीव में रहते हैं। मल से युक्त जीव पुद्गल कहलाता है। इनसे भोग्य एवं भोक्ता अलग-अलग हो जाते हैं और सुख तथा दुःख उत्पन्न होते हैं, सुख दुःख का कारण गुण है, सत्व, रज, तम। क्षुब्ध होकर ये गुण अपना कार्य करते हैं। गुणों के भेद से लोकादि का भेद होता है।

इन गुणों से बुद्धि तत्व उत्पन्न होता है। बुद्धि में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। बुद्धि इन्द्रियों के द्वारा वस्तु को प्रतिबिम्बित करती है। बुद्धि बिना इन्द्रियों के भी स्वप्न में रूपों का सृजन करती है। बुद्धि जड़ है, अर्थात् इसमें परिमित चैतन्य का ही प्रकाश है। यही अंतःकरण है।

चूँकि अहं का मनन बुद्धि कराती है, अतः बुद्धि को कारण कहा गया है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर ही चैतन्य अहं का मनन करता है। "ऐसा जानता हूँ" यह ज्ञान उत्पन्न होता है। जड़ रूपा बुद्धि में ही अहंकार रहता है। अहंकार से पंचविध प्राणों का संचार होता है। अहंकार सत्व, रज, तम मय तीन प्रकार का

होता है। सात्विक अहंकार से मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। अहंकार विशेष विषयों को लेकर बढ़ता रहता है। 'मैं सुनता हूँ', 'मैं देखता हूँ' ऐसी वृत्तियाँ अहंकार के कारण उत्पन्न होती हैं। अतः अहंकार ही इन्द्रियों का कारण है। कुठार छेदन का करण नहीं है। कुठार- चालक का अहं ही छेदन में मुख्य सहायक है, कुठार गौण है।

रजो-गुण से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तंन्मात्रादि भी अहंकार से ही उत्पन्न होती हैं। तन्मात्रा का अर्थ है, सामान्य गुण, पृथ्वी गंध के समूह का नाम है। इसी प्रकार अन्यतत्वों में तन्मात्राएँ सामान्य गुण रूप में विद्यमान हैं—आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श, अग्नि में रूप, जल में रस एवं पृथ्वी में गंध।

जिस प्रकार रंगीन वस्त्र के रंग एक साथ ज्ञात होते हैं तथैव योगी को एक साथ तत्वों में स्थित गुणों का ज्ञान होता है। सामान्य जन को वे गुण अलग-अलग दिखायी पड़ते हैं, किन्तु योगी अक्रम से गुण-ज्ञान करते हैं।

इस प्रकार गन्ध से शब्द तक एक ही सत्ता विद्यमान है, उपाधि भेद से नाना भेद हैं। धर्म तथा धर्मी एक है।

शैव-शासन में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अर्थात् शब्द अन्य तत्वों में विद्यमान रहता है। अन्य-शास्त्र इस तथ्य को नहीं मानते।

इस प्रकार कुल तत्व ३६ हैं, नर, शिव एवं शक्ति के कारण ये त्रिगुणित होकर १०८ कहलाते हैं—

३६ तत्व—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या, ये शुद्ध तत्व हैं। माया, काल, नियति, कला, अविद्या, राग, पुरुष ये शुद्धाशुद्ध तत्व हैं।

प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ तथा पंच भूत—ये अशुद्ध तत्व कहलाते हैं।

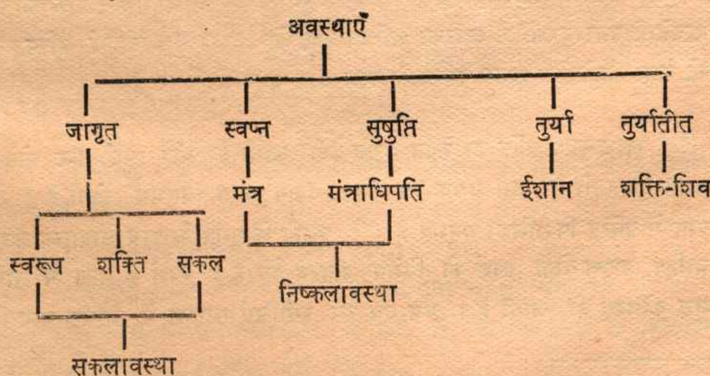
शुद्ध तत्वों में चैतन्य की प्रधानता रहती है और अशुद्ध तत्वों में अप्रधानता और अशुद्ध तत्वों में भी चैतन्य प्रच्छन्न रूप में अवस्थित है, यह स्मरणीय है।

त्रिक् शास्त्र में तत्त्वों का भेद ही उसकी विशेषता है। परन्तु तत्त्वों, और लोकों का यह विस्तार अभेद की पुष्टि के लिए ही है वस्तुत: चैतन्य से भिन्न किसी की सत्ता नहीं है।

परन्तु साधना में वस्तुओं की पूजा होती है, क्योंकि यद्यपि वस्तु-प्रस्तर-प्रतिमा आदि शिव का मूल रूप नहीं है, परन्तु वस्तु शिव का ही एक रूप है, अत: वस्तु की पूजा वस्तुत: शिव की पूजा है, शिव के प्रति यह भावना हो फल देती है, प्रतिमा फल नहीं दे सकती, क्योंकि फल चित्रानुसंधान से ही होता है![1] किन्तु यह प्रारम्भिक साधना है। अंतिम साधना में दो रूप हैं I विज्ञानाकल II प्रलयाकल। प्रथम में शुद्धबोध होने पर भी कुछ भेद रहता है। परन्तु 'प्रलयाकलावस्था' में पूर्ण शिवत्व रहता है।

तत्त्व-विजय : तत्त्वों के साथ तादात्म्य कर तत्त्वों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। तत्त्व में गुणों का नाम है, अत: पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के गुण (रूप) का ध्यान किया जाता है। इनके ध्यान से समाधि-विशेष भी प्राप्ति होती है। ऐसे योगी को 'पिण्डस्थ' कहते हैं। इस योगी को केवल एक ही तत्त्व ध्यान में दिखायी पड़ता है। इससे योगी में अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। तत्त्व-विजयी योगी पंचभूतों से अपने संकेत पर नृत्य करा सकता है।

अवस्थाएँ : मालिनी-विजय-तंत्र में इनका विभाजन इस प्रकार है—



(१) तथा वेद्यस्वभावेऽपि, वस्तुतो न शिवात्मताम्
कोऽपि भाव: प्रोज्झतीति, सत्यं तद्भावना फलेत्।
—तंत्रा०, जिल्द ७ आ० १०, पृष्ठ ८८

जागृत अवस्था में प्रमेय की प्रधानता रहती है और स्वप्न में 'प्रमाण' की प्रधानता है। सुषुप्ति में विश्व शांत हो जाता है। उदासीनता से रहित, पूर्ण के प्रति उन्मुखता तुर्यावस्था है। इस अवस्था में जागृत स्वप्न की सुषुप्ति के प्रति उन्मुख हो जाता है। सुषुप्ति तुर्या की ओर उन्मुख रहती है। प्रमेय, प्रमाण में, प्रमाण प्रमाता में शांत हो जाता है।

प्रमाता ज्ञान में विश्राम पाता है। यह स्थिति तीन सोपानों में दिखायी पड़ती है—जागृत एवं स्वप्न में अपरा, सुषुप्ति में परापर एवं तुर्या में परा दिखायी पड़ती है। यह 'रूपातीत' अवस्था कहलाती है। इसे 'पंचमावस्था' भी कहते हैं। विश्व के साथ तन्मयता यहीं प्राप्त होती है। तुर्यातीत अवस्था में भेद-नाश है, इसे समझाया नहीं जा सकता। मालिनी विजय में जागृत अवस्था को स्वरूप, शक्ति एवं सकल में विभाजित किया गया है। इसके भी १५ भेद हैं। स्वप्न तथा सुषुप्ति में शिव के दो रूप क्रमशः मंत्र एवं मंत्राधिपति रहते हैं, तुर्या में ईशान और तुर्यातीत में शिव-शक्ति का निवास है।

कलाध्वा : भुवनों में व्याप्त होकर भी जो तत्त्व भिन्न रहे वह कलातत्व कहलाता है। यथा गोत्व 'गायों' में व्याप्त; है परन्तु गोत्व कृत्रिम तत्व है, जबकि 'कला' वास्तविक तत्त्व है। कुछ साधक तत्त्वों में अनुस्यूत सूक्ष्म-शक्ति को कला मानते हैं यथा धरणी में धारिका शक्ति। कुछ शिव द्वारा सुखसंग्रहार्थं कल्पित वर्ग को कला कहते हैं। कला द्वारा ही तत्त्व और भुवनादि स्थिर हैं।

साधना : शक्ति का भेदन करके देवी आती है और स्पर्श नष्ट होने पर व्याप्त हो जाती है। इस समय 'पिपीलिका-दंशन' जैसा अनुभव होता है। यही योग में प्रसिद्ध पिपीलिका अनुभव है।[1] प्रकृति के गुणों के साथ तादात्म्य करना चाहिए, परन्तु योगी स्पर्श को विशेष महत्त्व देते हैं। स्पर्श के अन्त में संवित् शुद्ध कोमवत् हो जाती है। रूप एवं रस इसीलिए साधना में बाधक मान लिये

---

(१) शक्तिभित्वा ततो देवि, त्वक् शेषे व्यापिनी भवेत्।

भवेदनुभवस्तत्र स्पर्शो यद्वत्पिपीलिका—तंत्रालोक, जिल्द ७ आ० ११, पृष्ठ २८

जाते हैं, क्योंकि इनसे अहंकार अधिक उत्पन्न होता है।[1] स्पर्श का ध्यान अधिक श्रेयस्कर है। स्पर्श प्रथम तो सूक्ष्म होता है तथा दूसरे वह क्षोभक नहीं है। तत्त्वों के गुणों को क्रमश: भी लिया जा सकता है : गंध पृथ्वी में, रस प्रकृति में और रूप की माया में लीन कर तब स्पर्श का ध्यान करना चाहिए। पृथ्वी, जल, अग्नि में क्रमश: गंध, रस एवं रूप के शांत हो जाने पर 'स्पर्श' का ध्यान करना चाहिए, 'स्पर्श' के शांत होने पर योगी का चित्त आकाशवत् संवित् में लीन हो जाता है। यही 'गगनोपम' अवस्था है जो क्रमश: तत्वों पर विजय पाने से उत्पन्न होती है।[2]

इस 'पंच तत्त्व-साधना' के अतिरिक्त अनेक साधनाएँ हैं, क्योंकि भावनाएँ अनन्त हैं। एक तत्त्व में सबकी भावना नहीं होती। परन्तु शहद पर्वत पर ही मिलता है, छत पर नहीं। फिर भी गुरु शिष्य की भावनानुसार उपदेश करता है। अंतिम तत्त्व प्राप्ति के लिए सुप्रबुद्ध गुरु तथा भोग की आशा से रहित शिष्य की आवश्यकता है।

इस 'कलाध्वा' के तीन रूप हैं—

पद, मंत्र, वर्ण या स्थूल, सूक्ष्म पर।

पद्-मंत्र : जिससे ज्ञात होता है, उसे 'पद' कहते हैं। ज्ञान पाकर साधक अक्षुब्ध होता है, यही मंत्रमय स्थिति है। मंत्रमय का अर्थ 'गुप्त भाषी' होना है। पद एवं मंत्र के अभिन्न होने से मंत्रत्व और भी सूक्ष्म हो जाता है, इसे 'पद-मंत्र' कहते हैं। अत: मंत्र सूक्ष्म है और पद स्थूल है।

---

(१) बिन्दु, नाद, रूप और रस में क्षोभ उत्पन्न करने की शक्ति अधिक है अत: स्पर्श श्रेष्ठ है—

अतो बिन्दुरतो नादो, रूपमस्मादतो रस:।
इत्युक्तं क्षोभकत्वेन, स्पन्दे स्पर्शस्तु नो तथा—वही, पृष्ठ २९

अंधकार में भी रूप कल्पना में आ जाते हैं, रस की वस्तु के बिना भी जीभ लोलुप हो उठती है, अत: स्पर्श श्रेष्ठ है।

(२) तत्स्पर्शान्ते तु संवित्ति: शुद्ध चिद्व्योम रूपिणी।
यस्यां रूढ़: समभ्येति, स्वप्रकाशात्मिका पराम्—तंत्रा० एकादश आ०, पृष्ठ २७

वर्णाध्वा : उदासीनता को छोड़कर प्रक्षोभ का नाश होने पर वर्णाध्वा की स्थिति होती है। पद एवं मंत्र दोनों इसमें गर्भी-कृत हो जाते हैं। शरीर में ३६ व्यंजन व्याप्त हैं और स्वर इन व्यंजनों में व्याप्त हैं।

चित्त का विमर्श ही वाच्य दशा को प्राप्त होता है चैतन्य ही मंत्र में परिणत होता है। इसका विमर्श ही शुद्ध ज्ञान एवं क्रिया है। संवित् का स्फुरण क्षुब्ध तथा अक्षुब्ध दो रूपों में व्यक्त होता है। प्रमाण क्षुब्ध रूप है और मंत्र अक्षुब्ध रूप है। संवित् के कारण सब शब्द सब अर्थों के व्यंजक हैं। वर्णों से भेद व्यावहारिक भेद है। विकल्प में ही शब्द विशेष का वस्तु विशेष में संकेत होता है। निर्विकल्प' अवस्था में सब वर्णों से सभी अर्थ प्रकट होने लगते हैं। शक्ति की योनि में क्षोभ करने में वर्ण रचे गए हैं, अत: वर्ण शक्तिमय हैं। इस संवित् को न जानकर जड़ साधक मंत्र का शुकवत् पाठ करता है। जैसे-जैसे ज्ञान का बोध होता है, अर्थ का चमत्कार बढ़ता जाता है। अत: तादात्म्य ही चमत्कार को जन्म देता है। इसी तादात्म्य से शास्त्र रचने की शक्ति उत्पन्न होती है। अकृत्रिम तादृरूप्य ही चमत्कार का कारण है।[1]

ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ संकेतों (वस्तुओं में शब्दों का संकेत) का निमज्जन होता जाता है। स्वात्मा में निष्ठा होने से संकोच दूर होता जाता है और 'प्रतिभा' का उदय होता है। प्रतिभा से अप्रतिहत कवित्व शक्ति का जन्म होता है।[2]

चेतना में तन्मयता से सब कुछ प्राप्त होता है[3] अत: वाक्सिद्धि के लिए वर्ण की उपासना आवश्यक है।[4] वर्ण स्वपरामर्शात्मक होने से गुप्त कहे जाते हैं। मंत्र शोधक है, इनसे कनक-वर्ण चैतन्य की शोध करने से क्या नहीं मिलता।

---

(१) यथा यथा चाकृतक, तद्रूपमतिरिच्यते।

(२) तथा तथा चमत्कार, तारतम्यं विभाव्यते—वही, पृष्ठ ६०

(३) यावद्धामनि संकेत, निकार कलनो ज्झिते।
विश्रान्तश्चिन्मये, किं किं न वेत्ति कुरुते न वा—तंत्रा० एकादश आ०, पृष्ठ ६२

(४) अतएव वाक्सिद्धौ, वर्णानां समुपास्यता।
सर्वज्ञत्वादिसिद्धौ वा का सिद्धिर्या न तन्मयी—वही, पृष्ठ ६२

सारा जगत चित्त की भित्ति पर निर्मित है। अत: 'मै ही स्थित हूँ' यह भावना कर इस चित्तोद्यान में साधक क्रीड़ा करते हैं। जगत का भोग निष्कम्पता प्राप्त कर्त्ता ही कर सकता है। ऐसे योगी के लिए बाह्य आचार, पूजा, होम आदि व्यर्थ हैं। जैसे, जिसके द्वारा अपनी चेतना प्रसन्न हो, तथैव उस उस पदार्थ द्वारा चेतना को प्रसन्न करे, किसी प्रकार से भी चेतना में विचिकित्सा उत्पन्न न होने दे।[1] बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों में स्थित देवियों को निषिद्ध द्रव्यों से भी संतुष्ट करे तथा वीर व्रत का पालन करे, वीराचार (वाम मार्ग) मे ही शंका, मलिनता, ग्लानि तथा संकोच का नाश हो सकता है। इस संसार का स्तम्भ 'ग्लानि' है इसे काटने से ही सिद्धि होती है। और 'ग्लानि' शंका से उत्पन्न होती है। शंका से चित्त की स्वच्छन्दता में बाधा पड़ती है अत: इनका नाश बलपूर्वक करे। केवल यह माहेश्वर-मार्ग ही सर्व शंकाओं के लिए शनि नक्षत्र के समान है।[2]

शक्तिपात का सिद्धान्त : शैव-शासन में शक्तिपात की बड़ी महिमा है। सांख्य में पुरुष एवं प्रकृति के विवेक का ही महत्त्व है। किन्तु विवेक बिना शक्तिपात के सम्भव नहीं है। फिर केवल ज्ञान से यदि मुक्ति सम्भव होती तो स्वर्गादि का वर्णन शास्त्रों में क्यों किया गया है। वेदान्त में ज्ञान से अज्ञान का नाश बताया गया है किन्तु अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव नहीं है। मिथ्या ज्ञान भी अज्ञान का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्या ज्ञान उसे कहा गया है जो त्रिकाल में कहीं न हो। परन्तु अज्ञान वर्तमान काल में तो रहता ही है। अत: मल ही प्रवाह का कारण है, मिथ्या ज्ञान आदि नहीं। जगत प्रवाह मल से उत्पन्न होता है और मल ही अज्ञान है जो अपूर्ण ज्ञान है, ज्ञान का अभाव नहीं। [3]

---

(१) यदा यथा येन यत्र, स्वा संवित्तिः प्रसीदति।
तदा तथा तेन तत्र, तत्तद्भोग्यं विधिश्च सः।
यथा येनाभ्युपायेन, क्रमादक्रमतोऽपि वा।
विचिकित्सा गलत्यन्तस्तथासौ यत्नवान्भवेत्—वही आ० १२
पृष्ठ १०१-१०२

(२) शंकाएँ पाँच हैं—मंत्र शंका, आत्म शंका, द्रव्य शंका, भूत शंका, दिव्यकर्म-शंका—तंत्रालोक-एकादश आ०, पृष्ठ १०५-१०६

(३) तंत्रालोक, जिल्द ८ आ० १३, पृष्ठ ३४

इस मल के नाश के लिए शक्तिपात ही समर्थ है। भगवान स्वयं लीलार्थ अपना गोपन करता है और स्वतः जीव जिसे चाहता है, अपनी ओर उन्मुख करने के लिए अनुग्रह करता है, यही अनुग्रह 'शक्तिपात' कहलाता है। इससे चैतन्य की ओर मल ग्रस्त जीव उन्मुख हो जाता है और बहिमुखता समाप्त होने लगती है।

शक्तिपात नियत और अनियत दो प्रकार से हो सकता है। क्रम से भी शक्तिपात होता है और अकस्मात् भी। सब हरि इच्छा है।

तिरोधान का सिद्धान्त : पूर्णता का अभाव तिरोधान है। जीव यह समझता है कि उसमें कुछ कमी है—वह दीन है, हीन है, अज्ञानी है, आदि इस कमी को पूर्ण करने की जो इच्छा जीव में जागृत होती है, वह इच्छा स्वयं इस तथ्य को प्रकट करती है कि मूलतः तो वह जीव शिव है, किन्तु शक्तियों के तिरोभाव से वह अपने को अपूर्ण अनुभव करता है। अतः पूर्णता की अभिलाषा मल है, (लोलिका) है[1] विशुद्ध स्वप्रकाशत्म शिवरूपता का अनुभव करना ही पूर्णता है। इस पूर्णता में कोई हेतु नहीं है। शिव का स्वभाव ही पूर्णता है। अतः शक्तिपात की प्राप्ति में स्व-प्रकाशत्व का विमर्श ही मूल कारण है। जब जीव यह समझ लेता है कि मैं पूर्ण हूँ, शिव हूँ तो मुक्त हो जाता है, किन्तु अपने को अपूर्ण मानकर जब तक पूर्णता का प्रयत्न किया जायगा तब तक जीव न स्वतंत्र होगा न सुखी, मल का नाश नहीं होगा, क्योंकि अपने को अपूर्ण मानना ही अज्ञान है।

इस शक्तिपात की प्राप्ति में आत्म-परामर्श के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कारण नहीं है। कुल, जाति, कर्म आदि किसी से भी भगवान का अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सकता।[२] शक्तिपात का प्रथम चिह्न है 'शिव में भक्ति'।[3]

भक्ति दो प्रकार की है (i) सफला (ii) निष्काम। प्रथम भक्ति में कर्म की अपेक्षा है। दूसरी में नहीं।[४]

---

(१) तिरोधिः पूर्णरूपस्यापूर्णत्वं, तच्चपूरणम्।
प्रतिभिन्नेन भावेन स्पृहातो लोलिका मलः—वही, पृष्ठ ७५

(२) वही, श्लोक संख्या ७९

(३) उद्धृत—तंत्रा० वही, पृष्ठ वही

(४) तंत्रालोक—त्रयोदश आ०, पृष्ठ ८०

इस प्रकार सफलाभक्ति के रूप में प्राप्त शक्तिपात 'पर' नाम से प्रसिद्ध है। और दूसरा शक्तिपात जो मुक्तिदायी है वह 'अपर' कहलाता है।

प्रश्न होगा कि क्या 'मल' शक्तिपात ही भगवत्-इच्छा से प्राप्त होता है, 'मल' क्या उसकी इच्छा से नहीं प्राप्त होता ? उत्तर यह है कि ब्रह्म की इच्छा के बिना स्वयं जगत की ही सृष्टि सम्भव नहीं है अत: 'मल' भी जीव को भगवान की इच्छा से प्राप्त होता है। वस्तुत: चैतन्य निर्मल है।[1] आकाश की नीलिमा के समान स्वत: मल चैतन्यमय ही है मल की भिन्न सत्ता नहीं है।

शक्तिपात के तीव्र मध्य एवं मंद तीन रूप होते हैं। तीव्र शक्तिपात देहपात हो जाता है यथा वृद्ध व्यक्ति पर शैवगुरु अपने प्रभाव से तीव्र शक्तिपात करते हैं और मुक्त कर देते हैं। अन्य दो शक्तिपातों से अज्ञान का नाश होता है।

खेटपाल आदि आचार्यों का मत है कि शिव की रोद्धी शक्ति से प्रथम मल का पाक होता है तब संवित् का उदय होता है। यथा सूर्यकान्त मणि सूर्य रश्मि से द्रवित हो जाती है तथैव मल परिपाक के बाद ही चैतन्य का उदय होता है।

परन्तु अभिनव गुप्त इस प्रकार का क्रम अनिवार्य रूप में स्वीकार नहीं करते। क्योंकि जीव शक्तिपात में इश्वरेच्छा ही कारण है और वह स्वतंत्र है, क्रम, अक्रम से परे है, अत: शक्तिपात क्रम-अक्रम निरपेक्ष रूप में होता है। मल पाक को जीव तथा ईश्वर का मध्यस्थ नहीं मान सकते।

प्रतिभा : शक्तिपात से जन्य प्रातिभ-ज्ञान से मल का नाश होता है। प्रतिभा ज्ञान का अर्थ है, स्वयमेव ज्ञान उदित होना, शास्त्र एवं गुरु की इसमें अनपेक्षा है।[2] प्रतिभा जागृत हो जाने पर भी 'दृढ़ता' की आवश्यकता है। कम्पमाना प्रतिभा हीन है। अत: शास्त्र दृढ़ता के लिए है। प्रतिभावान के लिए अभिषेक, समय; दीक्षादि नहीं हैं। प्रातिभ ज्ञान भी दो प्रकार का है। सांसिद्धिक (ii) दीक्षित। प्रथम में दीक्षा की आवश्यकता नहीं है, किन्तु दूसरे में आवश्यक है। प्रतिभावान ही विश्व को मुक्त करता है।[3] यों विश्व में प्रत्येक जीव में प्रतिभा होती है, परन्तु उनमें मंद शक्तिपात के कारण परोपजीविता रहती है।

---

(१) तंत्रालोक, त्रयोदश; आ०, पृष्ठ ८४-८५

(२) वही, पृष्ठ ८६-८७

(३) वही, पृष्ठ १०१

प्रातिभ-ज्ञान का उद्देश्य मुक्ति है। सिद्धियाँ केवल दूसरों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए हैं। मुमुक्षु केवल मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है।[१] परन्तु वह दूसरों में विश्वास जगाने के लिए चमत्कार दिखाता है, क्योंकि देहान्त के बाद मुक्ति होती है, इस पर कौन विश्वास करेगा। पर प्रत्यय के सिवाय सिद्धियों का अन्य कुछ भी उपयोग नहीं है।

"सिद्धिर्हि नाम परेषां प्रत्ययमात्रम्, अन्यथा देहान्ते मुक्तिरिति कस्य समाश्वस्तः स्यात्[२]"

पाश-नाश के पश्चात् स्वतः शक्तिपात के चिह्न प्रतिभावान साधक में प्रकट होने लगते हैं। चिह्न अनेक हैं; मंत्रसिद्धि, तत्त्व-विजय, कवित्व-शक्ति रूप में भक्ति आदि।

शक्तिपात से भुक्ति एवं मुक्ति दोनों प्राप्त होती हैं। भक्ति से मुक्ति तथा मंत्र से भुक्ति प्राप्त होती है। तीव्र शक्तिपात में या तो अकस्मात् जीवन्मुक्ति होती है अथवा देहपात हो जाता है। मध्य तीव्रपात में मन शिवोन्मुख हो जाता है। मंदमध्य शक्तिपात में किसी तत्त्व-विशेष में मन लग जाता है। भोग के प्रति उत्सुकता मंद शक्तिपात का लक्षण है। इस प्रकार शक्तिपात के अनेक रूप हैं जिनमें ९ मुख्य हैं।

वैष्णव एवं शैवों का शक्तिपात : वैष्णवों के यहाँ शक्तिपात से 'वैष्णवत्व' मात्र प्राप्त होता है। शिवत्व या मुक्तिपात नहीं होती। ब्रह्मा, विष्णु आदि शिव की माया से ग्रस्त हैं। शिव सम्राट हैं, अतः वैष्णव विज्ञानकलता को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः वैष्णव शक्ति 'मोक्षदा' नहीं है। उसमें 'घोरता' है, 'अघोरता' नहीं है।

शक्तिपात का सिद्धांत पुराणों से भी पुष्ट है[३]। क्योंकि उनमें भगवान के 'प्रसाद' का वर्णन है। ईश्वर स्वातंत्र्य से, संकोच के अवभास से स्वयं

(१) सिद्धि जालं हि कथितं, परप्रत्यय कारणम्।
इहैव सिद्धाः कायान्ते, मुच्येरन्निति भावनात्-वही, पृष्ठ ११७

(२) तंत्रालोक—त्रयोदश आ०, पृष्ठ ११७

(३) पुराणोऽपि च तस्यैव, प्रसादाद्भक्तिरिष्यते।
ययायान्ति परांसिद्धि, तद्भावगतमानसाः—
तंत्रालोक, त्रयोदश आह्निक, पृ० १७४

अणुता को धारण करता है[1] और पुनः जब वह निर्मल रूप दिखाता है, तो उसे 'प्रसाद' कहते हैं। ईश्वर की प्रसन्नता ही मल का अपगम करती है।

इस 'प्रसाद' की प्राप्ति के लिए शैव-शासन में भी वैष्णवों आदि की तरह प्रार्थनाएँ और स्तोत्र हैं। यह 'प्रसाद' सर्वाधिक रूप में शैवों को मिलता है, क्योंकि वे सबसे अधिक प्रतिभाशाली हैं। वेदों से अधिक वाममार्गियों को, उनसे अधिक दक्षिणपंथियों को, पुनः कौलों को और सबसे अधिक त्रिक्-शासन के विश्वासियों को मिलता है।

हरि-प्रसाद से ज्ञान तीन प्रकार का मिलता है। (i) वैदिक ज्ञान (ii) चिन्तामय ज्ञान (iii) भावनामय ज्ञान। विधि-निषेधमय ज्ञान वैदिक ज्ञान है। शास्त्रालोचन चिंतामय ज्ञान है। इसके पश्चात् 'भावमय ज्ञान' उत्पन्न होता है। शैवमत में ज्ञान एवं भाव दोनों हैं।[2]

नैमित्तिक कर्म : निश्चित हो जानेपर अशंकित रूप से जिन कार्यों को अवश्य किया जाना चाहिए, वे नैमित्तिक कर्म हैं। नित्य कर्म नियत हैं, और नैमित्तिक अनियत। संध्या, पर्वादि नित्य कर्म हैं, ये नित्य कर्म हैं और नित्य होते रहते हैं। नैमित्तिक कार्य २३ प्रकार के हैं—स्वजन्योत्सव श्राद्ध, देवता दर्शन, कुल-पर्व आदि। इनके करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

दीक्षा : सांसिद्धिक साधक को दीक्षा की आवश्यकता नहीं है, किन्तु अन्यों को आवश्यक है। मल-नाश दीक्षा से ही होता है, क्योंकि दीक्षा के बिना शास्त्र का उपदेश नहीं दिया जा सकता।

साधक अनेक प्रकार के होते हैं (१) बुभुक्षु साधक-जिनकी दृष्टि भोग पर केन्द्रित रहती है। इनके भी दो भेद है (१) शिवधर्मी (२) लोकधर्मी। प्रथम शिवो-

---

(१) स्वेच्छा से जब सांसारिक लोग कुछ नियमों को स्वीकार करके ही खेलते हैं, खेल में स्वेच्छा से जिस प्रकार कुछ बंधन आवश्यक है, तथैव जगतरूपी खेल में शिव कुछ बंधन स्वेच्छा से स्वीकार कर लेता है; यथा क्रीड़ाशील व्यक्ति जब चाहे, खेल बन्द कर देता है, तथैव जगतरूपी क्रीड़ा शिवेच्छा पर निर्भर है।—तंत्रालोक—त्रयोदश आ०, पृष्ठ १७४

(२) वेदाच्छैवं ततो वामं, ततो दक्षं ततो मतम्।
ततः कुलं ततः कौलं, त्रिकं सर्वोत्तमं परम्—वही, पृष्ठ १८१

न्मुख होते हैं, दूसरे केवल सिद्धियों में रुचि रखते हैं। साधकों का दूसरा प्रकार पुत्र या समयी साधकों का है। जैसे राज्यपुत्र ही राज्य का अधिकारी होता है, तथैव शैव-साधना का अधिकारी 'पुत्रक' कहलाता है। समयी के दो प्रकार है (१) सबीज-ये साधक क्रम-क्रम से मंत्र-चक्रपूजादि से तादात्म्य प्राप्त करते हैं (२) निर्बीज-शिशु आदि को गुरु अपनी शक्ति से भव बंधनों से मुक्त कर देता है।[1]

दीक्षा में शिक्षा की प्रथम परीक्षा आवश्यक है। गुरु योग्य शिष्य को रूद्र-शक्ति से आवेश में लाने का प्रयत्न करता है। पुष्प को फेंक कर, शिष्य की भुजा की ओर देख कर, अंकुश की तरह अँगुली बनाकर शिष्य में आवेश उत्पन्न करे अथवा शिष्य की आँखे बन्द कर के उस पर पुष्प फेंके अथवा मालिनी का प्रयोग करे। शिष्य की शक्ति को खींचे। यही 'शिव हस्त विधि' कहलाती है।

मालिनी का प्रयोग इस प्रकार करे : शिष्य की नाभि पर क्ष, दण्ड पर 'र', वामभुजा पर 'ऊ' वाम जंघा पर 'ऊ' नितम्ब पर 'म' इस प्रकार 'क्ष्ॣ्रीँ' यह कूटमंत्र बनता है। इसका उच्चारण करे तो शिष्य में आवेश उत्पन्न हो जाएगा। वस्तुतः एक प्रकार का सम्मोहन (bynotisism) है। एक अन्य प्रकिया यह है कि शिष्य को चरु दे, शिष्य उसे निभंय होकर पी ले। शीघ्र कम्पन होने लगेगा। 'योगहस्तकग्रंथ' एवं 'आनन्देश्वर' ग्रंथों में इनका वर्णन है।

पुत्रक- दीक्षा : वेध दीक्षा (penetration) बिना आवेश के दीक्षा न दे। मालिनी के न्यास से शिष्य आविष्ट होकर भूमि पर गिर पड़ता है, क्योंकि उस पर शक्तिपात होता है अथवा निद्रा आ जाती है। यदि फिर भी आवेश न हो तो उसे 'जड़' समझ कर छोड़ देना चाहिए। जड़ शिष्यों पर 'स्रयूँ' (सः = सुधा, रः = अग्नि, यः = मरुत) तथा ड, ढ, म, र, य का संयुक्त कूट 'र्ह्द्यूं' तथा 'ड्ढ्म्रयूँ' क्रमशः इन तीन मंत्रों से आवेश अवश्य होता है। यदि इनसे भी आवेश नहीं हो तो आगे प्रयत्न व्यर्थं होगा शिष्य के चक्र-वेधन से उसका मन ऊपर के चक्रों की ओर चल पड़ता है, यदि ऐसा हो तो समझना चाहिए कि वह मुक्ति मार्गी है अन्यथा उस 'पिशाचाविष्ट' समझना चाहिए।

---

(१) स्वच्छतंत्र में ज्ञानवान, अभिषिक्त तथा मंत्राराधन तत्पर साधक को समयी कहा है। ४–१४५

इस वेध-दीक्षा के कई भेद हैं। मंत्र-वेध, नाद-वेध, बिन्दुवेध, भुजंगवेध, शक्ति-वेध; परवेध इतने भेद मुख्य हैं। गह्वरशास्त्र में इनका वर्णन है।

मंत्र-वेध—८अर वाले चक्र का ध्यान करके हृत्चक्र का बेधन करना ही मंत्र-वेध है।

नाद-वेध—नाद द्वारा चित्त का बेधन होता है।[1]

बिन्दु-वेध—बिन्दु स्थान-गत चित्त भृकुटियों के बीच में रहता है, उसका वेध होता है।

शाक्त-वेध—शक्ति के साथ संयुक्त होकर (संघट्टावस्था) कुंडलिनी को जगाना चाहिए।

भुजंग-वेध—देवी के पाँच-फण होते हैं, तत्त्व भी पाँच हैं, तिथियाँ भी पाँच हैं। ये सब शरीर में स्थित हैं। इस पाँच रूप वाली शक्ति का वेधन करे।

परवेध—इसमें सर्व-भावों का नाश हो जाता है, अत: कोई क्रिया यहां काम नहीं देती, केवल ज्ञान से शिष्य तन्मय हो जाता है।[2]

दीक्षा : गुरु का रूप जब तक शिष्य की चेतना में प्रविष्ट नहीं होता तब तक दीक्षा अधूरी है। चूंकि यह दीक्षा भुक्ति एवं मुक्ति दोनों की दात्री है, अत: देवतादि भी इसकी आकांक्षा करते हैं[3]।

दीक्षा की समाप्ति पर शिष्य को चरु दे। पूर्णता प्राप्त होने पर ही दीक्षा की समाप्ति हो जाती है। स्वार्थी व्यक्तियों को दीक्षा नहीं दी जा सकती, ब्रह्म-वेत्ताओं को ही दीक्षा देनी चाहिए।

(१) नादं दीर्घं समुच्चार्यं, नादं नादे समाक्रमेत्।
नादिकान्तं समुच्चार्यं, वर्णाध्वानं विशोधयेत्
नादेन वेधयेद्देवि नादवेध: उदाहृत: —तंत्रालोक जिल्द ११, आ० २९, पृष्ठ १५२

(२) सर्वं भाव परिक्षीण: परवेध उदाहृत: —वही, पृष्ट १५६

(३) स एष मोक्ष: कथितो नि:स्पन्द: सर्वं जन्तुषु
अग्नीषोमकलाघात सङ्घातात् स्पन्दनं हरेत्—तंत्रा० २९ आ०, पृष्ठ १६५

सर्व जन्तुओं द्वारा इच्छित मोक्ष की प्राप्ति दीक्षाकाल में नाड़ी-योग द्वारा ही बतायी गई है।

शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के साथ परब्रह्म का ध्यान कर मदिरा का पान करे और पंचभूतों का तर्पण करे। इसकी अन्य विधियाँ 'गुरु' ही बना सकता है।[1]

स्नान : मल-नाश के लिए स्नान किया जाता हैं। परन्तु शैवों में आंतरिक-स्नान का ही महत्त्व अधिक है। बाह्यस्नान के साथ-साथ साधक को शिव विमर्श अवश्य करना चाहिए।

तत्त्व स्नान : तत्त्वस्नान का महत्त्व भी ग्राह्य है। पृथ्वी, वायु, आकाश आदि में से किसी एक तत्त्व का ध्यान करने से 'स्नान' हो जाता है। शिव की अष्टमूर्तियों से भी ध्यान होता है —संग्राम-भूमि की धूलि (रण-रेणु), वीरजल (शिवाम्बु) वीरभस्म (श्मशान-अग्नि), महामरुत (श्मशान रज से युक्त वायु) श्मशान-अरण्य, गगन, सूर्य और चन्द्र ये शिव की अष्टमूर्तियाँ हैं।

मद्यस्नान : नवम् है। यह आनंद का जनक है, अत: पवित्रकारक है[2]।

आंतरिक स्नान : वास्तविक स्नान तो सोम-नाड़ी से झरते हुए अमृत से स्नान है।[3] शरीर में स्थित नदियाँ-सूर्य-चन्द्र आदि ही मुक्ति देते हैं, बाह्य देश, तीर्थ आदि केवल विघ्न-नाशन के लिए हैं।

पीठ : कलिंग आदि निषिद्ध देश ही शैव साधन के लिए उपयुक्त हैं। परन्तु वस्तुत: आंतरिक पीठ ही मुख्य हैं, बाह्य पीठादि तो उन्हीं के आभास मात्र हैं। आंतरिक पीठ बिन्दु-नाद मय हैं। बायीं ओर बिन्दु और दायीं ओर नाद है। ऊपर अग्र पीठ है। अग्र पीठ ही काम रूप, है। नाद ही 'पूर्णगिरि' के रूप में

---

(१) अलिपात्रं सुसंपूर्णं वीरेन्द्रकरसंस्थितम्—
अवलोक्य परंब्रह्म तत्पिवेदाज्ञया गुरोः।
तर्पयित्वा तु भूतानि, गुरवे विनिवेदयेत्—वही, पृष्ठ १७०

(२) तासामानन्द जनकं मद्यं शिवमयं ततः।
प्रबुद्धे संविदः पूर्णे, रूपेऽधिकृति भाजनम्—तंत्रा० जिल्द ६, १५ आ० पृष्ठ ४०

(३) आन्तरं तद्यथोर्ध्वेन्दु-धारामृत परिप्लवः।
यतोरन्ध्रोर्ध्वगाः सार्ध-मंङ्गलं व्याप्य संस्थिताः—तंत्रा० १५ आ०, पृष्ठ ४२

व्यक्त है। 'उड्डियान' भी इसी प्रकार 'उत्तर दशा' को व्यक्त करता है। अतः पीठ वस्तुतः आंतरिक हैं। 'प्राण' में संवित् का दर्शन ही मुख्य है, बाह्य-भ्रमण (तीर्थादि में) व्यर्थ है।[1] मुक्ति स्थान-जन्य नहीं है, गुरु जो तत्त्व ज्ञान दे उसकी दृढ़ता के लिए पूजनादि होते हैं। जिस स्थान पर हृदय-अम्भोज विकसित हो, वही स्थान श्रेष्ठ है।[2]

तंत्र में इस साधना को अंतर्याग कहा गया है। इसी से अज्ञान का नाश होता है, आडम्बर से नहीं।

न्यास : शरीर के विभिन्न स्थानों पर वर्णमाला (मातृका, मालिनी) के वर्णों की स्थापना करना न्यास है। वर्ण-स्थापना से आवेश उत्पन्न होता है।[3] जो वर्णमाला शिव-शक्ति के संघट्ट से उत्पन्न हुई है, जिसमें क्षुभित शक्ति विद्यमान है, वह प्रत्येक प्रकार की सिद्धि दे सकती है। पूर्ण-प्रकाशात्मक ब्रह्म की बहिर्उन्मुखता के पूर्व आंतरिक एकात्म्य शक्ति को ही 'मातृका' कहते हैं, क्योंकि यह ब्रह्म की वह दशा है, जब कि वह सृष्टि के लिए उन्मुख होता है, अतः इसका 'न्यास' के समय ध्यान करने से वही दशा प्राप्त होती है और क्योंकि रुद्र इसे धारण करते हैं, स्वीकार करते हैं, अतः यह पूजा योग्य है। भुक्ति एवं मुक्ति दोनों को प्राप्त कराने की शक्ति मालिनी में हैं[4] अथवा मालिनी में संहार की शक्ति है[5], अतः यह पूज्य है। मालिनी से पूरित होने पर ही मंत्र फल देते हैं। मालिनी का महत्त्व यहाँ तक कहा गया है कि ज्ञान एवं योग के बिना भी न्यासादि क्रियाएँ अवश्य फल देती हैं और स्वतः शनैः शनैः तन्मयता उत्पन्न होने लगती है।[6]

---

(१) मुख्यत्वेन शरीरेऽन्तः प्राणे संविदि पश्यतः।
विश्वमेतत्किमन्यैः, स्याद्बहिर्भ्रमण डम्बरैः।—वही, पृष्ठ ५२

(२) यत्र यत्र हृदम्भोजं, विकासं प्रतिपद्यते
तत्रैव धाम्नि बाह्येऽन्तर्यागश्रीः प्रतितिष्ठति—वही, पृष्ठ ५५-५६

(३) इत्येषा मालिनी देवी, शक्तिमत्क्षोभिता यतः।
कृत्यावेशात्ततः शाक्ती, तनुः सा परमार्थतः—वही, पृष्ठ ६५

(४) मालिनी माल्यते धार्यते रुद्रैरात्मतया स्वीक्रियते—वही, पृष्ठ ६९-७०

(५) संहारस्य अलिनी विमर्शिका, मा शब्द वाच्यं संहारं राति, लाति—
परमार्थतः सा शाक्ती तनुः—वही, पृष्ठ ७०

(६) विनापि ज्ञानयोगाभ्यां क्रिया न्यासार्चनादिका—वही, पृष्ठ ७९

शुद्धि-अशुद्धि : शिव रूपी सूर्य के स्पर्श से सब पदार्थ शुद्ध हैं, अतः आनन्द का अतिशय करने वाले मदिरादि पदार्थ सेवनीय हैं। शैवसाधकों की महत्त्वा-कांक्षा तो यहाँ तक थी कि कौल-साधना के लिए सारी नदियों में मदिरा का प्रवाह होना चाहिए था, सारे पर्वत मांस-पिण्ड बन जाने चाहिए थे और सारा जगत स्त्रीमय हो जाना चाहिए था।[१] अतः वैदिक आचार में जो अभक्ष्य है वह भी यहाँ भक्ष्य है। यहाँ विषय-भेद नहीं है। शैव-मंत्र सारे संदेहों और शंकाओं को ध्वस्त कर देता है। अहंकार के नाश से सारी वस्तुएँ शुद्ध हो जाती हैं।

मूर्ति : प्रस्तर-प्रतिमा को मूर्ति नहीं कहते। मूर्ति का सम्बंध चैतन्य से है। अहंकार के नाश से जब देहाध्यास नष्ट हो जाता है और शिव के साथ तादात्म्य प्राप्त होता है और जब चेतना निस्तरंग हो जाती है, तब इस स्थिति के पश्चात् जो स्वतः स्फूर्त तरंग उत्पन्न होती है, उसे 'मूर्ति' कहते हैं, अतः मूर्ति चेतना का प्रथम स्फुरण है। [२] क्योंकि संवित् का कार्य सृष्टि करता है, अतः चैतन्य अपने एक अंश संवित् से जिस रूप की सृष्टि करता है, वह है 'मूर्ति'। बाह्य मूर्तियाँ केवल 'तादात्म्य' प्राप्ति के लिए हैं।

आंतरिक मूर्ति, प्रणव, बिन्दु, नाद के रूप में प्रकट होती है, अतः प्रणव एवं नाद से व्याप्त वर्णमाला द्वारा न्यास 'जीव' के 'अणुत्व' (अपूर्णता) को दूर करता है ; यह 'मूर्ति-न्यास' कहलाता है।

यह मुख, पीठ, कंठादि में ९ स्थानों पर किया जाता है। शक्ति न्यास ६ प्रकार का है, कोई इसे १६ प्रकार का कहते हैं।

मुद्रा : शिव की शक्ति ही शरीर-चेष्टाओं में प्रकट होती है। अतः मुद्रा, शिव-शक्ति का नाम है। इसके अनेक प्रकार हैं—I मनोजा मुद्रा (यह गुरुमुख से ही सुने) II वाग्भवा III मंत्रजा।

---

(१) न नद्यो मधु वाहिन्यो, न पलं पर्वतोपमम्।
स्त्री मयं न जगत्सर्व, कुतः सिद्धिः कुलागमे।—तंत्रालोक, १५ आ०, पृष्ठ ८६।

(२) तस्मिन्ध्रुवे निस्तरङ्गे, समापत्रिमुपागतः।
संविदः सृष्टिधर्मित्वादाद्यामेति तरङ्गिताम्।
सैव मूर्तिरिति ख्याता, तारस द्विन्दुहात्मिका—तंत्रालोक १५ आ०, पृष्ठ ११८-११९।

देह के विक्षेप से मुद्रा के अनेक भेद हैं ।

मूर्ति न्यास से प्रारम्भ करके सृष्टि-मात्र के साथ तादात्म्य करना चाहिए। सृष्टि संवित् का ही अवभास (विजृम्भण) है। तादात्म्य से लाभ यह है कि जैसे "मैं दुष्ट कर्म करता हूँ' ऐसा परामर्श होने से पाप लग जाता है, तथैव 'मैं शिव हूँ, अद्वितीय हूँ' ऐसे तादात्म्य से शिवता प्राप्त होती है, विमर्श में दृढ़ता आती है।

न्यासादि सर्वदा वाम-कर से करना चाहिए, दक्षिण हस्त से पशु (वैदिक आचार कर्त्ता) करते हैं, वामाचार में वाम कर द्वारा ही क्रिया होनी चाहिए [१]। वाम शब्द का अर्थ है, संसार से विपरीत,लोक बहिष्कृत मुक्तिदायी रहस्य आचार[२], वाम शब्द का अर्थ 'रहस्य' है [३]।

इस रहस्य साधना में 'न्यास-क्रिया' आनन्द या आवेश उत्पन्न करने के लिए की जाती है। चूँकि पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है अतः अपने शरीर की पूजा ही यहाँ विधेय है और भुक्ति कार्य के लिए प्रत्येक पदार्थ का सेवन विधेय है। लोभादि-ग्रस्त लोग शक्ति-पात की प्राप्ति नहीं कर सकते। [४]

शरीर-पूजा के लिए मद्य, मांस एवं मैथुन आवश्यक हैं, क्योंकि जीवात्मा का मन प्रारम्भ में स्वतः इनकी ओर आकर्षित होता है। पशु-शास्त्र (वैदिक-शास्त्र) में इस स्वाभाविक वृत्ति का नाश सिखाया जाता है, परन्तु इससे मन विद्रोह करता है, गुहा में स्थित सर्प के समान यह मन संन्यास ले लेने पर भी कभी भी आक्रमण कर सकता है, अतः मन को मार कर साधना 'पशु-साधना' है। मन की स्वाभाविक वृत्ति को समझ कर, उसे शनैःशनैः वश में लाने का प्रयत्न शैव-साधना में ही होता है, मन के उन्नयन (Sublimation) के लिए ही मांस मदिरादि की व्यवस्था है न कि दुराचार के संरक्षण के लिए चूँकि शरीर- पूजा में मकरोपासना के समय 'समयी' (पुत्रक-साधक) ज्ञान द्वारा अपनी वृत्तियों की क्रमशः

---

(१) संसार वामाचारत्वात्सर्वं वामकरेण तु ।
कुर्यात्तर्पणं योग च दैशिकस्तदनामया—तंत्रालोक—१५ आह्निक, पृष्ठ १३७

(२) वामः संसार विपरीतो लोक बहिष्कृतो मुक्त्यनुगुणो रहस्य आचारः—वही पृष्ठ १३७

(३) रहस्यं सर्व भूतानां वाम शब्देन कीर्त्यते—वही, पृष्ठ १३८

(४) लोभादिग्रस्तः शक्तिपातं न विन्दति-वही, पृष्ठ २१५

शिवतत्व की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है, अतः जो'मकार' अन्य जीवों के लिए बंधन बनते हैं, वे शिव विषयक होने से मुक्ति के साधन बन जाते हैं। अतः समयी को जो रुचिकर हो, उसे ही करना चाहिए। मांस-मदिरा, मैथुन, रक्तपान, शिरच्छेद रक्त मूत्र विष्टा-लेपन पर्वत, अश्व गजादि का आरोहण आदि सब विधेय है, क्योंकि वस्तुएं मुख्य नहीं हैं, आह्लाद ही मुख्य है।[1]

तांत्रिकों के अनुसार मन 'मकारों' की ओर क्यों जाता है, इसका एक कारण यह भी बताया गया है कि साधना में बीज-शुद्धि आवश्यक है और बीज स्त्रियों में प्रतिष्ठित है, इसलिए चित्त चांडाल जाति की स्त्रियों की ओर जाता है।

ब्राह्मणत्व का कारण बीज शुद्धि है, अतः शुभ-अशुभ का विचार न करके चित्त का संस्कार करना चाहिए क्योंकि जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता जिसकी आत्मा शान्त हो जाती है, वही द्विज कहलाता है। शूद्र भी शीलवान होकर ब्राह्मण हो जाता है। गुण ही कल्याण कारक हैं, जाति नहीं; क्योंकि अन्त्यज जातियों में भी साधक देखे जाते है, अतः माया-ग्रस्त द्विजत्याज्य है और माया-विजयी म्लेच्छ आदर का पात्र है, चतुर्वेदों का दाम्भिक पंडित शिव का प्रिय नही हो सकता। महाभारत के इस कथन को शैव मानते हैं।[2] जातिभेद माना जाता तो धीवरी से उत्पन्न व्यास को ऋषि क्यों माना गया। अतः पशु-शास्त्रों में ही जाति शंका है। यहाँ तो चैतन्य के साथ तादात्म्य कर जो संस्कृत हो गया है, वही द्विज है।

---

(१) हृद्यास्त्री मद्यपानं चाप्याममांसस्यभक्षणम्
रक्तपानं शिरश्छेदो, रक्तविण्मूत्रलेपनम्
पर्वताश्वगजप्राय हृद्ययुग्याधिरोहणम्—
यत्प्रीत्यै स्यादपि प्रायस्तत्रच्छुभमुदाहृतम्
तं ख्यापयेतुष्टिवृद्धयै ह्लादो हि परम फलं। वही, पृष्ठ २४२

(२) योनिर्नकारणं तत्र, शान्तात्मा द्विज उच्यते—तंत्रा० आ० १५, पृष्ठ २५४
शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान्ब्राह्मणो भवेत।
पञ्चेन्द्रियार्णवं घोरं यदि शूद्रोऽपि तीर्णवान्—वही, पृष्ठ २५५
तस्मै दानं प्रदातव्यमप्रमेयं युधिष्ठिर॥
न जातिर्दृश्यते राजन्गुणाः कल्याण कारकाः—तंत्रा०, आ० १५, पृष्ठ २५५ पर उद्धृत

वामाचार का अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार में सद्गुणों का अभ्यास न करे। 'समयी असत् परुष वचन न कहे, हिंसा, परदाराविमर्श, गर्व, दम्भ, अभिचारादि से बचे अर्थात् प्रथम अवस्था में शैव-साधना कठोर नियमों के अंतर्गत ही 'समयी' को रखती है। परन्तु ज्ञान-प्राप्त हो जाने पर विधि-निषेध अस्वीकृत है। साधना के समय विधि-निषेध का उल्लंघन समयी भी कर सकता है, परन्तु लोक-व्यवहार में नहीं। साधना काल में भी कुछ नियम रह जाते हैं—यथा गुरु के घर की स्त्रियों का साधना में उपभोग नहीं हो सकता।

समयाचार में स्त्रियों का महान आदर है—प्रत्येक प्रकार की स्त्री का सम्मान आवश्यक है—

स्त्रियः पूज्या विरूपास्तु, वृद्धाः शिल्पोपजीविकाः
अन्त्या विकारिताङ्गयश्च वेश्याः स्वच्छन्दचेष्टिताः।
निराचाराः सर्वभक्ष्या धर्माधर्म विवर्जिताः।
स्वच्छन्दगाः पलाशिन्यो, लम्पटा देवता इव। [1]

जन वर्जित स्थान में साधना करनी चाहिए। मांस एवं मदिरा की गंध से देवियाँ प्रसन्न होती हैं। यह शरीर ही आयतन है, मंत्र ही तीर्थ है, सुख का ज्ञान ही विधि है, अतः वैदिक विधियों का जाल व्यर्थ है। यह काया सर्वदेवमय है मकारों से इसकी पूजा कर आह्लाद प्राप्त करे और उस आह्लाद के द्वारा परमाह्लाद को प्राप्त करे।

'देवाख्य-यामल' में मुद्रा को बिम्ब (चैतन्य) का प्रतिबिम्ब माना गया है।[2] श्रम की स्फुरण जब शरीर में होती है तो शरीर में कुछ विचित्र परिवर्तन होते है, ये ही मुद्राएँ हैं।[3] अतः मुद्रा से बिम्ब का उदय हो सकता है।[4] मुद्रा ब्रह्म को जानने का साधन है।

---

(१) तंत्रा० १५ आ०, पृष्ठ २६७

(२) प्रति विम्बोदयोमुद्रा..........तंत्रा०, जिल्द १२, आ० ३२, पृष्ठ ३०४

(३) मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना.........वही, पृष्ठ ३०४

(४) बिम्बात्समुदयो यस्या, इत्युक्ता प्रतिबिम्बिता।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता ततुपायता—वही, पृष्ठ ३०४

मुद्रा का एक और अर्थ यह हो सकता है —मुद्रा वह है जिससे देवता द्रवित हो। देवता मुद्राओं से प्रसन्न होता है[1] अथवा अशेष पाशवालों से जो मोचन कराती है, वह मुद्रा है।[2]

इसी प्रकार विद्वान अनेक अर्थ कर सकते हैं। मुद्राओं में मुख्य 'खेचरी मुद्रा' है। इसके अतिरिक्त त्रिशूलिनी, करिङ्कणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी, ध्रुवा आदि अनेक मुद्राएँ हैं।

शरीर की दृष्टि से काममुद्रा, कर मुद्रा, वाक् मुद्रा और चित्त मुद्रा है। इनमें वाणी मुद्रा से मंत्र उच्चारण का तात्पर्य है। चित्त मुद्रा का अर्थ अंत: करण में प्रवेश करता है।

कर-मुद्रा—अंगुलियों के विविध न्यासों से अनेक कर मुद्राएँ बनती हैं।

काम-मुद्रा—इसमें शरीर को एक स्थिति में रखना होता है।

मुद्रा में मानसिक स्थिति : मूलाधार से शक्ति को उद्रिक्त कर योगी नाभि-देश में मन का निवेश करे और वही बार-बार मन को रोककर, इड़ा, पिंगला की वायु का मध्यम-मार्ग में समावेश करे। विन्दु, नाद और ब्रह्मरंध्र नामक तीनों आकाशों तक प्राण को ले जावे और वहीं कुम्भक द्वारा प्राण को रोक ले पुन: शक्ति (व्यापिनी के पूर्व की स्थिति) व्यापिनी एवं समना इन तीन आकाशों को पार करके उन्मनावस्था की ओर बढ़े और परम-शिव में लीन हो जाय। यही गगन चारित्व है। 'परम व्योम' भी यही है।

द्वितीय विधि : नाद, विन्दु, मरुत तथा इनके बाद ब्रह्मरन्ध्र है, अत: मूलाधार से नाद, बिन्दु शक्ति इन तीनों आकाशों में मन को रखकर पुन: इन्हें बेधकर शिवत्व को प्राप्त करे।[3]

---

(१) मुदं स्वरूपलाभाख्यं, देहद्वारेण चात्मनाम्—
रात्यर्पयति यत्तेन, मुद्रा शास्त्रयेषु वर्णिता—
(मु = स्वरूपलाभ, द = देह के द्वारा, राति = देता है, अत: मोदयति इति-मुद्रा, अथवा द्रावयति इति मुद्रा।— तंत्रा० ३२ आ०, पृष्ठ ३०५

(२) इत्याशयेन मुद्रा, मोचयते पाशजाल तो ऽशेषात्।
कार्यायियात्पुर्यष्टक संस्कारान्द्रावयेत्तथा—वही, पृष्ठ ३०५

(३) ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं, चित्तं विश्रम्य चोपरि।
अनेनाभ्यास योगेन, शिवं भित्त्वा परं व्रजेत् —वही, पृष्ठ ३१०

त्रिशूलिनी मुद्रा : हाथों को कंठ के नीचे रख ले, बाएँ पैर को दक्षिण पर रख ले। कनिष्ठका तथा मध्यमा से नासिका छिद्रों को विदीर्ण करे ओर अनामिका एवं तर्जनी से, भ्रूभंग को कुंचित करे, मंत्र पढ़ता हुआ जिह्वा का चालन करे तथा हा, हा, हा, हा करे।

ब्रह्मरंध्र में इस त्रिशूल के प्रयोग से योगी पृथ्वी को छोड़ देता है अर्थात् अहंकार का नाश हो जाता है। अंत में आकाश भाव को छोड़कर रस में रस की तरह शिव में लीन हो जाता है।

खेचरी मुद्रा निष्कला मुद्रा हैं, इसी के भेद रूप अनेक मुद्राएँ हैं। एकही बीजमंत्र और एकही खेचरी मुद्रा है। आवेश शून्य मुद्रा वास्तविक मुद्रा नहीं है। देह के विकार को मुद्रा नहीं कहते।

निष्कलावस्था में स्थित योगी खेचरी मुद्रासीन हो जाता है।

(१) चक्र-पूजा : नैमित्तिक कर्मों में स्वजन्योत्सव, श्राद्ध, देवता दर्शन, कुल-पर्व आदि हैं।

पर्व-दिवस पर शक्ति याग करना चाहिए। मारण-मोहनादि करने से पर्वों पर अवश्य सिद्धि होती है। यज्ञ एवं पूजा आदि के तिथि तथा पर्व का विशेष महत्त्व है।

चक्र-पूजा के लिए भी तिथि का विचार करे। गुरु-पत्नी, भ्राता तथा पुत्र सम्बंधी स्त्रियों को चक्र-पूजा में न लाना चाहिए। सिद्धान्ततः सर्वत्र विचरण हो सकता है।

चक्र-याग में स्त्री को योगिनी कहते हैं। यह योगिनी मिलन दो प्रकार का है—(i) हठतः (ii) प्रियतः। किसी प्रकार किसी स्त्री को साधना के लिए तैयार कर लेना प्रियतः प्रयोग है और बलात् किसी को पकड़ लेना हठतः प्रयोग है। इस नैमित्तिक योगिनी-मेलक से अवश्य फल होता है, क्योंकि सर्वत्र संवित् का प्रकाश है, भेद-ज्ञान संकुचित दृष्टि है। अतः संकुचित चेतना योगिनी के साथ संघट्टित होने पर स्वच्छन्द तथा प्रकाश युक्त हो-जाती है[1]। परस्पर मिलने

---

(१) चक्र का अर्थ है—चित्त का विकास जिसके द्वारा हो अथवा तृप्ति, पाश का छेदन चक्र के द्वारा होता है, ऐसा भी अर्थ हो सकता है। कसी, विकासे, चक्र तृप्तौ, कृतीच्छेदने, डुकृञ् करणे इन धातुओं से चक्र शब्द बताया गया है—तंत्रा० जिल्द १२ आ० २९, पृष्ठ ७६

से चेतना विकसित होती है, इसीलिए चक्र-साधना में साधकों को एकत्र किया जाता है। जब प्रत्येक साधक की चेतना उच्छलित होती है तो परस्पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, अतः चेतना अनेक होकर दीप्त हो उठती है, 'चक्रोत्सव' के पीछे यही सिद्धांत कार्य कर रहा है[1]। इसी सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति की चेतना में अनेक चेतनाओं के प्रतिबिम्ब से तथा एक व्यक्ति की चेतना अनेक व्यक्तियों की चेतना में प्रतिबिम्बत होने से सर्वाकारता प्राप्त होती है। यही कारण है कि सभा और उत्सवों में हम हर्षित होते हैं, क्योंकि गीत, नृत्यादि से सबको तन्मयता प्राप्त होती है।

यद्यपि संवित् अपने में आनन्दमय है तथापि नृत्य, गीतादि द्वारा उसमें पूर्णानन्द उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि शरीर का संकोच छूट जाता है। ईर्ष्या, द्वेष, ग्लानि, शंकादि जब तक रहते हैं तब चेतना में ऐंठन रहती है, परन्तु-नृत्य, गीतादि द्वारा ये वृत्तियाँ दब जाती हैं और शुद्ध चैतन्य तरंगित होने लगता है। यही चक्र-साधना में होता है। तन्मयता-प्राप्ति के लिए ही चक्र-साधना का प्रयोग है।

इस चक्र में यदि अनधिकारी आ जाय तो उसे संकोच न करना चाहिए। यदि वह निन्दा करे तो उसकी हत्या कर देनी चाहिए, क्योंकि वह आनन्द का शत्रु है[2]।

चक्रों पर देवियों का शासन होता है। माहेशी, ब्रह्माणी, रौद्री स्कान्दी, वैष्णवी, यमात्मिका, चामुण्डा, नन्दा, भद्रा, काली और लक्ष्मी आदि देवियाँ हैं। विश्व के एकात्म परामर्श से ये सब शक्तियाँ स्फुरित होती हैं। देवी का ध्यान आंशिक विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अनुत्तर सत्ता (ब्रह्म) के प्रति इच्छा का उन्मेष ही विमर्श है।

कुल प्रक्रिया : हम शाक्त-उपाय में कौल-मार्ग का उल्लेख कर चुके हैं, इसका विस्तृत वर्णन-समयीसाधना में मिलता है। यह प्रक्रिया 'धाराधिरूढ़,—

---

(१) संवित्सर्वात्मिका देह-भेदाद्या सङ्कुचेन्नुसा।
मेलकेऽन्योन्यसंघट्ट-प्रतिबिम्वाद्विकस्वरा—तंत्रालोक—जिल्द १२ आ० २८ पृष्ठ १५८

उच्छलन्निजरश्म्योघः, संवित्सुप्रतिबिम्वतः
बहुदर्पणवद्दीप्तः, सर्वांयैताप्ययत्नतः—वही, पृष्ठ १५६

(२) वामाविद्धस्तु तन्निन्देत्पश्चात्तं घातयेदपि—वही, पृष्ठ १६२

निर्विकल्प-यथा दशा प्राप्त साधकों के लिए है[1]। सब के लिए नहीं। यह आशुतर प्रक्रिया है। अन्य साधनाओं से सिद्धि अनेक वर्षों में भी नहीं होती, किन्तु इससे शीघ्र होती है। यह रहस्य-परम्परा (क्रम) खगेन्द्रनाथ आदि गुरुओं से आज तक बराबर गुरु शिष्य परंपरा से चली आ रही है[2]। शैव-सिद्धान्त आदि अन्य सम्प्रदायों के मंत्र निवीर्य हैं, परन्तु इस कौलमार्ग के मंत्र सद्यःफल-दाता हैं[3]।

'कुल' का अर्थ है परमेश की सामर्थ्य[4]। सामर्थ्य-लय-उदय-कारित्व, सृष्टि के निर्माण एवं लय की शक्ति ईश्वर में होती है, अतः उसकी शक्ति का नाम है कुल। चित्शक्ति में चित्त का लय और उदय भी 'कुल' कहलाता है[5]। निर्मल स्वभाव को भी कुल कहते हैं[6]। सर्व-पदार्थों के ईश्वर को भी कुल कहते हैं[7]। शक्ति के भीतर वीर्य स्थापन भी कुल कहलाता है[8]। आनन्द का नाम भी कुल है[9]। शरीर को भी 'कुल' कहते हैं[10]। आत्मा को भी कुल कहते हैं[11]।

कुल-याग : शंकाध्वस्त होना ही यज्ञ है। मन, प्राण, वाक्, काय से वीर जब इस याग का भजन करता है, तत्व 'कुल-याग' होता है। इसमें नित्य

(१) तथा धाराधिरूढ़ेषु, गुरुशिष्येषु योचिता—तंत्रा० २९ आ०, पृष्ठ २

(२) सिद्ध-क्रम नियुक्तस्य, मासेनैकेन यद्भवेत्।
न तद्वर्षसहस्रैः स्यान्मन्त्रौघैर्विविधैरिति—वही, पृष्ठ २

(३) कौलिकास्तु महामन्त्राः स्वभावादीप्ततेजसः।
स्फुरन्ति दिव्यतेजस्काः, सद्यः प्रत्ययकारकाः—वही, पृष्ठ ३

(४) कुलं च परमेश्वरस्य शक्तिः सामर्थ्यंमूर्ध्वंता।
स्वातन्त्र्यमोवो वीयं च, पिण्डः संविच्छरीरकम्—वही, पृष्ठ ३

(५) लयोदयश्चित्स्वरूपस्तेन तत्कुलमुच्यते—वही, पृष्ठ ४

(६) स्वभावे बोधममलं कुलं सर्वत्र कारणम्—वही, पृष्ठ ४

(७) सर्वेशं तु कुलं देवि सर्वं सर्वं व्यवस्थितम्, तत्तेजः परमं घोरं—वही, पृष्ठ ४

(८) शक्तिगोचरगं वीर्यं तत्कुलं विद्धि सर्वगम्—वही, पृष्ठ ४

(९) कुलं सः परमानन्दः—वही, पृष्ठ ४

(१०) कुलं शरीरम्—वही, पृष्ठ ४

(११) कुलमात्मास्वरूपं तु—वही, पृष्ठ ४

नैमित्तिक कार्य आवश्यक नहीं हैं। ऐच्छिक हैं। यज्ञ पाँच प्रकार के हैं—बहियाँग, शक्ति याग, मिथुन याग, देह याग, प्राण याग। बहिर्याग द्रव्य याग है, यह ऐच्छिक है।

इस कौल-यज्ञ में जो अन्यत्र निषिद्ध है, उसी की योजना की जाती है, क्योंकि शंका एवं ग्लानि का नाश आवश्यक है।

'ब्रह्म-यामल' में सुरा को शिव-रस कहा है, उसका इस यज्ञ में विशेष उपयोग है, क्योंकि उसके बिना न भुक्ति है, न मुक्ति। मद्य कई प्रकार के हैं—आटे से जो मद्य बनती है, उसे 'स्त्री-मद्य' कहा है, शहद (क्षौद्र) से निर्मित मद्य नपुंसक है और गुड़ का मद्य पुरुष के समान है। द्राक्षा से निर्मित मद्य भैरव का परम तेज है। यह आत्मा का द्रव-रूप है। इसका आघ्राण,दर्शन, स्पर्श तथा पान मुक्तिदायक है।

मदिरा कृत्रिमा एवं सहजा दो प्रकार की है। पैष्टी (आटे से निर्मित) तथा क्षौद्रा (शहद-मद्य) कृत्रिमा है और द्राक्षा-मद्य सहजा है। कृत्रिमा भोगदायिका है, सहजा मुक्तिदायक।

मंत्र से तर्पित मद्य ही कल्याण कारक है अन्यथा नरकवासी होना पड़ता है। मद्य तो स्वयं आत्मा का रूप है। मद्य-पान में वासना का नाश आवश्यक है। 'लोलिका' के साथ मद्य पान नाशक है।

उत्तम मद्य-पान वह है जो सर्वदा पीता है। पर्वों पर मद्य पान मध्यम है और मासभर में एक बार पीना अधम है, इसके बाद पीना पशु-पान है। बिना मद्य के कौल याग करना व्यर्थ है। पुष्प,धूपादि न भी हों तो केवल मद्य से कार्य चल सकता है, परन्तु मद्य के बिना नहीं चल सकता।[1] याग के समय घी या तेल

(१) एतत्स्वयं रसः शुद्धः प्रकाशानन्द चिन्मयः।
देवतानां प्रियं नित्यं, तस्मादेतत्पिवेत् सदा।
सुरा च परमा शक्तिर्मद्यं भैरव उच्यते।
आत्माकृतो द्रवरूपो, भैरवेण महात्मना।
नानेन रहितो मोक्षो, नानेन रहिता गतिः
नानेन रहिता सिद्धिर्विशेषाद्भैरवागमे
येनाघ्रातं, श्रुतं, दृष्टं, पीतं स्पृष्टं महेश्वरी
भोग मोक्ष प्रदं तस्य।.........तंत्रा २६ आ०, पृष्ठ ६

के दीपक जलाये। १२ द्रव्यों का आयोजन करे—वीर्य, हेरम्ब पुष्प, क्षार, नाड़ी के पत्ते, घृत, छाग, मत्स्य, पक्षी का मांस, प्याज, लहसुन आदि।[1]

पूजन के पश्चात्, सिर से पैर तक सुरा द्वारा मार्जन, बाह्यस्नान की आवश्यकता नहीं है, केवल ध्यान से शरीर पवित्र कर ले, देहली का पूजन करे। कुंडगोलादि पात्रों में सुरा भर ले। इसके बाद की चर्या का वर्णन रहस्मय होने से नहीं हो सकता। केवल गुरु ही इसे स्पष्ट कर सकता है।

यज्ञ के समय यह भावना करे मैं नहीं हूँ, अन्य पदार्थादि नहीं हैं, केवल शक्ति की सत्ता है, सर्वदा इसी भावना का स्मरण करे।[2]

इस शरीर में देवियाँ क्रीड़ा कर रही हैं। अमूर्त शक्तियाँ सुरादि पदार्थ-प्राप्ति की इच्छा से शरीर में होती है, अत: इन्द्रियों को संतुष्ट करने से उनमें स्थित देवता प्रसन्न होते हैं और उन देवताओं से तेज का समूह निकलता है।[3]

इस समय चित्त का लय एवं उदय रासभी की योनि की तरह होता रहता है, अत: उन्मेष एवं निमेप के लिए कौल-याग आवश्यक है।

पूजा स्थान : रक्तपट पर, चौराहे पर सिंदूर से मंडल बना कर, नारियल पर करे। सिंदूर का तिलक कर, रक्तवस्त्र पहन कर कपाल में सुरा भर कर गणेश, बटुक, गुरु एवं योगिनी की पूजा करे। पूर्व दिशा या उत्तर को मुख करे। पुन: इल्लाई, कुल्लाई, सिल्लाई आदि देवियों की पूजा करे। 'घुम्मा' आदि मुद्राओं का प्रकाशन करे।

---

(१) रेतोहराम्बु पुष्पं च क्षारं नालाज्यकं तथा।
पौरुषं द्माभवं, छावां मीनजं शाकुनीयम्।
पलाण्डु, लशुनं, चैव, द्रव्यद्वादशकं शुभम्। वही, पृष्ठ १६

(२) नाहमस्मि न चान्योरित्त केवला: शक्त्यस्त्वहम्।
इत्येवंवासनां कुर्यात्सर्वदा, स्मृतिमात्रत: —वही, पृष्ठ १६

(३) अमूर्ता मूर्तिमाश्रित्य देव्य: पिण्डान्तरे स्थिता:।
क्रीड़न्ति विविधैर्भावैरुत्तम द्रव्यलिप्सया—वही, पृष्ठ १६

मुद्राओं से [1] पीठों में साधक की पहचान हो जाती है। योगिनियाँ शीघ्र साधना में शामिल कर लेती हैं। जितनी योगिनियों की पूजा करे, उतने ही दीपक रखे। अक्षरों के क्रम से अनुसार दीपक रखना चाहिए।

इसके पश्चात् खेचरी मुद्रा में स्थित होकर 'योगिनी-मेलन' (संघट्टावस्था) होता है।

यह मार्ग ग्राम्य-धर्म कहलाता है। ग्राम्य-धर्म का अर्थ है, मद्य, मांसादि का प्रयोग। इस धर्म में 'नवचक्रयाग' का प्रयोग होता है। नव स्त्रियों की प्राप्ति आवश्यक है, —मातंगी (चांडाल जाति की स्त्री), कज्जली, सौनी, कार्मुकी, चर्मकारिणी, ध्वजिनी, अस्थिदलनी, धीवरी, तथा चक्रिणी। इस 'नव-चक्र-याग' में इन नौ स्त्रियों की पूजा एक साथ होती है।

इन स्त्रियों के गृह में गमन करना ही तीर्थ है। मातंगी का घर ही प्रयाग है। कज्जली का घर वरुण तीर्थ, सौनी का कुलगिरि, कार्मुकी का अट्टहास तीर्थ, चर्मका-का जयन्ती तीर्थ है।[2]

इनमें चक्रिणी मुख्य है। यही कुंडलिनी कहलाती है। शायद यह तेली जाति की स्त्री होती होगी। इसकी बड़ी महिमा है यह माया को मारती है, बीज को रस में

---

(१) यहाँ स्पष्टतः 'मुद्रा' का अर्थ केवल अंगुलियों आदि की आकृति मात्र नहीं है परन्तु मुद्रा का अर्थ योगिनी (साधिका) भी है। योगिनी वर्ग को भी परंपरा मानी जाती है, इसे 'संतान' कहते हैं, प्रत्येक परंपरा की अपनी-अपनी मुद्राएँ हैं, इन मुद्राओं का प्रदर्शन कर देने उस परंपरा की (योगिनियों) की प्राप्ति हो जाती है।—

अचिराल्लभते तत्तत्प्राप्यं, यद्योगिनी वदनात्।
यो यस्याः सन्ततेर्नाथ, सामुद्रा तस्य कीर्तिता।
प्रासार्थं हस्तं सन्दर्घ्यं, नामाक्षरसमन्विताः।
क्रमेण तेन ज्ञास्यन्ति, स्वकीयां कुलसन्ततिम्—

तंत्रा० २९ आ०, पृष्ठ ३०

(२) मातंगीवेश्म सुभगे, प्रयागं परिकीर्त्तितम्
कज्जली वरुणारकं, तु सौनी कुलगिरिः पिये—आदि—

तंत्रा० २९, पृष्ठ ४६

बदलती है। यही कन्द में स्थित है। विश्व को अपने में समेटे हुए है। शैव सिद्धान्तों, वैष्णव, बौद्ध, वेदान्ती तथा स्मार्त साधकों को यह प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि वे अद्वैतद्रव (मद्य) से वञ्चित हैं। शक्तिहीन हैं।[1]

कौल-याग में या तो एकाकी या शक्ति (स्त्री) सहित रात में जप किया जाता है। अकेला अवधूत कहलाता है और शक्ति सहित 'यामल' कहलाता है। अवधूत ३ लाख बार और यामलावस्था में ६ लाख बार जप करना चाहिए। अन्य स्थान पर कहा गया कि मानस जाप ही यहाँ विधेय है। ब्रह्मचर्य से रहित यह जाप नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है कि आनन्द ही ब्रह्म का रूप है। अत: बाह्य पदार्थों का आनन्द भी ब्रह्म है। यह आनन्द विशेषत: मद्य, मांस, एवं मैथुन में हैं। इसी लिए 'देहे त्रिधा स्थितम्' कहा गया है। अत: ब्रह्मचारी का अर्थ मकार-सेवी है।[2] लोभवृत्ति के साथ मकार-सेवन घोर पाप है। विषय-गर्ध-निर्मुक्त होकर ही यह मार्ग सेवनीय है।

क्योंकि प्रवृत्तिरत होकर वैराग्य कठिन है अत: 'दूती-ज्ञान' की आवश्यकता है। दूती के बिना वस्तुत: यह मार्ग दुर्लभ है।

चूँकि शास्त्र में निर्दिष्ट दूतियाँ प्राय: दुर्लभ हैं, अत: हीन दूतियों से भी कार्य चल सकता है। रहस्य से परिचित, ज्ञानवती. सुन्दरी, दूती तो साक्षात् मुक्ति ही है। दूती आनन्द लाने वाली स्त्री को कहते हैं। निष्कम्प चित्त से किसी भी दूती के साथ रमण सिद्धिदायक है।

लौकिक और अलौकिक ये दूती के दो भेद हैं। इनके भी जन्या, जनिका तथा सहजा ये तीन-तीन भेद हैं। अपनी पत्नी लौकिक दूती है, उससे चूँकि 'आवेश'

---

(१) सिद्धांत वैस्णव बौद्धा, वेदान्ता: स्मार्तदर्शन
ते प्रयत्नेन वा वर्ज्या, यस्मात्ते पशव: स्मृता:।
अद्वैतद्रवसंपर्कोत्सभिधानं, त्यजन्ति ते।
पराङ्मुन्खमायाति, निर्जीवाजविर्वजिता:—वही, पृष्ठ ५२

(२) ओष्ठयान्त त्रितयासेवी—ब्रह्मचारी स उच्यते — वहीं, पृष्ठ ६५

नहीं उत्पन्न होता, अत:-वह साधना में ग्राह्य नहीं है। पत्नी को दूती नहीं कहा जाता। जो दूतियाँ बन सकती हैं, उनके नाम ये हैं—

स्वपत्नी, भगिनी, माता, दुहिता वा शुभा सखी।
दूतीं कुर्यात्तु कार्यार्थी, न पुन: काममोहित:—तंत्रा० ३१ आ०

यहाँ जो 'स्वपत्नी' शब्द आया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि 'स्वपत्नी' को दूती माना जा सकता है। स्वपत्नी हीन दूती के रूप में स्वीकार्य है।

दूती के साथ केवल सिद्धि के लिए एकान्त रमण विधेय है, लोभवश नहीं।[1] कुल चर्चा भोग के लिए नहीं है। यह तो मुक्ति का साधन है।

दूती के साथ मेलक के समय दूती तथा साधक को स्वरूप-विश्रान्ति का अनुभव करना चाहिए, तभी विकल्प का नाश होगा। इसलिए योगिनी के साथ तादात्म्य का कारण बनाया गया है। संघट्ट बेला में शक्ति एवं शक्तिमान की परस्पर उन्मुखता से आनन्द में विश्रान्ति होने से सृष्टि संहार होता है। अत: इस अवस्था में स्थित होकर तुर्यावस्था का अनुभव होता है, अत: शक्ति (दूती) को लाकर कुलयाग करना चाहिए। शक्ति की पूजा करनी चाहिए, बार बार संघट्टावस्था में स्थित होकर ब्रह्मानंद का अनुभव करना चाहिए। इससे 'आनन्द सन्दोह' की प्राप्ति होती है। इसीलिए यह चक्र-पूजा कहलाती है।[2]

चूँकि शून्य से वायु का जन्म होता है और वायु से पुरुष तत्त्व (लिंग) का उत्थापन होता है, अत: वायु एवं पुरुष-शक्ति के योग से आकाश अवस्था शून्यावस्था को प्राप्त किया जा सकता है।[4]

---

(१) स्थित्यर्थं रमयेत्कान्तां न लौल्येन कदाचन्—तंत्रा० २६ आ०, पृष्ठ ३०

(२) द्वाभ्यां तु सृष्टि संहारौ तस्मान्मेलक मुत्तमम्—वही, पृष्ठ ७४

(३) चक्र शक्ति का अर्थ इस प्रकार है—
विकासात् तृप्तित: पाथोत्कर्तनात्कृति शक्तित:।
चक्रं कसेञ्चक्रे: कृत्या, करोतेञ्च किलोदितम्—

(४) शून्योद्भवो भवेत् वायु: मेढ्रस्यो त्थापनं भवेत्। वही, पृष्ठ ७६
वायु मेढ्र समायोगात्—तंत्रा० ३६ आ०, पृष्ठ ७८

अतएव पूज्य, पूजक, आह्वान, पुष्प, धूप, चरु, मंत्र, जप, कुंड, काष्ठ, आदि सब कुछ शक्ति एवं शक्तिमान की पूजा (दूती-रमण) में केन्द्रित है ।[1]

जिस जिस इंद्रिय से जो जो आभासित होता है, उसी में योगी तन्मय हो जाय । क्योंकि इंद्रियों से प्रकट होने वाला आनन्द ही परमानन्द का साधन है । इसी से अति भावना का विकास होने से यह योग 'अति-योग' कहलाता है, क्योंकि केवल इसी योग में चारों ओर से एक साथ परामर्श होता है और परामर्श से ही साक्षात्कार होता है । संन्यासी प्रधान धर्मों में 'समन्तात् आमर्श' नहीं होता अतः भेद-तृष्णा की शांति के लिए अति योग सेवनीय है । यह अति योग स्त्री के मुख से ही प्रकट हुआ है उसी में सारी सृष्टि ओत-प्रोत है[2] । स्त्री का मुख ही मुख्य चक्र है, उससे उत्पन्न स्वानुभूति पर आधारित यह 'अतियोग' केवल अनुभव का विषय है । पर इसे लिखा नहीं जा सकता । मुमुक्षुओं के लिए साधना का वर्णन इतना ही है । बुभुक्षुओं की साधना अलग है ।

बुभुक्ष-साधना : मुक्ति-प्रदायिनी साधना ही बुभुक्ष-साधना है । इसके लिए अपने शरीर में स्थित पदार्थ ही सेवनीय हैं । शरीर में स्थित पदार्थ वीर्य एवं रज हैं जो शरीर के सार हैं । चूँकि ये पदार्थ संवित् (चैतन्य) के निकटतम हैं, अतः ये ही मुख्य हैं । इन्हें 'कुंडगोलक' भी कहते हैं। कुंड अर्थात् रज, गोलक = वीर्य । इनके भक्षण से मनुष्य वृद्धावस्था से बचकर अमर हो जाता है । यही श्रेष्ठ रसायन है । कुंड गोलक से सुरा का भी संकेत होता है। अतः योगिनी मुख से उच्छिष्ट सुरा

---

(१) योषितञ्चैव पूज्यन्ते, पुरुषञ्चैव पूजकः ।
आह्वानं तु तयोः प्रीतिः, पुष्पं च करजक्षतम्
धूम मालिङ्गनं प्रोक्तं, चरु तनुकृतं भवेत्
मंत्रः प्रियायाः वाग्जालं, जपञ्चाप्यधरामृतम्
भगकुंडं स्रवं लिङ्गमग्निञ्चैव भगाङ्कुरः ।
आज्यं च भजते बीज इत्युक्तं भैरवागमे—वही, पृष्ठ ७९

(२) स्त्री मुखे निक्षिपेत्पात्रः स्त्रीमुखात् ग्राहयेत् प्रिये ।
स्त्रीमुखात् भवेत्सिद्धिः, सुसिद्धं तासु तत्पदम्—तंत्रा० २९ आ०, पृष्ठ ८८

का पान करे तथा अपनी उच्छिष्ट सुरा का पान योगिनी को करावे। उच्छिष्ट सुरा को पात्र में भर ले यही सुरा सर्व सिद्धिदायक है।[१]

पुनः दूती को क्षुभित करके द्रव्य (वीर्य) का पान करे। चक्र-रचना करे। चक्र खींचकर उसके बीच में शक्ति एवं शिव की मूर्ति बनाये। १२ पत्रों के कमल का चित्र खींचे और इस चक्र की पूजा करे। दूती रमण के पश्चात् वीर्य-विसर्जन के समय चैतन्य के साथ तादात्म्य का प्रयत्न करे।

देवताओं का निवास नेत्र, श्रवणादि अवयवों में रहता है, ये ही 'अनुचक्र' है। ये देवता आनन्द की आकांक्षा करते हैं। मुख्य चक्र गुह्येन्द्रियों में है। संघट्टावस्था में ये सब देव प्रसन्न होते हैं, क्योंकि अनुचक्र के देवता मुख्य चक्र के देवता शिव एवं शक्ति के ही अधीन हैं। इन्द्रियगण अपनी-अपनी रश्मियों का रस वीर्य-विसर्ग के समय मुख्य आनन्द में समर्पित कर देते हैं,[२] अतः मुख्य चक्र पूजा से सभी संतुष्ट होते हैं और सिद्धि देते हैं। सारे पदार्थ इसी चक्र-साधना से प्राप्त हो सकते हैं। जिस प्रकार नदियों के जल के अर्पण से समुद्र प्रसन्न होता है तथैव इन्द्रियों द्वारा प्राप्त आनन्द के पर्यवसान से आत्मा संतुष्ट होती है, अतः अनुचक्रों द्वारा चक्रेश्वर भी उत्तेजित होता है। दृगादि के मिलने पर ही प्रेमावेश बढ़ता है।

विसर्ग तीन प्रकार का है (i) उदित (ii) शांत (iii) संघट्ट कुंड का अर्थ भगवत् शक्ति का 'उदय' है। गोलक = शिव (लिंग) 'शांत' कहलाता है तथा इन दोनों का मिलन ही 'संघट्ट' है जो पूर्ण लयावस्था है, यही विसर्ग है।

शक्ति तत्व के उदय से सृष्टि होती है, सृष्टि को शांत करना, संहार करना शिव का कार्य है। इन दोनों के मिलन से उदय एवं शांतावस्था के बीच की अवस्था

---

(१) विद्राव्य गोलकं तत्र कुण्ड च तनुमध्यमे।
तत्स्थं गृह्य महाद्रव्यं, मुखेन तनुमध्यमे।
तद्वक्त्रगं ततः कृत्वा, पुनः कृत्वा स्ववक्त्रगम्
पात्रं प्रपूरयेत्तेन, महाल्यम्बु विमिश्रितम्
तेनार्धं पात्रं क्रवींत् सर्वसिद्धिफलप्रदम्—वही, पृष्ठ ९२
कुण्ड : शक्तिः, शिवोलिङ्गः मेलकः परमंपदम्—वही, पृष्ठ ९९

(२) रण रणकर सान्निजरसभरित, बहिर्भावचर्वण वशेव।
विश्रान्ति धाम किञ्चत् लब्ध्वा, स्वात्मन्यथापर्यते। वही, पृष्ठ ९७

'अनाख्य' की प्राप्ति होती है, यहाँ वेद्य-वेदक भाव समाप्त हो जाता है। शांकर वेदान्त में भी चित्त के उदय एवं शांत अवस्थाओं के बीच की अवस्था ध्येय मानी गई है। प्रथम वृत्ति का नाश हो जाय और दूसरी उदित न हो—दो वृत्तियों के बीच की यह अवस्था ही प्राप्य है। दो वृत्तियों के बीच में ही चैतन्य का प्रकाश रहता है। यही मुक्ति है।

प्राण-योग में भी मध्य अवस्था—इड़ा पिंगला के मध्य सुषुम्णा को ही सिद्धिदा कहा गया है।

अत: लय एवं विक्षेप का अभ्यास आवश्यक है और इसके लिए शक्ति तथा शिव का संघट्ट आवश्यक है। क्योंकि विसर्ग समय जो दो वृत्तियों के मध्य चैतन्य प्रकाश का परामर्श होता है, वही सिद्धि देता है। इस त्रिविध परामर्श से जो हृदय में नाम उत्पन्न होता है वही मंत्र है।[1] इसी मंत्र के जाप सब पदार्थ एवं सिद्धियाँ सुलभ हैं। मंत्र अनिर्वचनीय आनन्द के लाभ के लिए उत्सुक रहता है, इस उत्सुकता के न रहने पर मंत्र निर्वीर्य हो जाता है। मध्य-चक्र में स्थिर रहकर पुन: पुन: इस अनुभूति का अभ्यास करे और संघट्टावस्था में रहकर स्वपरामर्श मुक्त होकर तीन लाख बार जप करे।

इस त्रिधा विमर्श को ही चक्र-रचना द्वारा समझाया जाता है। १६ कमल के बीच एक त्रिकोण बनाया जाता है। यह तीन दल का होता है। इसी त्रिकोण के मध्य में सृष्टि का अंकुर उत्पन्न होता है। तीन नाड़ियाँ इस त्रिकोण को बनाती हैं। वामा जल को तथा दक्षिणा रक्त को ले जाती है और मध्यमा शुक्र-वाहिनी नाड़ी है मध्यस्थ नाड़ी में जो नाल है उससे पुरुष-कमल नाल का संघट्ट होता है और रज रेत रूप चन्द्र-सूर्य का संघट्ट होता है। अत: साधक की चेतना अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और चन्द्र से अमृत स्रवित होने लगता है। अतएव यही 'संघट्ट-साधना सर्वश्रेष्ठ है। इस मुद्रा से सहज ही तुर्यावस्था प्राप्त होती है, यही वास्तविक खेचरी मुद्रा है। खान, पान, लीला, हाव भाव आदि सभी अवस्थाओं में पर-परामर्श चलता रहता है और अव्यक्त नाद स्वत: मंत्र के रूप में प्राण के साथ

(१) एवम् त्रिविधि विमर्शावेश समापत्ति धाम्नि य उदेति।
संवित्परिमर्शात्मा ध्वनि स्तदेवेह मन्त्रवीर्यं स्यात्।
तत्रैवोदित तादृश फललाभसमुत्सुक: स्वकं मन्त्रम्
अनुसन्धाय सदा चेदास्ते, मन्त्रोदयं स वै वेत्ति—तंत्रा० २९ आ० पृष्ठ १०३

स्फुरित होता रहता है। यही सहज जप है, सहज साधना हैं, सहजानन्द है। यह सहज जप आठ स्थानों पर चलता है—श्वास का आगमन, श्वास का गमन, बुद्धि, कर्ण, नयन, लिंग, योनि एवं संघट्ट।[1]

भैरवाष्टक : उपर्युक्त आठ स्थानों में होने वाला जप सहज जप है। कुचमध्य हृदय देश से लेकर ओष्ठ तक अव्यक्त ध्वनि हो रही है, इसका विमर्श ही सहजनादात्मक जप है। इस सहजनाद का बाह्य रूप रति-काल में प्रिया कंठ से उदित 'हा, हा' ध्वनि के रूप में सुनायी पड़ता है। इसी नाद को 'मांत्री' कहा गया है जो सारे मंत्रों में व्याप्त है। यह ह, ह नाद नपुंसक है, शिव, शक्ति के परे नपुंसक तत्व 'अनाख्य' का व्यंजक है। शिव-शक्ति दोनों से उत्पन्न है। यह मंत्र सर्वत्र व्याप्त है, ऐसा स्मरण करना चाहिए अन्यथा संघट्ट में पतन होता है अन्यथा निर्लेप रहता है इसी को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। भोग काल में निर्लेपता और अक्षुब्ध रहना ही जीवन्मुक्ति है।[2] जीवन्मुक्त ही शिव के समान संतान उत्पन्न कर सकता है। विलासी का विनाश होता है।

आदि याग : इसे 'आदि याग' कहा गया है, क्योंकि यह 'सार वस्तु' को लाता है।[3] सारवस्तु इसी शरीर मे विद्यमान है और शरीर में ही प्राप्त हो सकती है। इस सहज क्रिया द्वारा ही वह प्राप्तव्य है।[4] जहाँ सब पदार्थों का लय होता है, वह चेतना (संवित्) तो शरीर में ही स्थित है, यह चेतना इसीलिए 'श्मशान' कही जाती है, यह वृत्ति रहित है, यहीं सिद्धि होती है। इस श्मशान रूपिणी चेतना में स्थित होकर ही मंत्र सिद्ध होते हैं और नाना चमत्कार उदित

---

(१) गमनागमनेऽवसितौ, कर्णे नयने द्विलिङ्ग संपर्के।
तत्संमेलन योगे, देहान्ताख्ये च यामले चक्रे—वही, पृष्ठ १०८-१०९

(२) एवं कर्मणि कर्मणि, यत्र क्वापि स्मरन् व्याप्तिम्।
सततमलेपो जीवन्मुक्तः, पर भैरवी भवति—तंत्रा० २९ आ०, पृष्ठ १११

(३) आदीयते यतः सारं, तस्य मुख्यस्य चैष यत्
मुख्यश्च यागस्तेना यमादि याग इति स्मृतः—वीरावली शास्त्र उद्धृत—तंत्रा० आ० २९, पृष्ठ ११२

(४) स्वदेह एवायतनं, नान्यदायतनं व्रजेत्—तंत्रा० आ० २९, पृष्ठ ११९

होते हैं। यही चेतना संकेत-गृह है। यही रति-रहस्य है।[1] विकल्पों के नाश होने पर चित्तवृत्ति के प्रवाह के नष्ट हो जाने पर, सृष्टि-संस्कारों के नाश के लिए समर्थ भीषण रौद्री चेतना रूपी श्मशान में स्थित होकर कौन सिद्धि प्राप्त नहीं करता ?

शैव-सिद्धान्त मत में कर्म-बहुलता है, दक्षिण मार्ग (शाक्तमत) में रौद्र कर्म अधिक हैं। वाममार्ग में सिद्धियों की प्रधानता है। त्रिक्-शासन में (कश्मीर-त्रिक् दर्शन या ईश्वराद्वयवाद) स्वल्प कष्ट है, स्वानुभूति की प्रधानता है और वाम-दक्षिण दोनों मार्गों का मिलन है, यह अतः त्रिक्-शास्त्र सर्वश्रेष्ठ है। साधक को चाहिए कि वह क्लेशकर, अल्प पुण्य, स्वानुभव रहित वैदिकादि मार्गों को छोड़ दे और भुक्ति-मुक्तिप्रदायी सर्व तंत्रों के श्रेष्ठ तत्त्वों से समन्वित इस कश्मीरी त्रिक् शासन को स्वीकार करे।

---

(१) यत्र सर्वं लयं यान्ति, दह्यन्ते तत्त्वसञ्चया
तां चितिं पश्य कायस्थां, कालानलसम प्रभाम्—वही, पृष्ठ १२१
शून्यरूपे श्मशानेस्मिन्, योगिनी सिद्ध सेविते।
क्रीड़ास्थाने महारौद्रे, सर्वास्तमित विग्रहे
स्वरश्मि मंडलाकीर्णे, ध्वंसितध्वान्तसन्ततौ
सर्वैविकल्पैर्निमुक्तैः आनन्द पैद केवले
असंख्य चितिसंपूर्णे श्मशाने चिति भीष
समस्त देवताधारे, प्रविष्टः को न सिद्धया

परिशिष्ट

तांत्रिक जैनमत

परिशिष्ट

तांत्रिक जैनमत

जैनमत कठोर शुद्धाचारवादी है, यह सम्प्रदाय प्रारम्भ से ही घोर निवृत्ति-प्रधान रहा है। अतः तंत्रों की 'रागसाधना' के लिए इस मत में कोई सम्भावना नहीं थी किन्तु 'मंत्रसाधना' द्वारा चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति जैनमत में विकसित हुई और इसके लिए देवी-देवताओं की पूजा भी चल पड़ी। इन देवियों को तीर्थंकरों की 'सेविका' माना गया है, इससे तीर्थंकरों की अवज्ञा भी नहीं हुई और मंत्र-साधना के लिए अवसर भी मिल गया।

जैसा कि बौद्धमत में हुआ, जैनमत के कठोर अनुशासन के विरुद्ध भी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और नग्न साधकों और परिव्राजकों के स्थान पर मठवासियों और चैत्यवासियों का प्रादुर्भाव हुआ। ये चैत्यवासी उन बौद्धतांत्रिकों से सादृश्य रखते हैं जो विहारों में रहकर 'विहार' द्वारा 'तत्त्व' का साक्षात्कार करते थे।

प्रश्न यह है कि राग के पूर्ण विनाश में विश्वास रखनेवाले मत में 'मंत्र-साधना' का सैद्धान्तिक आधार क्या था? शाक्त, शैव, बौद्ध और वैष्णव तांत्रिकों ने साधना को एक 'दर्शन' पर आधारित किया है, जैनमत में 'मंत्रसाधना' की पृष्ठभूमि में वह दार्शनिक आधार क्या है?

शक्ति का सिद्धान्त जैन तांत्रिक भी मानते हैं। पदार्थ में भी शक्ति है और 'आत्मा' अक्षय और अपरिमित शक्ति का कोष है। श्री एम० बी० झावेरी ने विचार को भी 'शक्तिमय' माना है, 'विचार वस्तु है' नामक पुस्तक से उन्होंने उद्धृत करते हुए बताया है कि प्रत्येक जीवित पदार्थ गति का केन्द्र है। गतिकेन्द्र से गति जागृत होकर प्रसरित होती है। 'सदृश माध्यम' में यह गति यथावत् प्रविष्ट हो जाती है और 'असदृश माध्यम' में यह गति रूपान्तरित होकर प्रविष्ट होती है।[1]

---

1. Thoughts and things—William Walker Atkinson

इसका तात्पर्य यह कि मनुष्य के विचार में अद्भुत शक्ति होती है, यदि वह 'ध्यान' द्वारा विकसित कर लिया जाय तो वह असम्भव कार्यों को भी सम्भव बना सकता है। श्रोता यदि किसी 'विचारक' के सदृश रुचि और भाव वाला है तो उसमें विचारक का विचार यथावत् प्रविष्ट हो जाता है ('जादू' या 'इन्द्रजाल' में इसीलिए 'मीडियम' या 'माध्यम' का प्रयोयकर्त्ता के साथ 'तादात्म्य' आवश्यक होता है) और यदि श्रोता असमान रुचि वाला है तो भी विचार का उस पर प्रभाव होता है, किन्तु बदले हुए रूप में अर्थात् विरोधी श्रोता पर विचार की प्रतिक्रिया 'मिश्रित' होती है पर होती अवश्य है।

इस प्रकार शाक्तों और शैवों की तरह, सर्ववादी चिंतन के अभाव में भी जैनसाधकों ने मनुष्य की मनोवैज्ञानिक शक्तियों को पहचान कर उनका प्रयोग किया था। तंत्रों की विशेषता ही यह है कि साधना में उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का प्रयोग किया है, अतः अंतरावलोकन द्वारा मनुष्य की इच्छाशक्ति, भावशक्ति, विचार शक्ति, शब्द शक्ति, ध्यानशक्ति आदि को जैन तांत्रिक भी मानने लगे थे। उन्हें विचार की ही शक्ति का ज्ञान नहीं था, वे यह भी जानते थे कि 'विचार' 'भाव' के साथ संयुक्त होकर अधिक शक्तिशाली और 'व्यापक' हो जाता है। यही कारण है कि 'देवी उपासना' में जैन साधक शक्तिप्राप्ति के लिए ध्यान, विचार और भाव तीनों पर बल देते हैं।

इसके अतिरिक्त जैनसाधक यह भी जानते थे कि कुछ 'अमूर्त' विचार ऐसे होते हैं जिनके द्वारा मन में 'मूर्ति' का निर्माण स्पष्टता के साथ होता है और उस 'मूर्त्ति' से प्रबल शक्तिमान् विचार-प्रवाह उत्पन्न होता है। इस प्रकार जैनमत बौद्धतांत्रिकों तथा अन्य साधकों की तरह किसी 'मूर्त्ति' की मन में सृष्टि कर उससे शक्ति प्राप्त करने का विश्वासी है। यह 'मूर्त्ति' किसी 'देवी या 'देवता' की हो सकती है अथवा किसी 'व्यक्ति' या 'वस्तु' की भी हो सकती है। उदाहरण के लिए 'मारण' या वशीकरण के लिए कुछ 'वस्तुएँ' ली जाती हैं जैसे मारण के लिए वस्त्र, नाखून, पैरों की धूलि आदि और वशीकरण के लिए केश और वस्त्र आदि। इन वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। ध्यान के समय यह मान लिया जाता है कि जिस 'व्यक्ति' पर प्रयोग किया जा रहा है, वह व्यक्ति 'वस्तु' के रूप में सम्मुख स्थित है। अतः उस 'वस्तु' में एक शक्ति है, ऐसा विश्वास ही फल-दायक सिद्ध होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सारी साधना प्रबल 'कल्पना' का

चमत्कार है। कल्पना द्वारा ही साधक अपने मन में 'मूर्त्ति' की रचना करता है और उस पर ध्यान केन्द्रित करके अद्भुत शक्ति प्राप्त करता है। शाक्तों और शैवों के अनुसार सब वास्तविक और कल्पित पदार्थ शक्ति या शिवमय है, अत: वे शक्ति के कोष हैं, जैन यह सर्ववाद नहीं मानते, किन्तु वैसे अग्नि का कोई दार्शनिक आधार न मानने पर भी उसमें दाहक गुण होता हैं, उसी प्रकार ध्यान की प्रक्रिया द्वारा 'पदार्थ' या मूर्त्ति अपना प्रभाव दिखाती है।

आदर्श (Ideal) को 'वास्तविक' (Real) बनाने के लिए प्रबलतम 'इच्छा' की आवश्यकता होती है। फिर अभीष्ट वस्तु या व्यक्ति की मूर्ति को स्पष्ट रूप में मन में जागृत करना पड़ता है और फिर उसे 'भाव' से दीप्त किया जाता है, इससे 'मूर्त्ति' से गति का प्रवाह चल पड़ता है जिससे अभीष्ट वस्तु दूर होने पर भी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार 'इच्छा' (Will and desire) ही 'जादू' या 'अभिचार' का रहस्य है।

अन्य तांत्रिकों के सदृश ही जैनसाधक मंत्र की शक्ति के विश्वासी हैं। ध्वनि में अव्यक्त शक्ति अवस्थित है। इच्छा शक्ति और कल्पना-शक्ति से मंत्र सिद्ध होता है अत: 'रूप' का श्रवण किया जा सकता है और 'ध्वनि' का दर्शन सर्वथा सम्भव है। प्रकृति में सर्वत्र 'गति' है और यह 'गति' विविध रूपमयी है। ये रूप एक दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं, अत: एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ में परिवर्तित किया जा सकता है। मंत्र में ध्वनि अवस्थित है और ध्वनि भूततत्त्व का प्रथम रूप है, अत: ध्वनि सबसे अधिक शक्तिमती मानी जाती है। मंत्र में उच्चारण नहीं अपितु इच्छा और कल्पना चमत्कार उत्पन्न करती है।

जैनयोग

योग के चार रूप है, मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। कुंडलिनी जागरण को ही 'लययोग' कहा जाता है। जैनयोग के अनुसार योग द्वारा आत्मा 'स्वभाव' से परिचित होती है। जैनमत शाक्तों की तरह अद्वैतवादी नहीं है, अत: आत्मा का परमात्मा मिलन जैनयोग का लक्ष्य नहीं है। जैनयोग के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक रूप से परिचित हो सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से जैनियों को 'अद्वैतवादी' भी कहा जा सकता है, क्योंकि 'आत्मा' अपने शुद्ध रूप में 'परमात्मा' के ही सदृश शुद्ध 'मुक्त' और निर्बंध है। आत्माएँ अनेक हैं, पर वे सत्य

अपने शुद्ध रूप में परमात्मा के समान शुद्ध और बंधनरहित हैं, योग द्वारा यह उच्च स्थिति प्राप्त हो सकती है, अतः जैनयोग द्वारा 'आत्मा' ही 'साध्य' है—

परमात्मसमापत्तिजीवात्मनि हि युज्यते ।
अभेदेन तथा ध्यानदन्तरङ्गस्वशक्तितः ।

मंत्रसाधना में पूजा या आचार तथा भक्ति की प्रधानता है। जैनमत में इसका बहुत प्रचार है, किन्तु 'लययोग' का प्रचार नहीं है। जैनसाधक 'ध्यान या भावना योग' को अधिक पसन्द करते हैं। ध्यान योग में 'वैराग्य' द्वारा 'समाधि' प्राप्त की जाती है और मानसिक 'वृत्तिप्रवाह' को समाप्त कर शुद्ध चेतना को प्राप्त किया जाता है और इस प्रकार चेतना निर्विकार हो जाती है। इस उच्च स्थिति को प्राप्त कराने वाले योग में 'सिद्धि' और 'भुक्ति' को कोई महत्त्व नहीं दिया गया, क्योंकि 'भुक्ति' में विकार रहता है। 'सिद्धि' और 'भुक्ति' की प्राप्ति के लिए 'चैत्यवासी' जैनतांत्रिक अधिक उत्सुक थे। इसके विपरीत उक्त निर्विकार स्थिति को प्राप्त करने वाले योगों 'वैरागी' निर्ग्रन्थ या 'दिव्ययोगी' कहलाते थे, तीर्थंकर ऐसे ही दिव्ययोगी थे। 'चैत्यवासी' साधकों का जैनियों में इसीलिए अधिक सम्मान प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार जैनमत में 'दिव्ययोगी', और 'भुक्तियोगी' साधकों का अंतर स्मरणीय है। 'भुक्तियोग' या 'मंत्रयोग' द्वारा 'मुक्ति' प्राप्त नहीं हो सकती जबकि दिव्ययोग से भुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, ऐसा विश्वास प्रचलित है। दिव्ययोगी पूर्ण अभौतिक स्थिति प्राप्त कर लेता है जबकि 'मंत्रयोगी' दिव्य आनन्द की केवल झलक मात्र पा सकते हैं।

जैनतंत्रों और अन्य तंत्रों में कुछ बातें सामान्य हैं—दोनों में 'भक्ति' पर जल दिया गया है। जाति और लिङ्ग का भेद साधना में स्वीकार नहीं किया गया; अतः तांत्रिकधारा की समतावादी और जातिविरोधी प्रवृत्ति यहाँ भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त आचार के क्षेत्र में मंत्र, बीज, यंत्र, मुद्रा, न्यास, भूतशुद्धि, कुंडली योग, मंदिरनिर्माण, मूर्त्तिनिर्माण, चर्या, उत्सव, आदि अन्य तांत्रिक सम्प्रदायों की तरह स्वीकृत हैं। 'गुरु' का महत्त्व भी अन्य तंत्रों की ही तरह स्वीकार किया गया है।

किन्तु जैनतंत्रों में पंचमकार का प्रयोग सर्वथा वर्जित है अर्थात् जैनी दक्षिणपंथी तांत्रिक हैं। गोरखपंथियों की तरह सर्वत्र ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया है। फिर भी चैत्यवासियों का जो विवरण मिलता है, उससे यह नहीं लगता कि

इन साधकों में ब्रह्मचर्य का पूर्णत: पालन सम्भव था। यह सम्भव है कि गुह्य-साधना का गुप्तरूप से चैत्यवासियों में प्रयोग चलता हो—

"ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं। देवद्रव्य का उपभोग करते हैं, जिन मंदिर और शालाएँ बनवाते हैं, रंग-विरंगे सुगंधित धूपवासित वस्त्र पहनते हैं, बिना नाथ के बैलों के सदृश्य स्त्रियों के आगे गाते हैं। आर्यिकाओं द्वारा लाये गए पदार्थ खाते हैं ......ये मुहूर्त निकालते है, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं.........स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुण गाती हैं.........उच्चाटन करते और वैद्यक यंत्र, मंत्र, गंडा, ताबीज आदि में कुशल होते हैं......... वे पशु हैं, श्रमण नहीं.............आर्यिकाओं के साथ एक ही निवास में रहते थे।[1]

यह स्मरणीय है कि बौद्ध विहारों में भिक्षु और भिक्षुणियों के एक साथ रहने से ही 'बौद्धतंत्र' का प्रादुर्भाव हुअ था। इसी प्रकार यह सम्भव है कि आर्यिकाओं के साथ रहने से चैत्यवासियों में 'भुक्तियोग' का प्रादुर्भाव हुआ हो। इनमें दिगम्बर चैत्यवासी नग्न रहते थे और श्वेताम्बर साधक वस्त्र धारण करते थे। अपनी मंत्रसाधना के द्वारा ये महन्त तात्कालिक शासकों और अन्न समृद्ध व्यक्तियों पर अप्रतिम प्रभाव रखते थे।

जैनसाधकों के प्रमाण से ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि जैनतंत्रसाधना में भी 'अथर्ववेद' की परंपरा का ही विकाश हुआ है। संघदास ने 'वासुदेव हिण्डी' या 'वासुदेवचरित' में अथर्ववेद के मंत्रनियोग का वर्णन किया है (पृष्ठ १५१) इसी प्रकार सुंत्रक्तङ्गटीका में शीलाङ्क ने अथर्ववेद के अभिचार का विवरण दिया है[2]।

जैनियों के धार्मिक साहित्य 'विद्यानुप्रवाद' के दशम अध्याय (पूर्व) में मंत्र और विद्या का वर्णन है। अब ये ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं, परन्तु पतवर्ती साहित्य में इनके उल्लेख मिलते हैं। जैनधर्म साहित्य द्वादश अंगों में विभक्त है। इनमें १२वें अंग में पूर्व साहित्य था। 'विद्यानुप्रवाद' का अर्थ इस प्रकार किया गया है—

यत्रानेकविधा विद्यातिशया वर्ण्यन्ते तद्विद्यानुप्रवादम्

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ४८०-४६२

(2) Comparative and Critical study of Mantrashastra—M. B. Jhavery. Ahmedabad, 1944, Page. 96.

दिगम्बरों के अनुसार दशम पूर्व में ५०० महाविद्याओं का वर्णन था और ७०० अल्पविद्याओं का।

जैन तंत्रसाहित्य और साधना का विकास : जैन तंत्रसाधना पार्श्वनाथ के समय से मानी जाती है। पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर थे। इनकी मृत्यु महावीर स्वामी से २५० वर्ष पहले हुई। सम्भवतः विद्यानुप्रवाद-साहित्य पार्श्वनाथ के समय का है। जैन मंत्रसाधकों में शायद इसीलिए पार्श्वनाथ की पूजा अधिक होती है। पार्श्वनाथ की सेविका देवियों और सेवक देवताओं को मंत्रसाधना द्वारा प्रसन्न कर 'सिद्धि' प्राप्त की जाती है। 'भैरवपद्मावतीकल्प' के सम्पादक श्री झावेरी का अनुमान है कि पार्श्वनाथ के समय (८७६ पूर्वसा से ७७६ पूर्वसा तक) ही अथर्ववेद के मंत्रों का सम्पादन हुआ होगा। पार्श्वनाथ काशी के राजकुमार थे, अतः वे अथर्ववेद की मंत्रसाधना से प्रभावित हुए होंगे। जो हो, यह निश्चित है कि जैन परंपरा के अनुसार जैनियों में मंत्रसाधना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। महावीर की मृत्यु के १७० वर्ष बाद भद्रबाहु की मृत्यु हुई थी, भद्रबाहु ने 'स्मरणमंत्र' के द्वारा पार्श्वनाथ का आवाहन किया था। भद्रबाहु जैनतंत्रसाधना के प्रारम्भिक आचार्यों में माने जाते हैं।

फिर भी जैनतंत्रसाधना और साहित्य का उद्गम कितना ही प्राचीन हो, इसका प्रचार ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद ही बढ़ता दिखायी पड़ता है, अन्य तांत्रिक सम्प्रदायों की उन्नति का भी यही युग है। श्री झावेरी भी चैत्यवासियों की उन्नति ईसा के आसपास ही मानते हैं। कुशन और गुप्तसाम्राज्य के उदय के मध्य की अवधि को 'पतन' का युग माना जाता है, इसी अवधि में जैन चैत्यवासियों ने अपनी मंत्रसाधना का प्रचार प्रारम्भ किया।

ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग जैन मंत्रसाधकों के चमत्कारों की कथाएँ प्रचलित होने लगीं थीं। राजा गर्दभिल्ल को 'कल्काचार्य' ने ७४ पूर्वसा में मंत्र शक्ति से अपदस्थ कर दिया था, क्योंकि कल्कमुनि की साध्वी बहिन का राजा गर्दभिल्ल ने बलात् अपहरण किया था।

मानदेवसूरि (विक्रम की तृतीय शताब्दी) ने 'लघुशांतिमंत्र' की रचना की थी। यह महान साधक था। तक्षशिला में उस समय ५०० जैनमंदिर थे! मानदेव की ही तरह वादिवैताल शांतिसूरि ने 'वृहत् शान्तिमंत्र' की रचना की थी। इन शान्तिमंत्रों के जप से रोग का नाश होता है। विक्रम की पाँचवी शती

में सिद्धसेन दिवाकर साधक का प्रादुर्भाव हुआ, यह मंत्रों से सेनाओं की सृष्टि कर देता था। मल्लवादि सूरि भी इसी शताब्दी का साधक था।

सम्राट अशोक के नाती 'सम्प्रति' पर चैत्यवासियों का प्रबल प्रभाव था, इसने बहुत से चैत्य और मंदिर बनवाये। उसके पश्चात् शासकों द्वारा मंदिर निर्माण-कार्य तेजी से बढ़ता गया और चैत्यवासी साधकों का प्रभाव भी बढ़ता गया।

मानतुंगसूरि ('भक्तामरस्तोत्र' का लेखक) कवि बाण का समकालीन था। हरिभद्रसूरि ने 'ताराभक्त बौद्ध तांत्रिकों को परास्त किया। यह 'अम्बिका' देवी का भक्त था। हरिभद्र का समकालीन सीलगुण सूरि था (८वीं शताब्दी)। इसने तथा बापाभट्टिसूरि (८१०-८९५ वि०), वीरमणि, शांतिसूरि तथा सूराचार्य (११वीं शताब्दी) ने मंत्र विद्या का प्रचार किया।

चैत्यवासी आगे 'यती' कहलाने लगे। इनके मुखिया 'भट्टारक' कहलाते हैं। 'आचार्य' कहलाने वाले साधक सूरिमंत्रों का जप करते हैं ओर साधारण लोग परमेष्ठिमंत्र का। 'संवेगी' साधु भी मांत्रिक बन जाते हैं। यों इन्हें मंत्रविद्या के अभ्यास की मनाही है।

११वीं शताब्दी और बाद के मांत्रिकों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं— यशोभद्रसूरि, अभयदेव, वीराचार्य, जिनदत्त, वादिदेव, हेमचाद; मलयगिरि, देवेन्द्र पार्श्वदेवगणि, सागरचन्द्र, अमरचन्द्र, बालचन्द्र, धर्मघोष, देवभद्रगणि, पूर्णकलशगणि (१३०७ ई०) जिनप्रभा, जिनकुशल, भुवनतुंग, मेरुतुंगसूरि, मुनिसुंदर, हेमविमलसूरि, जिनचन्द्र (अकबर का समसामयिक), शांतिचन्द्र, यशोविजय, मेघविजय और वीरविजय।

आधुनिक युग में मोहनलाल, शांतिविजय और जयसिंह सूरि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार 'भद्रबाहु' (आदि आचार्य) से आधुनिक युग तक जैन तंत्रसाधकों की अखण्ड परंपरा मिलती है।

जैनमंत्रशास्त्र में कई प्रकार के ग्रन्थ हैं। अपर 'विद्यानुप्रवाद' की चर्चा हो चुकी है। इनके अतिरिक्त साधकों ने स्वतंत्र साधना-शास्त्रों का निर्माण किया है। 'पूर्वसाहित्य' (विद्यानुप्रवाद) के संक्षिप्त ग्रन्थ 'प्राभृत' कहलाते हैं, इनमें एक 'योनिप्राभृत' ग्रन्थ भी है। 'अंगविद्या' नामक ग्रन्थों में न्यास का वर्णन मिलता है। मंत्रों में 'परमेष्ठिमंत्र' पवित्रतम माना जाता है, यह 'गायत्री' के

समान सम्मानित है। 'निर्वाण कलिका' नामक ग्रन्थ का निर्माण प्रथम शताब्दी के आसपास हुआ। इसमें आचारों, मंत्रों, मूर्त्तिनिर्माण तथा देवी-देवताओं का वर्णन है।

'वज्रस्वामी द्वारा निर्मित (११४ वि० में मृत्यु) वर्द्धमानविद्याकल्प तथा भद्रगुप्ताचार्य (वज्रस्वामी का परवर्ती) के 'अनुभवसिद्धमंत्रद्वात्रिंशक' एवम् निर्वाणकलिका में सूरिमंत्रों का वर्णन है जिनका जप केवल आचार्य ही कर सकते हैं। सूरिमंत्रों के विषय में कहा गया है कि ये 'ऋषभदेव' के समय भी प्रचलित थे। महावीर स्वामी का शिष्य गौतम मंत्रसाधक था और ऋषभदेव का शिष्य तुंडरीक 'गणधर' भी मांत्रिक था। सम्भवतः 'परमेष्ठिमंत्र' वर्द्धमान-विद्या और सूरिमंत्रों का प्रारम्भिक रूप एक ही था, बाद में ये अलग-अलग रूप में प्रचलित हुए। मंत्रों में 'सरस्वती' के मंत्र बहुत अधिक हैं। मंत्रों की दृष्टि से जैनमत 'हादिमत' है क्योंकि बीजमंत्र 'ह' से प्रारम्भ होते हैं। 'पद्मावती देवी' का मंत्र है—'ह्रम्'। कोई भी मंत्र 'क' से प्रारम्भ नहीं होता।

मंत्र जिन देवताओं से सम्बद्ध हैं, इनमें मुख्य ये हैं—सरस्वती, अम्बिका, कुबेरा, पद्मावती, सिद्धायिका, इन्द्राणी, विधिप्रभा, अक्षुप्ता और चक्रेश्वरी। इनमें चक्रेश्वरी का सम्बंध परमेष्ठिमत्र से है। पद्मावती का सम्बंध पार्श्वनाथ से और सिद्धायिक महावीर से सम्बंद्ध देवी मानी जाती है। स्पष्टतः 'सरस्वती' अम्बिका, कुबेरा, इन्द्राणी और चक्रेश्वरी नाम हिन्दू परंपरा के हैं जिन्हें जैनियों ने स्वीकार कर लिया है।

मांत्रिकों में 'विद्याधर' और 'विद्यादेवी' का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इनका प्रचार ८वीं शताब्द के बाद अधिक हुआ। ऋषभदेव की 'नामी' और विनामी द्वारा सेवा से प्रसन्न होकर नामी और विनामी को गौरी, गन्धारी, रोहिणी और प्रजापति नामक विद्याएँ प्राप्त हुई थीं। ये विद्याधरों की अधिष्ठामी देवियाँ हैं। विद्याओं में 'महाज्वाला' प्रबल विद्या है। ये विद्याएँ सब पदार्थ दे सकती हैं। तांत्रिक षट्कर्म इन्हीं विद्याओं की उपासना से प्राप्त होते हैं। इन्ही विद्याओं में एक 'आथर्वणी' विद्या भी है जो स्पष्टतः अथर्ववेद से ली गई हैं। अन्य विद्याओं में पांकशासनी इन्द्रजाल उत्पन्न कर सकती है। मोहनकारा सम्मोहन के लिए, गर्भकरा गर्भधारण के लिए, दुर्भागकरा, शत्रु-नाश के लिए और सुभागकरा, समृद्धि के लिए सेवित होती हैं। इनके अतिरिक्त वैताली, अर्धवैताली अवस्वापिनी, तालोद्घाटिनी (जिसकी पूजा से बन्द ताले खुल जाते हैं!) आदि

विद्याएँ हैं। ये विद्याएँ शवर, द्रविड़ तथा कलिंग देशों से सम्बद्ध मानी गई हैं अर्थात् जैनसाधकों ने भी अनार्य देवी-देवताओं को स्वीकार कर 'सामाजिक सम्मिलन' में सहायता की है।

दिगम्बर जैनमत में ज्वालमालिनी और माहाज्वाला का महात्म्य अधिक है। इस मत के अनुसार विक्रम की छठी शताब्दी से मंत्रसिद्धाचार्यों का प्रभाव बढ़ा और यह मत इतिहास के भी अनुकूल पड़ता है। प्रथम सिद्ध पूज्यपाद हुए, तत्पश्चात् हेलाचार्य (९वीं शताब्दी) और उनके बाद इन्द्र नन्दी (९९६ विक्रमी)। इन आचार्यों के बाद मल्लिश्रेणिसूरि (११०० वि०) ने प्रसिद्ध 'भैरवपद्मावती' तंत्र लिखा और उनके बाद शुभचन्द्राचार्य ने 'ज्ञानार्णव' लिखा। 'ज्ञानार्णव' और हेमचन्द्र के योगशास्त्र में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता। नाथूराम प्रेमी के अनुसार हेमचन्द्र का योगशास्त्र ज्ञानार्णव का ही संक्षिप्त संस्करण मात्र है[1]। मल्लिश्रेणिसूरि ने 'भैरवपद्मावती कल्प' के अतिरिक्त 'सरस्वतीमंत्रकल्प' तथा 'ज्वालिनीकल्प' की भी रचना की है। इनके नाम से 'कामचण्डाली कल्प' भी मिलता है। मल्लिश्रेणि तांत्रिकों में बहुत सफल ग्रन्थकार माने जाते हैं।

इन मुख्य तंत्रों के अतिरिक्त काव्यों, पुराणों और कथाओं में भी अनेक मंत्रों, विद्याओं और सिद्धियों के विवरण मिलते हैं। विमल सूरि के (वि० ५३०) के 'पउमचरिउ' में ६१ विद्याओं का वर्णन है। 'पद्मपुराण' में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं हेमचन्द्र के 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित' में भी विद्याओं का वर्णन है।

विक्रम की १२वीं शताब्दी तक आते आते जैनतंत्रों और अन्य तंत्रों में आपातत: कोई अंतर प्रतीत नहीं होता जैसा कि भैरवपद्मावती कल्प के विवरण से प्रमाणित होता है। भैरवपद्मावती कल्प के प्रथम अध्याय में साधक की विशेषताएँ, द्वितीय में न्यास, तृतीय में षट्कर्म, चतुर्थ में मुद्रा, आसन जपप्रकार, समय, पंचपूजा, मूलमंत्र, चतुर्थ में यंत्र, पंचम में स्तम्भन, षष्ठ में स्त्रीवशीकरण, सप्तम में वशीकरण, अष्ठम में भविष्यकथन, नवम् में औषधि-वर्णन तथा दशम अध्याय गारुड़ी

(१) (अ) जैनसाहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३६५-६६

(ब) श्री झावेरी ने अपने 'कम्पैरेटिव एण्ड क्रिटीकल स्टडी ऑफ मंत्रशास्त्र' में ज्ञानार्णव को हेमचन्द्र के योगशास्त्र से परवर्ती प्रमाणित किया है, द्रष्टव्य पृष्ठ ३३९-३५०

विद्या का वर्णन है किन्तु इन 'कल्प' या तंत्रों के विपरीत 'योगशास्त्र' (हेमचन्द्र) और ज्ञानार्णव में योगसाधना का भी वर्णन मिलता है।

इन ग्रन्थों के मंत्रों का रूप भी अन्य तंत्रों जैसा ही है, उदाहरण के लिए 'सरस्वतीकल्प' का एक मंत्र द्रष्टव्य है—

ऊँ ह्रीं क्रौं क्लीं जम्भे मोहे अमुकं वशं कुरु कुरु वखट् उँ ओं क्री ह्रीं अम्बे अम्बाले अम्बिके यक्षिदेवि यम्ल्वर्ब्लें ह्सीब्लें ह्सौं ररर रां नित्यक्लिन्ने मदद्रवे मदनातुरे अमुकं आकर्षय आकर्षय घे घे संवौषट्।

जहाँ शैव-शाक्त-बौद्ध तंत्रों में गम्भीर साधना का वर्णन मिलता है, वहाँ जैन-तंत्रों में ऊपरी सादृश्य होने पर भी गहराई का अभाव है, केवल अभिचार का वर्णन अवश्य मिलता है और इस सन्दर्भ में वे अन्य तंत्रों की ही तरह हैं।

हेमचन्द्र के योगशास्त्र ध्यान-प्रक्रिया का अवश्य गंभीर वर्णन है। यहाँ पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत चार प्रकार के ध्यान बताये गए हैं। इनमें पदस्थ अर्थात् शब्दसाधना या मंत्रसाधना का ही जैनसाधकों में अधिक प्रचार है। पिण्डस्थस्थान ध्यान कुंडलिनीयोग में प्रचलित है, किन्तु जैनसाधकों में इसका अधिक प्रचार कभी नहीं हुआ। पदस्थ ध्यान में ही सहस्रनामों का उच्चारण आता है और इसलिए अनेक सहस्रनामों की रचना हुई है। किन्तु तीर्थंकरों को जो नाम दिये गए हैं, उन पर भी तांत्रिक प्रभाव मिलता है—मंत्रविन, मंत्रकृत, मंत्री, मंत्रमूर्त्ति निरन्तरः, महामंत्रो, महातंत्र इत्यादि।

हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में हठयोग का भी वर्णन किया है। हेमचन्द्र १२वीं शताब्दी के लेखक थे और उस समय गोरख सम्प्रदाय का सर्वव्यापक प्रभाव था।

श्री झावेरी के अनुसार बौद्धसिद्धों, शाक्तों आदि ने वामाचार का बहुत प्रचार कर दिया था। शंकराचार्य और गोरखपंथियों ने योग को स्वीकार करके भी 'वामाचार' का घोर विरोध किया। शंकर का मत 'समयमत' या 'समयाचार' कहलाया। 'समयाचार' में यौगिक साधना आंतरिक साधना है जो निवृत्तिप्रधान है जबकि 'कौलाचार' बाह्य द्रव्यों की सहायता पर आधारित है, अतः 'प्रवृत्ति' या भोग 'कौलाचार' में स्वीकृत है। जैनमत भी 'समयाचार मत' कहा जा सकता है। समयमत के अनुसार 'सहस्रारचक्र' का ध्यान किया जाता है, अन्य निम्न चक्रों में ध्यान केन्द्रित नहीं किया जाता, किन्तु हेमचन्द्र के पूर्व शायद सर्वप्रथम 'बप्पाभट्टिसूरि'

ने कुंडलिनी योग की चर्चा की है । 'बप्पाभट्टसूरि' ने प्रसिद्ध 'सरस्वती मंत्र' की रचना की थी । इस मंत्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि बप्पाभट्ट सूरि कुंडलिनीयोग से परिचित थे ।[1] उन्होंने 'शब्द ब्रह्म' और 'परम ब्रह्म' की एकता पर भी बल दिया है । इनके अतिरिक्त 'मुनि सुन्दर सूरि' (१४३६-१५०३ वि०) ने भी कुंडलिनी योग की चर्चा की है और 'सहस्रारचक्र' में ध्यान केन्द्रित करने पर बल दिया है ।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि जैनतंत्रों में मुख्यधारा 'मंत्रसाधना' की धारा है और 'मंत्रसाधना' के क्षेत्र में अन्य तंत्रों के साथ जैन तंत्रों का पूर्ण सादृश्य है । 'पद्मावती' देवी के सहस्रनाम को देखने से पता चलता है कि जैनसाधक सभी देवियों की एकता स्वीकार करते थे । 'पद्मावती' को 'लक्ष्मी', 'महालक्ष्मी', 'कमला', श्रीरूपा, रमा, माहेश्वरी, महादेवी, शिवा, सती, चण्डी, दुर्गा, भुवनेश्वरी, सरस्वती, भारती, साध्वी, भगवती, खेचरी, कामधेनु, काली, बाला, कालिका, वज्रा वेदमाता, वीरमाता, जिनमाता, जिनेश्वरी, योगिनी, योगेश्वरी, नागिनी, नागकन्या, कुंडलिनी, षट्चक्रभेदविख्याता, लीलावती, त्रिपुरा, सुन्दरी, त्रिपुरा सुंदरी, भैरवी, भीमा, तारा, त्वरिता, कामसाधिनी, कात्यायनी, चिन्तामणि, जया, विजया, जयन्ती, ओंकर रूपा, हृङ्काररूपा आदि नाम दिये गए हैं। इससे शाक्तमत और जैनमंत्रसाधना की मूलभूत एकता सिद्ध होती हैं, किन्तु शाक्तों और बौद्धों के वामाचार को जैनमत में स्वीकार नहीं किया गया, यह जैनमत की सबसे प्रमुख विशेषता है ।

इसके अतिरिक्त उक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि जैन योगसाधना में 'समयमत' ही स्वीकृत हुआ है । कुंडलिनीयोग के साधक बहुत कम हुए हैं ।

तीसरी विशेषता यह है कि मूलतः जैनमत 'आगम मत' होने के कारण जैनसाधक पाखण्ड और बाह्याचार के वैसे ही विरोधी हुए हैं जैसे कि बौद्ध और अन्य तांत्रिक । इस प्रवृत्ति का प्रभाव 'जैनकाव्य' पर भी पड़ा है, जिसने आगे चलकर हिन्दी के 'संत साहित्य' को भी प्रभावित किया है ।[1] उदाहरणतः आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती जैनकवि मुनि रामसिंह ने 'पाहुड़ दोहा' या 'प्राभृत-दोहा' की रचना की थी । 'प्राभृत' शब्द से जैन मंत्रसाधना का ही बोध होता है । 'पाहुड़दोहा' से यह स्पष्ट है कि रामसिंह की वाणी योग-परंपरा की वाणी है जो संतकवियों से सादृश्य रखती हैं—

---

(१) झावेरी, पृष्ठ ३२०

जाति प्रथा का खंडन : कासु समाहि करउं को अंचउं
छोपु अछोपु मणिवि को वंचउं
हल सहि कलह केण सम्माणउं
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउं

अर्थात् समाधि किसकी लगाऊँ ? किसे पूजूँ छूत अछूत कहकर किसे छोड़ूँ ! भला, किसके साथ कलह करूँ ? जहाँ भी देखता हूँ,सर्वत्र अपनी आत्मा दिखायी देती है।

अंतरावलोकन : देहादेवलि जो वसइं सत्तिहिं सहियउ देउ।
को तहिं जोइय सत्तिसिह सिग्घु गवेरहि भेउ।

अर्थात् हे योगी, इस देह के देवालय में शक्तियों के साथ जो देव रह रहा है, वह शक्तिसंयुक्त शिव कौन है ? शीघ्र खोज इस भेद को।

बाह्याचार खंडन : ताम कुतित्थइं परिभमइं धुत्तिम ताम करंति।
गुरुह पसाएं जाम ण वि देहहं देउ मुणंति।

अर्थात् कुतीर्थों का परिभ्रमण तभी तक किया जाता है और धूर्तता भी तभी तक चलती है जबतक कि गुरु के अनुग्रह से देह में स्थित देव का परिज्ञान नहीं हो जाता।

ब्राह्मणवाद का विरोध : पंडिय पंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गथे तुट्ठो सि परमायु ण जाणहि मूढ़ो सि।

अर्थात् पंडित, कणों को छोड़ तूने भूसी को ही कूटा है। ग्रन्थ और उसके अर्थ में तुझे संतोष है, किन्तु मूढ़, परमार्थ से तेरा परिचय नहीं।

पाखण्डखंडन : मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ, संसारहं खंडणु ति किअउ।

अर्थात् हे मुंडितों में श्रेष्ठ, सिर जो अपना तूने मुँड़ा लिया, पर चित्त को नहीं मुँड़ाया, संसार का खण्डन चित्त को मुँड़ाने वाला ही कर सकता है।

कुंडलिनीयोग की स्वीकृति : वामिय किया अरु दाहिणय मज्झइं वहइ णिराम।
तहिं गामड्ड जु जोगवइ अवर बसावइ गाम।

(१) संतसुधासार-वियोगी हरि और सत काव्य-परशुराम चतुर्वेदी

अर्थात् बाईं ओर ग्राम बसाया और दाहिनी ओर भी ग्राम बसाया, किन्तु मध्य को तूने सूना ही रखा अर्थात् इड़ा पिंगला नाड़ियों के बीच सुषुम्ना में अपने चित्त का निरोध नहीं किया।

मुनि रामसिंह की तरह मुनि देवसेन भी मर्मी संतकवि थे। जैन योगसाधना का इनपर भी प्रभाव दिखायी पड़ता है, किन्तु ये अधिक संस्कारी जैन प्रतीत होते हैं। इनकी रचना 'सावयधम्म दोहा' है—

अर्थात् श्रावकधर्म दोहा जो सामान्य गृहस्थों के लिए लिखे गए हैं। देवसेन भी हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती दार्शनिक और कवि थे।

जातिवाद का विरोध : एहुधम्म जो आयरइ वंभणु सुद्द कि कोइ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरमणि होइ।

अर्थात् इस धर्म का जो भी आचरण करता है, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वही श्रावक है, श्रावक के सिर पर क्या कोई मणि चिपकी रहती है ?

मुनि देवसेन ने अधिकांशतः इन्द्रियसंयम का उपदेश दिया है जो जैनसाधना का मूलाधार है। इन रचनाओं के स्वरूप से ही स्पष्ट है कि संतपरंपरा के कवियों को इन्होंने प्रभावित किया है।

चूँकि जैन मंत्रसाधना में रागसाधना की स्वीकृति नहीं है, अतः वैष्णवकाव्य को इससे प्रेरणा नहीं मिली। वैष्णवकाव्य शाक्तपरंपरा से अधिक प्रभावित हुआ है जो पुराणों और विशेषकर श्रीमद्भागवत पुराण के माध्यम से वैष्णवों तक पहुँचा है।

हिन्दी के संत-वैष्णव काव्य की पृष्ठभूमि में जो विराट तांत्रिकधारा दिखायी पड़ती है, उसमें जैन मंत्रसाधना और जैन योगसाधना ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वामाचार के विरोध में शंकराचार्य और गोरखनाथ की तरह जैनसाधकों का कार्य भी उल्लेखनीय है।[1] अपनी समन्वयप्रिय प्रवृत्ति के कारण जैन मंत्रसाधना को विशिष्ट रूप देकर भी देवी-देवताओं, साधना और आचार की मूल भूत एकता को जैनसाधकों ने विस्मृत नहीं किया। तांत्रिकों और पौराणिकों द्वारा व्यापक 'अंतर्भुक्ति' के ऐतिहासिक कार्य में जैनतांत्रिकों का कार्य भी प्रशंसनीय है। संस्कारी जैनमतावलम्बी चैत्यवासियों, यतियों, आदि के कार्य को केवल

---

(१) उत्तरी भारत की संत-परंपरा-भूमिका भाग-परशुराम चतुर्वेदी

शुद्धाचार की दृष्टि से देखने के कारण उनका महत्त्व नहीं समझ पाता। किन्तु मध्यकालीन संतों और वैष्णवों में जो 'एकता' और अविरोध पर बल देने की प्रवृत्ति है, पाखण्ड और जातिगत विषमता के विरुद्ध जो आक्रोश है, विविधता के भीतर 'एक्य अनुसंधान' का जो स्वभाव है, भक्ति और उपासना के प्रति जो अनन्यता है, मनोवृत्ति को शुद्ध करने का जो भाव है और साथ ही साधना के द्वारा प्रकृत्ति पर विजय करने की जो अभिलाषा है, उसके निर्माण में जैन तांत्रिकसाधना का भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में योगदान स्वीकार करना चाहिए। लेकिन यह भी स्मरणीय है कि मध्यकालीन हिन्दी काव्य पर जैनसाधना का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है।


साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद


साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

